सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ साहित्य रत्नमाला का ५१ वाँ रत्न

उत्तराध्ययन सूत्र

(अन्वयार्थ युक्त)

भाग - ३

(अध्ययन २९ से ३६ तक)

अनुवादक

पं० श्री घेवरचन्दजी बांठिया 'वीरपुत्र'
न्यायतीर्थ, व्याकरणतीर्थ, सिद्धान्त शास्त्री

प्रकाशक

श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन
संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर
शाखा-नेहरू गेट बाहर-३०५ ९०१
©: (०१४६२) ५१२१६, २०६११

द्रव्य सहायक

सुश्राविका श्रीमती मंगलाबहन जशवंतलाल भाई शाह, मुम्बई

प्राप्ति स्थान

१. श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर (राज.)
२. शाखा - श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, ब्यावर
३. महाराष्ट्र शाखा - माणके कंपाउंड, दूसरी मंजिल
आंबेडकर पुतले के बाजू में, मनमाड़ (नासिक) ©: २५२५१
४. कर्नाटक शाखा - नं० १६/१ जुम्मामस्जिद रोड़, देवंगा मार्केट के पीछे,
बैंगलोर- २ ©: २२१७५५०
५. श्री जशवन्तभाई शाह एदुन बिल्डिंग पहली धोबी तलावलेन
पो. बॉ. नं. २२१७, बम्बई-२
६. श्रीमान् हस्तीमलजी किशनलालजी जैन ६७ बालाजीपेठ, जलगांव-१
७. श्री एच. आर. डोशी जी-३९ बस्ती नारनौल अजमेरी गेट, दिल्ली-६
८. श्री अशोकजी एस. छाजेड़, १२१ महावीर क्लॉथ मार्केट, अहमदाबाद
९. श्री सुधर्म सेवा समिति भगवान् महावीर मार्ग, बुलडाणा
१०. श्री श्रुतज्ञान स्वाध्याय समिति सांगानेरी गेट, भीलवाड़ा
११. श्री सुधर्म जैन आराधना भवन २४ ग्रीन पार्क कॉलोनी
साउथ तुकोगंज, इन्दौर

मूल्य : १०-००

छठी आवृत्ति
२०००

वीर संवत् २५२७
विक्रम संवत् २०५७
फरवरी २००१

मुद्रक :- स्वास्तिक प्रिन्टर्स प्रेम भवन हाथी भाटा, अजमेर

निवेदन

उत्तराध्ययन सूत्र, श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की अंतिम देशना एवं बत्तीस आगमों में मूल सूत्र के रूप में प्रसिद्ध है । इस सूत्र में उत्तम साधकों के आचार विचार एवं उनके जीवन से संबंधित विशद वर्णन है जो प्रत्येक मुमुक्षु आत्मा के लिये अध्ययन एवं मनन करने योग्य है । चतुर्विध संघ में उत्तराध्ययन सूत्र के पठन पाठन व स्वाध्याय का विशेष प्रचलन है । इसके कई अध्ययन तो ऐसे हैं जिनका स्वाध्याय नित्य कई साधकों द्वारा किया जाता है ।

इस सूत्र में मूल गाथाओं के साथ-साथ इसका अन्वयार्थ भी दिया गया है ताकि स्वाध्यायकर्त्ता को मूल पाठ के साथ-साथ इसका अर्थ और रहस्य भी ध्यान में आ सके । इसी को मध्य नजर में रखते हुए इसका अन्वयार्थ सहित अनुवाद समाज के जाने माने विद्वान् पं. र. श्री घेवरचन्द जी बांठिया न्यायतीर्थ व्याकरण तीर्थ, सिद्धान्त शास्त्री (स्वर्गीय पूज्य पंडित रत्न श्री वीरपुत्र जी म. सा.) ने अपने गृहस्थ जीवन में किया । इसे विशेष उपयोगी समझ कर संघ ने इसका प्रकाशन किया । समाज में इसकी लोक प्रियता विशेष हुई, परिणाम स्वरूप पांच आवृत्तियाँ पूर्व में संघ द्वारा प्रकाशित हो चुकी है । समाज में

इसकी मांग निरन्तर बनी रहने के कारण पुनः यह संशोधित छठी आवृत्ति प्रकाशित की जा रही है।

पूर्ववत् इस छठी आवृत्ति का प्रकाशन पाठकों की सुविधा के लिये तीन खण्डों (भागों) में किया जा रहा है जिनमें इस प्रकार अध्ययन रखे हैं ताकि पाठकों को स्वाध्याय एवं पठन पाठन में अनुकूलता रहे ।

प्रथम भाग में १ से १४ अध्ययन तक

दूसरे भाग में १५ से २८ अध्ययन तक

तीसरे भाग में २९ से ३६ अध्ययन तक

दृढ़धर्मी प्रियधर्मी श्राविका रत्न श्रीमती मंगला बहन जशवंतलाल भाई शाह, बम्बई के आर्थिक सहयोग की वजह से कागज एवं प्रकाशन सामग्री के मूल्य में अप्रत्याशित वृद्धि के बावजूद भी इस आवृत्ति के मूल्य में कोई वृद्धि नहीं की गई है। समाज एवं पाठक वर्ग इस आर्थिक सहयोग के लिए शाह दम्पत्ति का हार्दिक आभारी है।

छठी आवृत्ति अपने नये परिवेश में पाठकों के लिये उपयोगी सिद्ध होगी, इसी शुभ भावना के साथ ।

ब्यावर (राज.) — **संघ सेवक**

दिनांक : १५ फरवरी २००१ — **नेमीचन्द बांठिया**

श्री. अ. भा. सु. जैन सं. र. संघ ब्यावर

अस्वाध्याय

निम्नलिखित चौंतीस असज्झाय के कारणों को टाल कर स्वाध्याय करना चाहिये ।

आकाश सम्बन्धी १० अस्वाध्याय	**काल मर्यादा**
१. बड़ा तारा टूटे तो	एक प्रहर
२. उदय अस्त के समय लाल दिशा	जब तक रहे
३. अकाल में मेघ गर्जना हो तो	दो प्रहर
४. अकाल में बिजली चमके तो	एक प्रहर
५. बिजली कड़के तो	आठ प्रहर
६. शुक्ल पक्ष की १-२-३ की रात	प्रहर रात्रि तंक
७. आकाश में यक्ष का चिह्न हो	जब तक दिखाई दे
८-९. काली और सफेद धूंअर	जब तक रहे
१०. आकाश मण्डल धूलि से आच्छादित हो	जब तक रहे

नोट – बिजली कडकने की अस्वाध्याय कुछ सम्प्रदाय दो प्रहर का रखते हैं किन्तु ग्रन्थों में ८ प्रहर का लिखा है अतः ग्रन्थानुसार आठ प्रहर क़ा असज्झाय रखना उचित है ।

नक्षत्र २८ होते हैं उनमें से आर्द्रा नक्षत्र से स्वाति नक्षत्र तक नौ नक्षत्र वर्षा के गिने गये हैं। इनसे होने वाली मेघ की गर्जना और बिजली का चमकना स्वाभाविक है। अतः इसका अस्वाध्याय नहीं गिना गया है।

औदारिक सम्बन्धी १० अस्वाध्याय

११-१३ हड्डी, रक्त और मांस, ये तिर्यंच के ६० हाथ के भीतर हो तो तीन प्रहर । मनुष्य के हो

****

तो १०० हाथ के भीतर एक दिन रात । मनुष्य की हड्डी यदि जली या धुली न हो तो १२ वर्ष तक ।

१४. अशुचि की दुर्गंध आवे या दिखाई दे — तब तक

१५. श्मशान भूमि — सौ हाथ से कम दूर हो तो

१६. चन्द्र ग्रहण — खंड ग्रहण में ८ प्रहर, पूर्ण हो तो १२ प्रहर

१७. सूर्य ग्रहण — खंड ग्रहण में १२ प्रहर, पूर्ण हो तो १६ प्रहर

१८. राजा का अवसान होने पर, — जब तक नया राजा घोषित न हो

१९. युद्ध स्थान के निकट — जब तक युद्ध चले

२०. उपाश्रय में पंचेन्द्रिय का शव पड़ा हो, — जब तक पड़ा रहे

२१-२५. आषाढ़, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक और चैत्र की पूर्णिमा — दिन रात

२६-३०. इन पूर्णिमाओं के बाद की प्रतिपदा — दिन रात

३१-३४. प्रातः मध्याह्न, संध्या और अर्द्ध रात्रि — १-१ मुहूर्त्त

उपरोक्त अस्वाध्याय को टाल कर स्वाध्याय करना चाहिए। खुले मुँह नहीं बोलना तथा दीपक के उजाले में नहीं वांचना चाहिए ।

नोट - चन्द्र ग्रहण और सूर्य ग्रहण जब प्रारम्भ हो उस समय से अस्वाध्याय गिनना चाहिये, पहले नहीं । चन्द्र और सूर्य ज्योतिषी देव हैं । इसलिए इनका अस्वाध्याय आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय में होना चाहिये । परन्तु इनके विमान रत्नों के बने हुए हैं । रत्न पृथ्वीकाय के हैं । पृथ्वीकाय का शरीर औदारिक है इसलिये इनको औदारिक अस्वाध्याय में लिया गया है । (ठाणांग सूत्र १०)

संघ के प्रकाशन

क्रं. नाम	मूल्य
१. अंगपविट्ठसुत्ताणि भाग १	१४-००
२. अंगपविट्ठसुत्ताणि भाग २	अप्राप्य
३. अंगपविट्ठसुत्ताणि भाग ३	अप्राप्य
४. अंगपविट्ठसुत्ताणि संयुक्त	अप्राप्य
५. अनंगपविट्ठसुत्ताणि भाग १	३५-००
६. अनंगपविट्ठसुत्ताणि भाग २	४०-००
७. अनंगपविट्ठसुत्ताणि संयुक्त	८०-००
८. अंतगडदसा सूत्र	८-००
९. अनुत्तरोववाइय सूत्र	३-५०
१०. आचारांग सूत्र भाग १	२५-००
११. आचारांग सूत्र भाग २	२०-००
१२. आयारो	८-००
१३. आवश्यक सूत्र (सार्थ)	७-००
१४. उत्तरज्झयणाणि (गुटका)	६-००
१५. उत्तराध्ययन सूत्र	३०-००
१६. उपासक दशांग सूत्र	१५-००
१७. उववाइय सुत्त	२०-००
१८. दसवेयालिय सुत्तं (गुटका)	३-००
१९. दशवैकालिक सूत्र	१०-००
२०. णंदी सुत्तं	३-००
२१. नन्दी सूत्र	२०-००
२२. प्रश्नव्याकरण सूत्र	२५-००
२३-२९. भगवती सूत्र भाग १-७	३००-००
३०-३१. स्थानाङ्ग सूत्र भाग १-२	४०-००
३२. समवायांग सूत्र	२५-००
३३. सुखविपाक सूत्र	२-००
३४. सूयगडो	६-००
३५. सूयगडांग सूत्र भाग १	२०-००
३६. सूयगडांग सूत्र भाग २	२०-००
३७. मोक्ष मार्ग ग्रन्थ भाग १	३०-००
३८. मोक्ष मार्ग ग्रन्थ भाग २	३०-००
३९-४१.तीर्थंकरचरित्र भा० १,२,३	१३५-००
४२. तीर्थंकर पद पाप्ति के उपाय	५-००
४३. सम्यक्त्व विमर्श	१०-००
४४. आत्म साधना संग्रह	२०-००
४५. आत्म शुद्धि का मूल तत्त्वत्रयी	१५-००
४६. नव तत्त्वों का स्वरूप	१३-००
४७. सामण्ण सद्धिधम्मो	अप्राप्य
४८. अगार-धर्म	१०-००
४९-५१. समर्थ समाधान भाग १,२,३	४७-००
५२. तत्त्व-पृच्छा	१०-००
५३. तेतली-पुत्र	३०-००

५४.	शिविर व्याख्यान	१०-००
५५.	जैन स्वाध्याय माला	१५-००
५६.	स्वाध्याय सुधा	५-००
५७.	आनुपूर्वी	१-००
५८.	भक्तामर स्तोत्र	१-५०
५९.	जैन स्तुति	६-००
६०.	मंगल प्रभातिका	१-२५
६१.	सिद्ध स्तुति	३-००
६२.	संसार तरणिका	५-००
६३.	आलोचना पंचक	२-००
६४.	विनयचन्द चौबीसी	१-००
६५.	भवनाशिनी भावना	२-००
६६.	स्तवन तरंगिणी	५-००
६७.	सुधर्म स्तवन संग्रह भाग १	१५-००
६८.	सुधर्म स्तवन संग्रह भाग २	१५-००
६९.	सुधर्म चरित्र संग्रह	१०-००
७०.	सामायिक सूत्र	१-००
७१.	सार्थ सामायिक सूत्र	२-००
७२.	प्रतिक्रमण सूत्र	२-००
७३.	जैन सिद्धान्त परिचय	२-००
७४.	जैन सिद्धान्त प्रवेशिका	२-००
७५.	जैन सिद्धान्त प्रथमा	३-००
७६.	जैन सिद्धान्त कोविद	३-००
७७.	जैन सिद्धान्त प्रवीण	४-००
७८.	१०२ बोल का बासठिया	०-५०
७९.	तीर्थंकरों का लेखा	१-००
८०.	जीव-धड़ा	१-००
८१.	लघु-दण्डक	१-००
८२.	महा-दण्डक	१-००
८३.	तेतीस-बोल	१-००
८४.	गुणस्थान स्वरूप	१-००
८५.	गति-आगति	१-००
८६.	कर्म-प्रकृति	१-००
८७.	समिति-गुप्ति	१-५०
८८.	समकित के ६७ बोल	१-५०
८९.	२५ बोल	२-००
९०.	नव-तत्त्व	६-००
९१.	जैन सिद्धान्त थोक संग्रह भाग १	८-००
९२.	जैन सिद्धान्त थोक संग्रह भाग २	७-००
९३.	जैन सिद्धान्त थोक संग्रह भाग ३	१०-००
९४.	जैन सिद्धान्त थोक संग्रह संयुक्त	१५-००
९५.	पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भाग १	८-००
९६.	पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भाग २	६-००
९७.	पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भाग ३	६-००
९८.	**Saarth Saamaayik Sootra**	**10-00**

सम्यक्त्व पराक्रम उनतीसवाँ अध्ययन

अट्ठाईसवें अध्ययन में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चार को मुक्ति का कारण कहा गया है । सो ये चारों ही संवेग से लेकर अकर्मता तक तिहत्तर बोल वाले होते हैं । सो इन्हीं बोलों का वर्णन इस अध्ययन में किया गया है ।

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं- इह खलु सम्मत्तपरक्कमे णामं अज्झयणे समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइए, जं सम्मं सद्दहित्ता पत्तइत्ता रोयइत्ता फासइत्ता पालइत्ता तीरित्ता कित्तइत्ता सोहइत्ता आराहइत्ता आणाए अणुपालइत्ता बहवे जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति ।

– श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि – **आउसं** – हे आयुष्मन् जम्बू ! **तेणं** – उन, **भगवया**– भगवन्तों ने, **एवं** – इस प्रकार, **अक्खायं** – कहा था सो, **मे** – मैंने, **सुयं** – सुना है, **इह** – इस जिनशासन में, **खलु** – निश्चय ही, **कासवेणं** – काश्यप गोत्रीय, **समणेणं** – श्रमण, **भगवया** – भगवान्, **महावीरेणं** – महावीर स्वामी ने, **सम्मत्तपरक्कमे** – सम्यक्त्व पराक्रम, **णामं** – नामक, **अज्झयणे (अज्झयणं)** – अध्ययन, **पवेइए (पवेइयं)** – प्रतिपादित किया है, **जं** – जिस पर, **सम्मं** – सम्यक् प्रकार से, **सद्दहित्ता** – श्रद्धा कर के, **पत्तइत्ता** – प्रतीति कर के, **रोयइत्ता** – रुचि कर के, **फासइत्ता** – स्पर्श (ग्रहण) कर के,



पालइत्ता – पालन कर के, **तीरित्ता** – तिर कर–अध्ययन अध्यापन आदि द्वारा उसको समाप्त करके, **कित्तइत्ता** – कीर्तन कर के, **सोहइत्ता** – शुद्ध कर के, **आराहइत्ता** – आराधन कर के, **आणाए**– आज्ञानुसार, **अणुपालइत्ता** – पालन कर के, **बहवे** – बहुत से, **जीवा**– जीव, **सिज्झंति** – सिद्ध होते हैं, **बुज्झंति** – बुद्ध होते हैं, **मुच्चंति** – सकल कर्मों से मुक्त होते हैं, **परिणिव्वायंति** – कर्म रूपी दावानल से छूट कर शान्त होते हैं और, **सव्वदुक्खाणं** – सभी प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःखों का, **अंतं करेंति** – अन्त करते हैं ।

विवेचन – समान शब्दों के व्युत्पत्तिजन्य भिन्न अर्थ –

श्रद्धा करना – केवली भगवान् के वचन सत्य हैं ऐसा विश्वास करना ।

प्रतीति करना – हेतु युक्ति आदि के द्वारा विशेष निश्चय करना ।

रुचि करना – भगवान् के वचनों को मैं भी जीवन में उतारूं ऐसी अभिलाषा करना ।

स्पर्श करना – मन वचन काया से स्वीकार करना । इसी प्रकार **पालन करना, तीर (किनारे) तक पहुँचना** ।

भगवान् के वचनों को मैंने जीवन में उतारा यह अच्छा किया इस प्रकार **कीर्तन (प्रशंसा) करना** ।

शोधन करना – अतिचारों की शुद्धि करना ।

आराधन करना – सूत्रोक्त विधि से पालन करना ।

अनुपालन – तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा के अनुसार पालन करना ।

सिद्ध्यन्ति – संसार के सारे कार्य सिद्ध हो गये, कोई कार्य करना बाकी नहीं रहा ।



बुद्ध्यन्ते – केवल ज्ञान, केवल दर्शन के द्वारा संपूर्ण लोकालोक को जानते और देखते हैं ।

मुच्यन्ते – आठों कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं ।

परिनिर्वान्ति – सम्पूर्ण कर्म रूपी अग्नि के सर्वथा बुझ जाने के कारण शीतलीभूत बन जाते हैं । अतएव शारीरिक और मानसिक दुःखों का सर्वथा अन्त कर देनें के कारण एवं सिद्धि गति नामक स्थान की प्राप्ति से अव्याबाध सुख के भोक्ता बन जाते हैं ।

तस्स णं अयमट्ठे एवमाहिज्जइ, तं जहा- १. संवेगे २. णिव्वेए ३. धम्मसद्धा ४. गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया ५. आलोयणया ६. णिंदणया ७. गरिहणया ८. सामाइए ९. चउवीसत्थए १०. वंदणए ११. पडिक्कमणे १२. काउस्सग्गे १३. पच्चक्खाणे १४. थवथुइमंगले १५. कालपडिलेहणया १६. पायच्छित्तकरणे १७. खमावणया १८. सज्झाए १९. वायणया २०. पडिपुच्छणया २१. परियट्टणया २२. अणुप्पेहा २३. धम्मकहा २४. सुयस्स आराहणया २५. एगग्ग-मणसण्णिवेसणया २६. संजमे २७. तवे २८. वोदाणे २९. सुहसाए ३०. अप्पडिबद्धया ३१. विवित्त-सयणासणसेवणया ३२. विणियट्टणया ३३. संभोग-पच्चक्खाणे ३४. उवहिपच्चक्खाणे ३५. आहार-पच्चक्खाणे ३६. कसायपच्चक्खाणे ३७. जोग-पच्चक्खाणे ३८. सरीरपच्चक्खाणे ३९. सहाय-पच्चक्खाणे ४०. भत्तपच्चक्खाणे ४१. सब्भाव-

☆☆☆

पच्चक्खाणे ४२. पडिरूवणया ४३. वेयावच्चे ४४. सव्वगुणसंपण्णया ४५. वीयरागया ४६. खंती ४७. मुत्ती ४८. अज्जवे ४९. मद्दवे ५०. भावसच्चे ५१. करणसच्चे ५२. जोगसच्चे ५३. मणगुत्तया ५४. वयगुत्तया ५५. कायगुत्तया ५६. मणसमाधारणया ५७. वयसमाधारणया ५८. कायसमाधारणया ५९. णाणसंपण्णया ६०. दंसणसंपण्णया ६१. चरित्त-संपण्णया ६२. सोइंदियणिग्गहे ६३. चक्खिंदियणिग्गहे ६४. घाणिंदियणिग्गहे ६५. जिब्भिंदियणिग्गहे ६६. फासिंदियणिग्गहे ६७. कोहविजए ६८. माणविजए ६९. मायाविजए ७०. लोभविजए ७१. पेज्जदोस-मिच्छादंसणविजए ७२. सेलेसी ७३. अकम्मया ॥ २ ॥

- **तस्स** - उस सम्यक्त्व पराक्रम नामक अध्ययन का, **अयं** - यह, **अट्ठे** - अर्थ है जो, **एवं** - इस प्रकार, **आहिज्जइ** - कहा जाता है, **तंजहा** - यथा- १ **संवेगे** - संवेग, २ **णिव्वेए** - निर्वेद, ३ **धम्मसद्धा** - धर्म श्रद्धा, ४ **गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया** - गुरु और साधर्मियों की सेवा शुश्रूषा, ५ **आलोयणया** - आलोचना, ६ **णिंदणया** - निन्दा, ७ **गरिहणया** - गर्हा, ८ **सामाइए** - सामायिक, ९ **चउवीसत्थए** - चतुर्विंशति-स्तव (चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति) १० **वंदणए** - वन्दना, ११ **पडिक्कमणे** - प्रतिक्रमण, १२ **काउस्सग्गे** - कायोत्सर्ग, १३ **पच्चक्खाणे** - प्रत्याख्यान, १४ **थवथुइमंगले** - स्तव स्तुतिमंगल (गुणीजनों की स्तुति) १५ **कालपडिलेहणया** - काल प्रतिलेखनता, १६ **पायच्छित्त-**

☆☆

करणे - प्रायश्चित्तकरण, **१७ खमावणया** - क्षमापना, **१८ सज्झाए** - स्वाध्याय, **१९ वायणया** - वाचना, **२० पडिपुच्छणया** - प्रतिपृच्छना (प्रश्नोत्तर) **२१ परियट्टणया** - परिवर्तना, **२२ अणुप्पेहा** - अनुप्रेक्षा, **२३ धम्मकहा** - धर्मकथा, **२४ सुयस्स आराहणया**- श्रुत की आराधना, **२५ एगग्गमणसण्णिवेसणया** - एकाग्र मन सन्निवेशनता (मन की एकाग्रता) **२६ संजमे** - संयम, **२७ तवे** - तप, **२८ वोदाणे** -व्यवदान (कर्मों की निर्जरा) **२९ सुहसाए** - सुखशात (वैषयिक सुखों से निवृत्ति) **३० अप्पडिबद्धया** - अप्रतिबद्धता, **३१ विवित्तसयणासण सेवणया** - विविक्त शय्या आसन का सेवन, **३२ विणियट्टणया (विणिवट्टणया)** - विनिवर्तना (पापकर्मों से निवृत्त होना) **३३ संभोगपच्चक्खाणे** - संभोग प्रत्याख्यान, **३४ उवहिपच्चक्खाणे**- उपधि प्रत्याख्यान, **३५ आहार पच्चक्खाणे** - आहार प्रत्याख्यान, **३६ कसाय पच्चक्खाणे** - कषाय प्रत्याख्यान, **३७ जोगपच्चक्खाणे** - योग प्रत्याख्यान, **३८ सरीर पच्चक्खाणे** - शरीर प्रत्याख्यान, **३९ सहाय पच्चक्खाणे** - सहाय-प्रत्याख्यान, **४० भत्त पच्चक्खाणे** - भक्त-प्रत्याख्यान, **४१ सब्भाव पच्चक्खाणे** - सद्भाव प्रत्याख्यान, **४२ पडिरूवणया** - प्रतिरूपता (मन वचन काया की एकता) **४३ वेयावच्चे** - वैयावृत्य, **४४ सव्वगुणसंपण्णया** - सर्वगुण सम्पन्नता, **४५ वीयरागया** - वीतरागता, **४६ खंती** - क्षमा, **४७ मुत्ती** - मुक्ति (निर्लोभता) **४८ अज्जवे**-आर्जव (सरलता) **४८ मद्दवे** - मार्दव, **५० भावसच्चे** - भाव सत्य, **५१ करणसच्चे** - करण सत्य, **५२ जोगसच्चे** - योग सत्य, **५३ मणगुत्तया** - मनोगुप्तता (मन गुप्ति) **५४ वयगुत्तया** - वागगुप्तता (वचन गुप्ति) ५५

कायगुत्तया- कायगुप्तता (काय गुप्ति) ५६ **मण समाधारणया**- मनः समाधारणता, ५७ **वयसमाधारणया**- वाक्(वचन) समाधारणता, ५८ **कायसमाधारणया**-काय-समाधारणता, ५९ **णाणसंपण्णया** - ज्ञान-सम्पन्नता, ६० **दंसणसंपण्णया** - दर्शन सम्पन्नता, ६१ **चरित्तसंपण्णया** - चारित्र-सम्पन्नता, ६२ **सोइंदिय-णिग्गहे** - श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह, ६३ **चक्खिंदिय णिग्गहे** - चक्षुइन्द्रिय निग्रह, ६४ **घाणिंदियणिग्गहे** - घ्राणेन्द्रिय निग्रह, ६५ **जिब्भिंदिय-णिग्गहे** - जिह्वा इन्द्रिय निग्रह, ६६ **फासिंदियणिग्गहे** - स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह, ६७ **कोह-विजए** - क्रोध विजय, ६८ **माण विजए** - मान विजय, ६९ **माया विजए**- माया विजय, ७० **लोभ विजए** - लोभ विजय, ७१ **पेज्जदोसमिच्छादंसण विजए** - प्रेमद्वेष-मिथ्यादर्शन विजय-प्रेम (राग) द्वेष तथा मिथ्यादर्शन का विजय, ७२ **सेलेसी** - शैलेशी अवस्था, ७३ **अकम्मया** - अकर्मता (कर्मरहित अवस्था)।

१-संवेगेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न- **भंते** - हे भगवन् ! **संवेगेणं** - संवेग भाव से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ, अणुत्तराए धम्मसद्धाए संवेगं हव्वमागच्छइ, अणंताणुबंधी कोह-माण-माया-लोभे खवेइ, णवं च कम्मं ण बंधइ, तप्पच्चइयं च मिच्छत्तविसोहिं काऊण दंसणाराहए भवइ, दंसणविसोहिएणं विसुद्धाए अत्थेगइये जीवे तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिणिव्वायइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ,



विसोहिए णं विसुद्धाए तच्चं पुणो भवग्गहणं णाइक्कमइ ॥ १॥

– उत्तर– **संवेगेणं** – संवेग (मोक्ष की अभिलाषा) से, **अणुत्तरं** – अणुत्तर–उत्कट, **धम्मसद्धं** – धर्मश्रद्धा, **जणयइ** – उत्पन्न होती है, **अणुत्तराए** – अणुत्तर–सर्वोत्कृष्ट, **धम्मसद्धाए** – धर्मश्रद्धा से, **हव्वं** – शीघ्र ही, **संवेगं** – संवेग, (उत्कृष्ट मोक्ष की अभिलाषा), **आगच्छइ** – उत्पन्न होता है और संवेग से, **अणंताणुबंधी कोह माण माया लोभे** – अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ का, **खवेइ** – क्षय होता है, **च** – और, **णवं** – नवीन, **कम्मं** – कर्मों का, **ण बंधइ** – बन्ध नहीं होता, **च** – और, **तप्पच्चइयं** – कर्मबन्धन के निमित्त कारण, **मिच्छत्तविसोहिं** – मिथ्यात्व की विशुद्धि, **काऊण** – कर के, **दंसणाराहए** – क्षायिक सम्यक्त्व का आराधक, **भवइ** – हो जाता है, **दंसणविसोहिएणं** – दर्शन–सम्यक्त्व की विशुद्धि से, **विसुद्धाए** – विशुद्ध बने हुए, **अत्थेगइये** – कोई एक, **जीवे** – जीव, **तेणेव** – उसी, **भवग्गहणेणं** – भव में, **सिज्झइ** – सिद्ध हो जाता है, **बुज्झइ** – बुद्ध हो जाता है, **मुच्चइ** – कर्मों से मुक्त हो जाता है, **परिणिव्वायइ** – परिनिर्वाण–परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है, **सव्वदुक्खाणमंतं करेइ** – सभी दुःखों का अन्त कर देता है, जो उसी भव में मोक्ष नहीं जाता है वह, **विसोहिए णं विसुद्धाए** – सम्यक्त्व की उच्च विशुद्धि के कारण, **तच्चं** – तीसरे, **पुणो** – फिर, **भवग्गहणं** – भवग्रहण–भव का, **णाइक्कमइ** – अतिक्रमण नहीं करता अर्थात् तीसरे भव में तो अवश्य मोक्ष पा लेता है, क्योंकि क्षायिक–सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद जीव संसार में तीन भव से अधिक भव नहीं करता ॥ १॥



विवेचन - क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होने के पहले यदि आयुष्य का बन्ध न हुआ हो तो वह उसी भव में मोक्ष चला जाता है । यदि पहले आयुष्य का बन्ध हो गया हो तो तीसरे भव में या युगलिक का आयुष्य बन्ध हो गया हो तो चौथे भव में अवश्य मोक्ष चला जाता है ।

२-णिव्वेएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - भंते-हे भगवन् ! **णिव्वेएणं** - निर्वेद (संसार से विरक्ति) से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

णिव्वेएणं दिव्वमाणुस्सतिरिच्छिएसु कामभोगेसु णिव्वेयं हव्वमागच्छइ, सव्वविसएसु विरज्जइ, सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरंभपरिग्गहपरिच्चायं करेइ, आरंभपरिग्गह-परिच्चायं करेमाणे संसारमग्गं वोच्छिंदइ, सिद्धिमग्गं पडिवण्णे य भवइ ॥ २॥

- उत्तर - **णिव्वेएणं** - निर्वेद से जीव, **दिव्वमाणुस्सतिरिच्छएसु** - देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी समस्त प्रकार के, **कामभोगेसु** - कामभोगों में, **हव्वं** - शीघ्र ही, **णिव्वेयं** - निर्वेद को, **आगच्छइ** - प्राप्त हो जाता है और, **सव्वविसएसु**-सभी विषयों से, **विरज्जइ** - विरक्त हो जाता है, **सव्वविसएसु** - सभी विषयों से, **विरज्जमाणे** - विरक्त होता हुआ जीव, **आरंभपरिग्गहपरिच्चायं करेइ** - आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर देता है, **आरंभपरिग्गहपरिच्चायं करेमाणे** - आरम्भ परिग्रह का त्याग करता हुआ, **संसारमग्गं** - संसार-मार्ग का अर्थात् भवपरम्परा का, **वोच्छिंदइ** - व्यवच्छेद-नाश कर डालता है, **य** - और,



सिद्धिमग्गं - सिद्धि मार्ग-मोक्ष मार्ग का, **पडिवण्णे** - प्रतिपन्न-पथिक, **भवइ** - बन जाता है ॥ २ ॥

३-धम्मसद्धाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न- **भंते** - हे भगवन् ! **धम्मसद्धाए** - धर्म श्रद्धा से **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

धम्मसद्धाए णं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ, अगारधम्मं च णं चयइ, अणगारिए णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं छेयणभेयण-संजोगाईणं वोच्छेयं करेइ, अव्वाबाहं च सुहं णिव्वत्तेइ ॥ ३ ॥

- उत्तर- **धम्मसद्धाए** - धर्म पर पूर्ण श्रद्धा रखने से, **सायासोक्खेसु** - सातावेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त हुए जिन सुखों में, **जीवे** - जीव, **रज्जमाणे** - अनुराग करता था उन सुखों से, **विरज्जइ** - विरक्त हो जाता है, **च** - और, **अगारधम्मं** - अगारधर्म-गृहस्थ-धर्म का, **चयइ** - त्याग कर देता है, **अणगारिए**- अनगार-मुनि बन कर, **सारीरमाणसाणं** - शारीरिक और मानसिक, **दुक्खाणं** - दुःखों का, **छेयण भेयण** - छेदन-भेदन कर देता है तथा, **संजोगाईणं** - संयोग-वियोगजन्य दुःखों का, **वोच्छेयं** - व्यवच्छेद (नाश), **करेइ** - कर देता है, **च** - और, **अव्वाबाहं** - अव्याबाध (बाधा-पीड़ा रहित) **सुहं** - मोक्ष-सुख को, **णिव्वत्तेइ** - प्राप्त कर लेता है ॥ ३ ॥

४-गुरुसाहम्मिय सुस्सूसणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **गुरुसाहम्मिय सुस्सूसणयाए**-



गुरुजनों तथा साधर्मियों की सेवा शुश्रूषा करने से, **जीवे** – जीव को, **किं** – क्या, **जणयइ** – लाभ होता है ?

गुरुसाहम्मिय-सुस्सूसणयाए णं विणयपडिवत्तिं जणयइ, विणयपडिवण्णे य णं जीवे अणच्चासायणसीले णेरइय-तिरिक्ख-जोणिय-मणुस्स-देव-दुग्गईओ णिरुंभइ, वण्णसंजलण-भत्ति-बहुमाणयाए मणुस्सदेवसुग्गईओ णिबंधइ, सिद्धिसोग्गइं च विसोहेइ, पसत्थाइं च णं विणयमूलाइं सव्वकज्जाइं साहेइ, अण्णे य बहवे जीवा विणइत्ता भवइ ॥ ४॥

– उत्तर – **गुरुसाहम्मिय – सुस्सूसणयाए** – गुरुजनों की तथा साधर्मियों की सेवा शुश्रूषा करने से, **विणयपडिवत्ति जणयइ** – विनय प्रतिपत्ति अर्थात् विनय की प्राप्ति होती है, **य** – और, **विणयपडिवण्णे** – विनय को प्राप्त हुआ, **जीवे** – जीव, **अणच्चासायणसीले** – सम्यक्त्वादि का नाश करने वाली आशातना का त्याग कर देता है, फिर वह जीव, **णेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवदुग्गईओ** – नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव सम्बन्धी दुर्गतियों का, **णिरुंभइ** – निरोध कर देता है तथा गुरुजनों का गुणकीर्तन, **वण्ण**–प्रशंसा, **संजलण** – संज्वलन, **भत्ति** – भक्ति, **बहुमाणयाए**– बहुमान करने से, **मणुस्स देवसुग्गईओ** – मनुष्य और देवों में उत्तम ऐश्वर्य आदि सम्पन्न शुभ-गति का, **णिबंधइ** – बन्ध करता है, **च** – और, **सिद्धिसोग्गइं** – सिद्धि सुगति–मोक्ष के कारणभूत ज्ञान–दर्शन–चारित्र रूप मोक्ष–मार्ग की, **विसोहेइ** – विशुद्धि करता है, **च** – और, **विणयमूलाइं** – विनय–मूलक, **पसत्थाइं** – प्रशस्त,



सव्वकज्जाइं – सभी उत्तम कार्यों को, **साहेइ** – सिद्ध कर लेता है, **य** – और, **अण्णे** – दूसरे, **बहवे** – बहुत-से, **जीवा**– जीवों को, **विणइत्ता भवइ** – विनयवान् करता है अर्थात् उसे देखकर बहुत से जीव विनयवान् बनते हैं ।॥ ४॥

५–आलोयणाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

– प्रश्न – **भंते** – हे भगवन् ! **आलोयणाए णं** – आलोचना से, **जीवे** – जीव को, **किं** – क्या, **जणयइ** – लाभ होता है ?

आलोयणाए णं माया-णियाण-मिच्छा-दंसण-सल्लाणं मोक्खमग्ग-विग्घाणं अणंत-संसार-वद्धणाणं उद्धरणं करेइ, उज्जुभावं च जणयइ, उज्जुभाव पडिवण्णे य णं जीवे अमाई इत्थिवेयं णपुंसगवेयं च ण बंधइ, पुव्वबद्धं च णं णिज्जरइ ॥ ५ ॥

– उत्तर – **आलोयणाए णं** – गुरु के समक्ष अपने दोषों को प्रकाशित कर आलोचना करने से, **मोक्खमग्ग विग्घाणं** – मोक्ष-मार्ग में विघात करने वाले और, **अणंतसंसारवद्धणाणं** – अनन्त संसार बढ़ाने वाले, **मायाणियाणमिच्छादंसणसल्लाणं** – माया निदान और मिथ्यात्व रूप तीनों शल्यों को, **उद्धरणं करेइ** – उद्धृत करता है –हृदय से निकाल फैंकता है, **च** – और, **उज्जुभावं**– सरल भाव को, **जणयइ** – प्राप्त करता है, **य** – और, **उज्जुभावपडिवण्णे** – सरलभाव को प्राप्त हुआ, **जीवे** – जीव, **अमाई**– माया-कपटाई रहित हो जाता है, ऐसा माया-रहित जीव, **इत्थिवेयं** – स्त्रीवेद, **च**–और, **णपुंसगवेयं** – नपुंसक वेद का, **ण बंधइ** – बंध नहीं करता, **च** – और यदि कदाचित् उनका, **पुव्वबद्धं** – पहले बन्ध हो चुका हो तो, **णिज्जरइ** – उनकी निर्जरा कर देता है ॥ ५ ॥



विवेचन - शल्य तीन कहे गये हैं । जैसे पैर आदि में चुभा हुआ कांटा जब तक नहीं निकलता तब तक खटकता रहता है इसी तरह से ये तीन भी हृदय में खटकते रहते हैं । १. माया शल्य (कपटाई) २. निदान शल्य (की हुई धर्मकरणी के फल को मांग लेना) ३. मिथ्यादर्शनशल्य (कुदेव, कुगुरु, कुधर्म की मान्यता रखना, इन्हें सुदेव सुगुरु सुधर्म मानना)। गुरु महाराज के आगे आलोचना करने से पाप का भार उतर कर हृदय हलका हो जाता है । आलोचना के दो भेद हैं - पर की आलोचना और स्व (आत्मा की) आलोचना । पर की आलोचना (निंदा) करने से तो कर्म बन्ध होता है और जीव विराधक बन जाता है । इसलिये दूसरों की आलोचना नहीं करनी चाहिये । स्वयं की आलोचना करने से जीव कर्मों के भार से हलका हो जाता है । भगवान् की आज्ञा का आराधक बन जाता है । जैसा कि कहा है -

'आलोयणा निज दोष नी कीजे, गुरु समीपे जायजी ।'

६-णिंदणयाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **णिंदणयाए** - आत्मनिन्दा अर्थात् अपने दोषों की स्वयं निन्दा करने से, **जीवे** - जीव को, **किं**- क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

णिंदणयाए णं पच्छाणुतावं जणयइ, पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करणगुणसेढिं पडिवज्जइ, करणगुणसेढिपडिवण्णे य अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ ॥ ६ ॥

उत्तर-**णिंदणयाए** - अपने दोषों की निंदा करने से, **पच्छाणुतावं जणयइ** - पश्चात्ताप होता है । **पच्छाणुतावेणं**-



पश्चात्ताप करने से, **विरज्जमाणे** - वैराग्य उत्पन्न होता है । वैराग्य के कारण जीव, **करणगुणसेढिं** - क्षपक श्रेणी पर, **पडिवज्जइ**- चढ़ता है, **य** - और, **करणगुणसेढिपडिवण्णे** - क्षपक श्रेणी पर चढ़ा हुआ, **अणगारे** - अनगार, **मोहणिज्जं** - मोहनीय, **कम्मं**-कर्म का, **उग्घाएइ** - क्षय कर देता है । मोहनीय कर्म का क्षय होने से मोक्ष होता है ॥ ६ ॥

विवेचन - यहाँ 'करण' शब्द से ८ वें गुणस्थान से पहले होने वाला अपूर्वकरण लिया गया है । इस प्रकार के अपूर्व परिणामों द्वारा जीव क्षपक श्रेणि प्राप्त करता है और उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है । निन्दा आत्म साक्षी से होती है ।

७-गरिहणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न- **भंते** - हे भगवन् ! **गरिहणयाए णं** - आत्मगर्हा से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

गरिहणयाए णं अपुरक्कारं जणयइ, अपुरक्कारगए णं जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो णियत्तेइ, पसत्थे य पडिवज्जइ पसत्थ जोगपडिवण्णे य णं अणगारे अणंतघाई पज्जवे खवेइ ॥ ७॥

- उत्तर- **गरिहणयाएणं (गरहणयाएणं)** - आत्मगर्हा करने से, **अपुरक्कारं** -अपुरस्कार भाव (गर्व-भंग) की, **जणयइ** - उत्पत्ति होती है और आत्म-नम्रता प्राप्त होती है, **अपुरक्कारगए णं** - आत्मनम्रता को प्राप्त हुआ, **जीवे** - जीव, **अप्पसत्थेहिंतो** - अप्रशस्त - अशुभ, **जोगेहिंतो** - योगों से, **णियत्तेइ** - निवृत्त हो जाता है, **य** - और, **पसत्थे** - प्रशस्त - शुभ-योगों को, **पडिवज्जेइ**- प्राप्त होता है, **य** - और, **पसत्थजोगपडिवण्णे णं** - शुभ योगों को



प्राप्त हुआ, **अणगारे**-अनगार (साधु), **अणंतघाई** - अनन्तज्ञान-दर्शनादि की घात करने वाली, **पज्जवे** - कर्म-पर्यायों को, **खवेइ**-क्षय कर देता है॥७॥

विवेचन - गुरु के सामने अपने दोषों को प्रकट करना "गर्हा" कहलाती है। आत्मसाक्षी से अपने पापों की निंदा करने के बाद गुरु के सामने अपने दोषों को प्रकट करना भी आवश्यक है। क्योंकि निंदा के अपेक्षा गर्हा का महत्त्व अधिक है। आत्मार्थी पुरुष ही गर्हा कर सकता है।

८-सामाइएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **सामाइएणं** - सामायिक करने से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

सामाइएणं सावज्ज-जोग-विरइं जणयइ ?

- उत्तर - **सामाइएणं** - सामायिक करने से, **सावज्ज जोग विरइं** - सावद्य योगों से निवृत्ति, **जणयइ** - होती है॥८॥

विवेचन - संसार के समस्त जीवों को अपनी आत्मा के तुल्य समझना 'सम' कहलाता है। उस 'सम' का लाभ होना सम+आय = समाय है। इसी अर्थ में संस्कृत में 'इक' प्रत्यय लगकर 'सामायिक' शब्द बनता है। शत्रु, मित्र सभी जीवों पर समभाव की प्राप्ति होना सामायिक कहलाती है। अनुयोगद्वार सूत्र में तथा आवश्यक सूत्र में इसका विस्तृत वर्णन है।

९ - चउवीसत्थएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

-प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **चउवीसत्थएणं** - चौबीस तीर्थंकरों का स्तव (स्तवन) - नाम कथन पूर्वक गुण कीर्तन करने से, **जीवे**-जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - फल अर्थात् लाभ मिलता है ?

चउवीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ

– उत्तर– **चउवीसत्थएणं** – चौवीस तीर्थंकरों का स्तव (स्तवन) करने से, **दंसणविसोहिं** – दर्शन–सम्यक्त्व की विशुद्धि, **जणयइ** – होती है ॥ ९ ॥

१०–वंदणएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

– प्रश्न –**भंते** – हे भगवन् ! **वंदणएणं** – गुरु महाराज को वन्दना करने से, **जीवे** – जीव को, **किं** – क्या, **जणयइ** – लाभ होता है ?

वंदणएणं णीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चागोयं कम्मं णिबंधइ, सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं णिव्वत्तेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ ॥ १० ॥

– उत्तर – **वंदणएणं** – वन्दना करने से, **णीयागोयं** – नीच–गोत्र, **कम्मं** – कर्म का, **खवेइ** – क्षय करता है और, **उच्चागोयं** – उच्च–गोत्र, **कम्मं** – कर्म को, **णिबंधइ** – बाँधता है, **च** – और, **अप्पडिहयं** – अप्रतिहत अर्थात् अखण्ड, **सोहग्गं**– सौभाग्य और, **आणाफलं** – सफल आज्ञा के फल को, **णिव्वत्तेइ**– प्राप्त करता है, **च** – और, **दाहिणभावं** – दाक्षिण्यभाव को, **जणयइ** – प्राप्त करता है अर्थात् वह लोगों का प्रीतिपात्र और मान्य बन जाता है ॥ १० ॥

विवेचन – अपने दाहिने कान से लेकर बांये कान तक अंजलि बद्ध दोनों हाथों को यतनापूर्वक घुमाना आदक्षिण–प्रदक्षिण कहलाता है । आदक्षिण प्रदक्षिण पूर्वक पञ्चाङ्गों को (दो हाथ, दो घुटने और मस्तक) नमाकर विनय पूर्वक गुणी जनों को, गुरुजनों को और बड़ों को नमस्कार करना 'वन्दन' कहलाता है ।



११-पडिक्कमणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न-भंते - हे भगवन् ! पडिक्कमणेणं - प्रतिक्रमण करने से, जीवे - जीव को, किं - क्या, जणयइ - लाभ होता है?

पडिक्कमणेणं वयच्छिदाइं पिहेइ, पिहिय-वयच्छिद्दे पुण जीवे णिरुद्धासवे असबल-चरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ ॥ ११ ॥

- उत्तर-पडिक्कमणेणं - प्रतिक्रमण करने से, वयच्छिदाइं-व्रतों में बने हुए छिद्रों को, पिहेइ - बन्द करता है, पुण - फिर, पिहियवयच्छिद्दे - व्रतों के दोषों से निवृत्त बना हुआ शुद्ध व्रतधारी, जीवे - जीव, णिरुद्धासवे - आस्रवों को रोक कर तथा, असबल चरित्ते - शबलादि दोषों से रहित शुद्ध संयम वाला हो कर, अट्ठसु-आठ, पवयणमायासु - प्रवचन माताओं में, उवउत्ते - उपयुक्त-सावधान होता है और, अपुहत्ते - अपृथक्त्व-संयम में तल्लीन रहता हुआ, सुप्पणिहिए - समाधिपूर्वक एवं अपनी इन्द्रियों को असन्मार्ग से हटा कर, विहरइ - संयम मार्ग में विचरण करता है ॥ ११ ॥

१२-काउस्सग्गेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न-भंते - हे भगवन् ! काउस्सग्गेणं - कायोत्सर्ग से, जीवे - जीव को, किं - किन गुणों की, जणयइ - प्राप्ति होती है?

काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पण्णं पायच्छित्तं विसोहेइ, विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे णिव्वुयहियए ओहरिय-भरुव्व भारवाहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ ॥ १२ ॥



- उत्तर - **काउस्सग्गेणं** - कायोत्सर्ग करने से, **तीयपडुप्पण्णं** - भूतकाल और वर्तमान काल के दोषों का, **पायच्छित्तं** - प्रायश्चित्त कर के, **विसोहेइ** - जीव शुद्ध बनता है, **य** - और, **ओहरियभरुव्वभारवाहे** - अपहृतभरइवभारवह-जिस प्रकार बोझ उतर जाने से मजदूर सुखी होता है उसी प्रकार, **विसुद्धपायच्छित्ते** - प्रायश्चित्त से विशुद्ध बना हुआ, **जीवे** - जीव, **णिव्वुयहियए** - निर्वृत्तहृदय-शान्त हृदय बन कर, **पसत्थ-ज्झाणोवगए** - प्रशस्त ध्यानोपगत-शुभ ध्यान ध्याता हुआ, **सुहं सुहेणं**- सुखपूर्वक, **विहरइ** - विचरता है ॥ १२ ॥

१३-पच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **पच्चक्खाणेणं** - प्रत्याख्यान से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं णिरुंभइ, पच्चक्खाणेणं इच्छाणिरोहं जणयइ इच्छाणिरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरइ ॥ १३ ॥

- उत्तर - **पच्चक्खाणेणं** - प्रत्याख्यान करने से, **आसवदाराइं** - आस्रवद्वारों का, **णिरुंभइ** - निरोध होता है, **पच्चक्खाणेणं** - प्रत्याख्यान करने से, **इच्छाणिरोहं** - इच्छा का निरोध, **जणयइ** - होता है, **इच्छाणिरोहं गए** - इच्छा का निरोध होने से, **जीवे** - जीव, **सव्वदव्वेसु** - सभी पदार्थों में, **विणीयतण्हे**- तृष्णारहित बना हुआ, **सीइभूए** - शीतीभूत-परम शांति से, **विहरइ** - विचरता है ॥ १३ ॥

१४ - थवथुइमंगलेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?



- प्रश्न-भंते - हे भगवन् ! **थवथुइमंगलेणं** - स्तवस्तुतिमंग.. से **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

थवथुइमंगलेणं णाण-दंसण-चरित्त-बोहिलाभं जणयइ, णाणदंसण-चरित्त-बोहिलाभ-संपण्णे य णं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तियं आराहणं आराहेइ ॥ १४ ॥

-उत्तर - **थवथुइमंगलेणं** - स्तवस्तुति मंगल से, **णाणदंसण-चरित्त-बोहिलाभं** - ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप बोधिलाभ को, **जणयइ** - प्राप्त करता है, **य** - और, **णाणदंसण-चरित्तबोहिलाभसंपण्णे** - ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप बोधिलाभ को प्राप्त करने वाला जीव, **कप्पविमाणोववत्तियं** - कल्प विमानों में (बारह देवलोक, नवग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमानों में) उच्च जाति का देव होता है और, **आराहणं आराहेइ** - ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना करता हुआ जीव क्रमशः, **अंतकिरियं** - अन्तक्रिया कर मोक्ष को प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

विवेचन - साधारण गुणों का वर्णन करना स्तव कहलाता है। विशेष गुणों का वर्णन करना स्तुति कहलाता है । जैसे कि - तीर्थङ्कर भगवान् के अतिशयों का वर्णन करना । अभिधान राजेन्द्र कोश में बतलाया है कि एक श्लोक से लेकर सात श्लोक तक गुण वर्णन करना 'स्तव' कहलाता है । खड़े होकर जघन्य चार, मध्यम आठ और उत्कृष्ट १०८ श्लोकों तक में गुण वर्णन करना 'स्तुति' कहलाता है । कहीं पर इससे विपरीत व्याख्या भी मिलती है यथा - एक से लेकर सात श्लोक तक स्तुति कहलाती है एवं आगे स्तव कहलाता है ।



१५-कालपडिलेहणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न-**भंते** - हे भगवन् ! **कालपडिलेहणयाए णं** - काल-प्रतिलेखना (स्वाध्याय काल के ज्ञान) से, **जीवे** - जीव को, **किं**-क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

कालपडिलेहणयाए णं णाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ।

- उत्तर - **कालपडिलेहणयाए णं** - काल प्रतिलेखना से, **णाणावरणिज्जं** - ज्ञानावरणीय, **कम्मं** - कर्म का, **खवेइ** - क्षय होता है अर्थात् स्वाध्यायादि काल का ज्ञान रहने से साधु उस समय में स्वाध्यायादि करता है । स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है ॥ १५ ॥

विवेचन - काल प्रतिलेखना का अर्थ यह है कि - स्वाध्याय काल में स्वाध्याय करना किन्तु अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय नहीं करना ।

१६-पायच्छित्तकरणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न- **भंते** - हे भगवन् ! **पायच्छित्तकरणेणं** - प्रायश्चित्त करने से, **जीवे** - जीव को, **किं** - किन गुणों की **जणयइ** - प्राप्ति होती है ?

पायच्छित्त-करणेणं पावकम्मविसोहिं जणयइ, णिरइयारे यावि भवइ, सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ, आयारं च आयारफलं च आराहेइ ॥ १६ ॥

– उत्तर – **पायच्छित्त करणेणं** – प्रायश्चित्त करने से जी
पावकम्मविसोहिं – पाप कर्मों की विशुद्धि, **जणयइ** – करता
यावि – और वह, **णिरइयारे** – निरतिचार (दोषों से रहित) भव
हो जाता है, **च** – और, **सम्मं** – सम्यक् प्रकार से, **पायच्छि**
प्रायश्चित्त, **पडिवज्जमाणे** – ग्रहण करता हुआ जीव, **मग्गं** – म
(सम्यक्त्व) **च** – और, **मग्गफलं** – मार्ग के फल (मोक्ष) व
विसोहेइ – विशुद्ध करता है, **च** – और क्रमशः वह जीव, **आया**
आचार-चारित्र को, **च** – और, **आयारफलं** – चारित्र के प
(मोक्ष) को, **आराहेइ** – प्राप्त कर लेता है ॥ १६ ॥

१७ – खमावणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

– प्रश्न – **भंते** – हे भगवन् ! **खमावणयाए** – क्षमापना से
जीवे – जीव को, **किं** – किन गुणों की, **जणयइ**–प्राप्ति होती है

खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ, पल्हायण भावमुवगए य सव्वपाण-भूय-जीव-सत्ते मित्तीभावमुप्पाएइ, मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काऊण णिब्भए भवइ ॥ १७॥

– उत्तर – **खमावणयाए** – अपराध की क्षमा माँगने से,
पल्हायणभावं जणयइ – चित्त आह्लादित होता है, **य** – और
पल्हायणभावं – प्रह्लादनभाव – चित्त की प्रसन्नता को, **उवगए** –
उपगत–प्राप्त हुआ जीव, **सव्वपाणभूयजीव-सत्तेसु** – समस्त प्राण-
भूत–जीव सत्त्वों (संसार के समस्त प्राणियों) के साथ, **मित्तीभावं**-
मैत्रीभाव, **उप्पाएइ** – उत्पन्न करता है, **यावि**– और, **मित्तीभावं** -
मैत्रीभाव को, उवगए – उपगत–प्राप्त हुआ, जीवे – जीव



ावविसोहिं- अपने भावों को विशुद्ध, **काऊण** - बना कर, णब्भए - निर्भय, **भवइ** - हो जाता है ॥ १७ ॥

विवेचन -

प्राणाः द्वि त्रि चतुः प्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः ।
जीवाः पञ्चेन्द्रिया प्रोक्ताः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः ॥

अर्थ - द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय को 'प्राण' कहते हैं । नस्पति को 'भूत' और पञ्चेन्द्रिय को 'जीव' तथा पृथ्वीकाय, पकाय, तेउकाय, वाउकाय को 'सत्त्व' कहते हैं । जहाँ ये चारों ाब्द आवें वहाँ उपरोक्त अर्थ करना चाहिये । किन्तु जहाँ इन चारों में से कोई एक शब्द आवे वहाँ एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सभी जीवों का ग्रहण कर लेना चाहिये ।

१८-सज्झाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न- **भंते** - हे भगवन् ! **सज्झाए णं** - स्वाध्याय करने से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

सज्झाएणं णाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ॥ १८ ॥

उत्तर- **सज्झाएणं** - स्वाध्याय करने से, **णाणावरणिज्जं**- ज्ञानावरणीय, **कम्मं** - कर्म का, **खवेइ** - क्षय होता है ॥ १८ ॥

१९-वायणाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

-प्रश्न- **भंते** - हे भगवन् ! **वायणाए णं** - वाचना से, **जीवे**- जीव को, **किं** - किन गुणों की, **जणयइ** - प्राप्ति होती है?

वायणाए णं णिज्जरं जणयइ, सुयस्स अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टइ, सुयस्स य अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टमाणे तित्थधम्मं अवलंबइ,



तित्थधम्मं अवलंबमाणे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥ १९ ॥

- उत्तर- **वायणाए णं** - आगम की वाचना से, **णिज्जरं** - कर्म की निर्जरा, **जणयइ** - होती है, **य** - और, **सुयस्स** - श्रुत का वाच (पठन पाठन) होते रहने से **अणुसज्जणाए** - अनुषञ्जन- अनुवर्त्त से, **अणासायणाए वट्टइ** - श्रुत की आशातना नहीं होती, **सुयस्स** श्रुत की, **अणुसज्जणाए** - अनुवर्त्तन से, **अणासायणाए वट्टमाणे**- आशातना न करता हुआ जीव, **तित्थधम्मं** - तीर्थधर्म का, **अवलंबइ**- अवलम्बन-प्राप्त करता है, **तित्थधम्मं** - तीर्थधर्म का, **अवलंबमाणे**- अवलम्बन करता हुआ जीव, **महाणिज्जरे** - कर्मों की महानिर्जरा करता है और, **महापज्जवसाणे भवइ** - महापर्यवसान-कर्मों का अन्त कर के मोक्ष सुख को प्राप्त करता है ॥ १९ ॥

२० - पडिपुच्छणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **पडिपुच्छणयाए**-प्रतिपृच्छना * से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

पडिपुच्छणयाए णं सुत्तत्थतदुभयाइं विसोहेइ, कंखामोहणिज्जं कम्मं वोच्छिंदइ ॥ २० ॥

-उत्तर- **पडिपुच्छणयाए णं** - प्रतिपृच्छना से जीव, **सुत्तत्थतदुभयाइं** - सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ दोनों को, **विसोहेइ** - विशुद्ध करता है और, **कंखामोहणिज्जं** - कांक्षा-मोहनीय, **कम्मं** - कर्म का, **वोच्छिंदइ** - विच्छिन्न-नाश कर देता है ॥ २० ॥

---

* सूत्र और अर्थ में सन्देह उत्पन्न होने पर उसकी निवृत्ति के लिए विनयपूर्वक शंका-समाधान करना 'प्रतिपृच्छना' कहलाती है ।



२१ - परियट्टणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न-**भंते** - हे भगवन् ! **परियट्टणयाए णं** - परिवर्तना (पढ़े हुए सूत्रपाठ का पुनः पुनः परावर्तन करने) से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

परियट्टणयाए णं वंजणाइं जणयइ, वंजणलद्धिं च उप्पाएइ ॥ २१॥

- उत्तर- **परियट्टणयाए णं** - परिवर्तन (परावर्तन) से, **वंजणाइं** - भूले हुए व्यञ्जन, **जणयइ** - याद हो जाते हैं, **च** - और, **वंजणलद्धिं**-व्यञ्जन-लब्धि (अक्षर-लब्धि और पदलब्धि) उत्पन्न हो जाती है ॥ २१ ॥

विवेचन - पढे हुए सूत्र और अर्थ की बार-बार आवृत्ति करना अर्थात् गुनते रहना परावर्तना कहलाती है । इस से सूत्रार्थ उपस्थित रहता है । ऐसे जीव को व्यञ्जन लब्धि (सूत्र के एक अक्षर याद आ जाने से तदनुकूल दूसरे सैकड़ों अक्षरों की स्मृति हो जाना) प्राप्त हो जाती है । तथा एक पद याद आने से दूसरे सैकड़ों पदों का याद आ जाना पदानुसारिणी लब्धि भी प्राप्त हो जाती है ।

२२ - अणुप्पेहाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **अणुप्पेहाएणं** - अनुप्रेक्षा (चिन्तन) से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

अणुप्पेहाए णं आउय-वज्जाओ सत्त-कम्म-पयडीओ धणियबंधण-बद्धाओ सिढिलबंधण-



बद्धाओ पकरेइ, दीहकालट्ठिइयाओ हस्सकाल-ट्ठिइयाओ पकरेइ, तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ, बहुप्पएसगाओ अप्पपएसगाओ पकरेइ, आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ सिय णो बंधइ, असायावेयणिज्जं च णं कम्मं णो भुज्जो भुज्जो उवचिणइ, अणाइयं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंत-संसार-कंतारं खिप्पामेव वीइवयइ ॥ २२॥

– उत्तर- **अणुप्पेहाएणं** - अनुप्रेक्षा से, **आउयवज्जाओ** - आयु-कर्म के सिवाय, **सत्त** - सात, **कम्मपयडीओ** - कर्मों की प्रकृतियों को, **धणिय-बंधण बद्धाओ** - यदि वे गाढ़ बन्धन से बन्धी हुई हों तो उन्हें, **सिढिल बंधण बद्धाओ** - शिथिल बन्ध वाली, **पकरेइ** - कर देता है, **दीहकाल ट्ठिइयाओ** - दीर्घ काल स्थिति-लम्बी स्थिति वाली हों तो उन्हें, **हस्सकाल ट्ठिइयाओ** - अल्प स्थिति वाली, **पकरेइ** - करता है, **तिव्वाणुभावाओ** - तीव्र अनुभाव-रस वाली हों तो उन्हें, **मंदाणुभावाओ** - मंद रस वाली, **पकरेइ** - कर देता है, **बहुप्पएसगाओ** - बहुप्रदेशी हों तो उन्हें, **अप्पपएसगाओ** - अल्प प्रदेश वाली, **पकरेइ**-कर देता है, **च** - और, **आउयं कम्मं**- उसके आयु कर्म का, **सिय**-कदाचित्, **बंधइ**-बन्ध होता और, **सिय** - कदाचित्, **णो बंधइ** - बन्ध नहीं भी होता, **च** - और ऐसे जीव को, **असायावेयणिज्जं** - असाता-वेदनीय, **कम्मं** - कर्म का, **भुज्जो भुज्जो** - बार बार, **णो उवचिणइ**-बन्ध नहीं होता है, **च**-और ऐसे जीव, **अणाइयं** - इस अनादि, **अणवयग्गं** - अनवदग्र-अनंत तथा, **दीहमद्धं** - दीर्घ मार्ग वाले, **चाउरंत-संसार-कंतारं** - चतुर्गति रूप संसार कान्तार-अटवी को,



खिप्पामेव -शीघ्र ही, **वीइवयइ** - पार कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

विवेचन - आयुष्यकर्म जीवन में एक बार ही बंधता है और वह निकाचित रूप से बंधता है । गाथा में '**असायावेयणिज्जं च णं कम्मं णो भुज्जो भुज्जो उवचिणइ**' शब्द दिये हैं । जिसका अर्थ है - असातावेदनीयकर्म को बार बार नहीं बांधता । लक्षणा से यह अर्थ भी निकलता है कि - कभी प्रमत्त गुणस्थान वर्ती होने से असाता वेदनीय कर्म का बन्ध भी कर लेता है । यह कर्मों की विचित्रता है । कहीं तो इस प्रकार का पाठान्तर भी है - "**सायावेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ**' अर्थात् साता वेदनीय कर्म को बारम्बार बांधता है । साथ ही दूसरी शुभ प्रकृतियों को भी बांधता है ।

२३-धम्मकहाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

-प्रश्न-**भंते**-हे भगवन् ! **धम्मकहाए णं** - धर्मकथा कहने से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

धम्मकहाए णं णिज्जरं जणयइ, धम्मकहाए णं पवयणं पभावेइ, पवयणपभावेणं जीवे आगमिसस्स भद्दत्ताए कम्मं णिबंधइ ॥ २३ ॥

-उत्तर- **धम्म कहाए** - धर्म कथा कहने से (धर्मोपदेश देने से) **णिज्जरं** - कर्मों की निर्जरा, **जणयइ** - होती है । **धम्मकहाएणं** - धर्मकथा कहने से, **पवयणं** - प्रवचन की, **पभावेइ** - प्रभावना होती है, **पवयण पभावेणं** - प्रवचन की प्रभावना करने से, **जीवे** - जीव, **आगमिसस्स** - आगामी-भविष्य काल में, **भद्दत्ताए कम्मं** - भद्रता से शुभ कर्मों का ही, **णिबंधइ** - बन्ध करता है ॥ २३ ॥



विवेचन - यहाँ स्वाध्याय के पांच भेद किये हैं । ठाणाङ्ग सूत्र के पांचवें ठाणे में भी पांच भेद किये हैं । उनका टीकानुसार अर्थ इस प्रकार है - अस्वाध्याय काल को छोड़ कर शोभन रीति से मर्यादा पूर्वक शास्त्र का अध्ययन करना सु+आ+ अध्याय=स्वाध्याय कहलाता है । इसके पांच भेद कहे गये हैं ।

१. वाचना - जिज्ञासु शिष्य आदि को सूत्र और अर्थ पढाना वाचना है ।

२. पृच्छना - पढे हुए सूत्र अर्थ में शंका होने पर प्रश्न करना पृच्छना है ।

३. परिवर्तना (परावर्तना) - पढा हुआ ज्ञान भूल न जांये इसलिये उन्हें बार बार फेरना परिवर्तना है ।

४. अनुप्रेक्षा - सीखे हुए सूत्र और उसके अर्थ का चिन्तन मनन करना अनुप्रेक्षा है ।

५. धर्मकथा - उपरोक्त चारों प्रकार से शास्त्र का अभ्यास कर लेने पर जगत् जीवों को शास्त्रों का व्याख्यान सुनाना, धर्मोपदेश देना धर्मकथा है । धर्मोपदेश देना सरल काम नहीं है । उसमें सावद्य वचन का प्रयोग न हो जाय इसका निरंतर ध्यान रखना पड़ता है । जैसा कि कहा है -

सावज्ज अणवज्ज वयणाणं, जोण जाणाइ विसेसं ।
तस्स वोत्तुं वि ण खमं, किमंग पुण देसणां दाउं ॥
सावद्य निरवद्य वचन का, है न जिसको ज्ञान ।
बात चीत के योग्य नहीं, कैसे दे व्याख्यान ॥

इसीलिये धर्मकथा के लक्षण में ऊपर कहा गया है कि - शास्त्रों की वांचना गुरुदेवों से लेकर फिर पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा कर लेने के बाद ही धर्मोपदेश देना चाहिये ।

☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆

२४-सुयस्स आराहणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न- **भंते** - हे भगवन् ! **सुयस्स** - श्रुत की, **आराहणयाए णं** - आराधना से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

सुयस्स आराहणयाए णं अण्णाणं खवेइ, ण य संकिलिस्सइ ॥ २४॥

- उत्तर- **सुयस्स** - श्रुत की, **आराहणयाए णं** - आराधना करने से जीव, **अण्णाणं** - अज्ञान का, **खवेइ** - क्षय-नाश करता है, **य** - और, **ण संकिलिस्सइ** - संक्लेश को प्राप्त नहीं होता ॥ २४ ॥

२५-एगग्गमण-सण्णिवेसणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न- **भंते** - हे भगवन् ! **एगग्गमणसंणिवेसणयाए णं**- एकाग्रमनसन्निवेशनता-मन की एकाग्रता से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

एगग्ग-मण-सण्णिवेसणयाए णं चित्तणिरोहं करेइ ॥ २५॥

- उत्तर- **एगग्गमणसण्णिवेसणयाए** - मन की एकाग्रता से जीव, **चित्तणिरोहं** - चित्तवृत्ति का निरोध, **करेइ** - करता है ॥ २५ ॥

२६-संजमेणं भंते ! जीवे किं जयणइ ?

- प्रश्न- **भंते** - हे भगवन् ! **संजमेणं** - संयम धारण करने से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?



संजमेणं अणण्हत्तं जणयइ ॥ २६ ॥

- उत्तर - **संजमेणं** - संयम धारण करने से, **अणण्हत्तं** - आस्रवों का निरोध, **जणयइ** - होता है ॥ २६ ॥

२७-तवेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

-प्रश्न- **भंते** - हे भगवन् ! **तवेणं** - तपस्या करने से, **जीवे**- जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

तवेणं वोदाणं जणयइ ॥ २७ ॥

उत्तर- **तवेणं** - तपस्या करने से, **वोदाणं** - व्यवदान, (पूर्वकृत कर्मों का क्षय) **जणयइ** - होता है ॥ २७ ॥

२८-वोदाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **वोदाणेणं** - व्यवदान (पूर्वकृत कर्मों के क्षय) से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

वोदाणेणं अकिरियं जणयइ, अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिणिव्वायइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥ २८ ॥

- उत्तर - **वोदाणेणं** - पूर्वकृत कर्मों के क्षय हो जाने से जीव, **अकिरियं जणयइ** - अक्रिय हो जाता है, **अकिरियाए भवित्ता** - अक्रिय होने के, **तओ पच्छा** - बाद, **सिज्झइ** - सिद्ध हो जाता है अर्थात् कृतकृत्य हो जाता है, **बुज्झइ** - बुद्ध हो जाता है अर्थात् केवलज्ञान केवलदर्शन से सम्पूर्ण लोकालोक को जानने और देखने लग जाता है, **मुच्चइ** - समस्त कर्मों से मुक्त हो जाता है, **परिणिव्वायइ** - कर्मरूप अग्नि को बुझा कर शीतल हो जाता है और, **सव्वदुक्खाणं** - शारीरिक और मानसिक सभी दुःखों का, **अंतं** - अन्त, **करेइ** - कर देता है ॥ २८ ॥



२९-सुहसाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

-प्रश्न- **भंते** - हे भगवन् ! **सुहसाएणं** - सुखशाता (विषय सुख का त्याग करने) से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

सुहसाएणं अणुस्सुयत्तं जणयइ, अणुस्सुयएणं जीवे अणुकंपए अणुब्भडे विगयसोगे चरित्त-मोहणिज्जं कम्मं खवेइ ॥ २९॥

- उत्तर - **सुहसाएणं** - सुखशाता से अर्थात् विषय सुख का त्याग करने से जीव को, **अणुस्सुयत्तं** - अनुत्सुकता अर्थात् विषयों के प्रति अनिच्छा, **जणयइ** - उत्पन्न होती है, **अणुस्सुयएणं**- अनुत्सुकता से-विषयों के प्रति अनिच्छा उत्पन्न होने से, **जीवे** - जीव, **अणुकंपए** - दूसरे जीवों के प्रति अनुकम्पा करने वाला, **अणुब्भडे** - अनुद्भट-निरभिमानी, **विगयसोगे** - विगतशोक-चिन्ता-शोक रहित होता है और, **चरित्तमोहणिज्जं** - चारित्र-मोहनीय, **कम्मं** - कर्म का, **खवेइ** - क्षय कर देता है ॥ २९ ॥

३०-अप्पडिबद्धयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

-प्रश्न- **भंते** - हे भगवन् ! **अप्पडिबद्धयाए णं** - अप्रतिबद्धता (विषय सुखों में आसक्ति का त्याग करने) से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

अप्पडिबद्धयाए णं णिस्संगत्तं जणयइ, णिस्संगत्तेणं जीवे एगे एगग्गचित्ते दिया य राओ य असज्जमाणे अप्पडिबद्धे यावि विहरइ ॥ ३० ॥



– उत्तर– **अप्पडिबद्धयाए** – अप्रतिबद्धता (अनासक्ति) से, **णिस्संगत्तं** – निस्संगता (स्त्र्यादिक की संगति रहितपना) **जणयइ**- प्राप्त होती है । **णिस्संगत्तेणं** – निस्संगता से, **जीवे** – जीव, **एगे** - एक अर्थात् रागद्वेष रहित होकर, **एगग्गचित्ते** – एकाग्र चित्त वाला होता है, **य** – और, **दिया** – दिन, **य** – और, **राओ** – रात, **असज्जमाणे**- किसी भी पदार्थ में अनुराग नहीं रखता हुआ, **अप्पडिबद्धे** - अप्रतिबद्ध-भाव से, **विहरइ** – विचरता है ॥ ३० ॥

३१-विवित्तसयणासणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

–प्रश्न– **भंते** – हे भगवन् ! **विवित्तसयणासणयाए णं**– विविक्तशयनासनता–स्त्री–पशु–नपुंसक रहित स्थान, शयन और आसन का सेवन करने से, **जीवे** – जीव को, **किं** – क्या, **जणयइ** – लाभ होता है ?

विवित्तसयणासणयाए णं चरित्तगुत्तिं जणयइ, चरित्तगुत्ते य णं जीवे विवित्ताहारे दढचरित्ते एगंतरए मोक्खभावपडिवण्णे य अट्ठविहं कम्मगंठिं णिज्जरेइ ॥ ३१ ॥

–उत्तर– **विवित्तसयणासणयाए णं** – स्त्री–पशु–नपुंसक से रहित एकान्त स्थान, शयन, आसन का सेवन करने से, **चरित्तगुत्तिं जणयइ** – चारित्र की रक्षा होती है, **य** – और, **चरित्तगुत्ते** - चारित्र की रक्षा करने वाला, **जीवे** – जीव, **विवित्ताहारे** - विविक्ताहारी होता है अर्थात् विगयादि में आसक्त नहीं होता । ऐसा जीव, **दढचरित्ते** – चारित्र में दृढ़, **एगंतरए** – एकान्त रत अर्थात् एकान्त सेवी, **य**– और, **मोक्खभावपडिवण्णे** – मोक्षभाव



प्रतिपन्न-मोक्ष का साधक होता है और, **अट्ठविहं** - आठों प्रकार के, **कम्मगंठिं** - कर्मों की ग्रंथि का, **णिज्जरेइ** - भेदन करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ ३१ ॥

३२-विणिवट्टणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

-प्रश्न- **भंते** - हे भगवन् ! **विणिवट्टणयाए णं** - विनिवर्तना (विषयों के त्याग) से, **जीवे** - जीव को, **किं** - किन गुणों की, **जणयइ** - प्राप्ति होती है ?

विणिवट्टणयाए णं पावकम्माणं अकरणयाए अब्भुट्ठेइ, पुव्वबद्धाण य णिज्जरणयाए पावं णियत्तेइ, तओ पच्छा चाउरंतं संसार-कंतारं वीइवयइ ॥ ३२ ॥

- उत्तर- **विणिवट्टणयाए णं** - विनिवर्तना करने वाला जीव, **पावकम्माणं** - पाप-कर्म, **अकरणयाए** - नहीं करने के लिये **अब्भुट्ठेइ** - उद्यत होता है प्रत्युत धर्मकार्य करने के लिए उद्यत होता है, **य** - और, **पुव्वबद्धाण** - पहले बन्धे हुए पापकर्मों की, **णिज्जरणयाए** - निर्जरा कर के, **पावं** - पाप से, **णियत्तेइ** - निवृत्त हो जाता है, **तओ** - उसके, **पच्छा** - पश्चात्, **चाउरंतसंसार कंतारं** - चतुर्गति वाले संसार रूपी कान्तार-अटवी को, **वीइवयइ**- पार कर जाता है ॥ ३२ ॥

३३-संभोग-पच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

-प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **संभोगपच्चक्खाणेणं** - संभोग का प्रत्याख्यान करने से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?



संभोग-पच्चक्खाणेणं आलंबणाइं खवेइ, णिरालंबणस्स य आययट्ठिया जोगा भवंति, सएणं लाभेणं संतुस्सइ, परस्स लाभं णो आसाएइ णो तक्केइ णो पीहेइ णो पत्थेइ णो अभिलसइ, परस्स लाभं अणासाएमाणे अतक्केमाणे अपीहेमाणे अपत्थेमाणे अणभिलसेमाणे दुच्चं सुहसेज्जं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥ ३३ ॥

- उत्तर - **संभोगपच्चक्खाणेणं** - संभोग का त्याग करने से जीव, **आलंबणाइं** - आलंबनों का, **खवेइ** - क्षय कर देता है (परावलंबीपन छूट कर स्वावलम्बी बन जाता है), **य** - और, **णिरालंबणस्स** - निरालम्बन अर्थात् स्वावलंबी जीव के, **जोगा** - योग, **आययट्ठिया भवंति** - केवल शुभ प्रयोजन के लिए ही प्रवृत्त होते हैं । वह, **सएणं** - अपने ही, **लाभेणं** - लाभ से, **संतुस्सइ** - संतुष्ट रहता है, **परस्स** - दूसरे के, **लाभं** - लाभ का, **णो आसाएइ** - उपयोग नहीं करता, **णो तक्केइ** - कल्पना नहीं करता, **णो पीहेइ** - दूसरों का लाया हुआ आहार अच्छा है ऐसी स्पृहा - इच्छा नहीं करता, **णो पत्थेइ** - यह अच्छा आहार मुझे दो ऐसी प्रार्थना नहीं करता, **णो अभिलसइ**-अभिलाषा नहीं करता **परस्स** - दूसरे के, **लाभं** - लाभ का, **अणासाएमाणे** - उपभोग न करता हुआ, **अतक्केमाणे**-कल्पना न करता हुआ, **अपीहेमाणे** - इच्छा न करता हुआ, **अपत्थेमाणे** - प्रार्थना न करता हुआ **अणभिलसेमाणे** - अभिलाषा न करता हुआ जीव, **दुच्चं** - दूसरी, **सुहसेज्जं** - सुखशय्या को, **उवसंपज्जित्ताणं**- अंगीकार कर के, **विहरइ** - विचरता है ॥ ३३ ॥

विवेचन - समान समाचारी वाले साधुओं का एक जगह बैठकर आहार करना तथा परस्पर आहार करना तथा परस्पर

आहारादि का लेना देना एवं वस्त्र पात्र एवं अन्य उपधि का भी परस्पर लेना देना परस्पर वन्दन करना आदि को संभोग कहते हैं । इसके बारह भेद हैं जिसका विस्तृत वर्णन समवायाङ्ग सूत्र के १२ वें समवाय में दिया गया है जिसका हिन्दी अनुवाद श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह बीकानेर के चौथे भाग में दिया गया है । जिज्ञासुओं को वहाँ देखना चाहिये ।

इस ३३ वें बोल में दूसरी सुख शय्या का वर्णन दिया है । शय्या के दो भेद हैं – दुःख शय्या और सुख शय्या । इन दोनों के चार चार भेद हैं जिनका वर्णन ठाणाङ्ग सूत्र के ४ थे ठाणे के तीसरे उद्देशक में दिया गया है । जिसका हिन्दी अनुवाद जैन सिद्धांत बोल संग्रह भाग १ में दिया गया है । प्रकरण संगत होने से यहाँ सुख शय्या के चार भेदों का वर्णन किया जाता है ।

१. साधु-साध्वी वीतराग तीर्थङ्कर भगवान् के प्रवचन पर शंका कांक्षा विचिकित्सा न करता हुआ तथा चित्त को डांवा डोल और कलुषित न करता हुआ निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा प्रतीति और रुचि रखता है तथा मन को संयम में स्थिर रखता है वह धर्म से भ्रष्ट नहीं होता अपितु धर्म पर और भी अधिक दृढ़ होता है । यह पहली सुखशय्या है ।

२. जो साधु अपने लाभ से संतुष्ट रहता है और दूसरों के लाभ में से आशा इच्छा याचना और अभिलाषा नहीं करता । उस संतोषी साधु का मन संयम में स्थिर रहता है और वह धर्म भ्रष्ट नहीं होता यह दूसरी सुखशय्या है ।

३. जो साधु तिर्यंच, मनुष्य और देवता सम्बन्धी काम भोगों की आशा यावत् अभिलाषा नहीं करता उसका मन संयम में स्थिर रहता है अतएव वह धर्म से भ्रष्ट नहीं होता यह तीसरी सुख शय्या है ।

४. कोई साधु दीक्षा लेकर यह सोचता है कि जब हृष्ट, पुष्ट, नीरोग, बलवान् शरीर वाले तीर्थङ्कर भगवान् आशंसा दोष रहित अतएव उदार कल्याणकारी दीर्घ-कालीन महा प्रभावशाली कर्मों को क्षय करने वाले तप को संयम पूर्वक आदर भाव से अंगीकार करते हैं। तो क्या मुझे केश लोच ब्रह्मचर्य पालन आदि में होने वाली आभ्युपगमिकी और ज्वर अतिसार आदि रोगों से होने वाली औपक्रमिकी वेदना को शान्ति पूर्वक, दैन्यभाव न दर्शाते हुए, बिना किसी पर कोप किए सम्यक् प्रकार से समभाव पूर्वक न सहन कर मैं एकान्त पाप कर्म के सिवाय और क्या उपार्जन करता हूँ ? यदि मैं इसे सम्यक् प्रकार सहन कर लूं, तो क्या मुझे एकान्त निर्जरा न होगी ? इस प्रकार विचार कर ब्रह्मचर्य व्रत के दूषण रूप मर्दन आदि की आशा, इच्छा का त्याग करना चाहिए। एवं उनके अभाव से प्राप्त वेदना तथा अन्य प्रकार की वेदना को सम्यक् प्रकार से समभाव पूर्वक सहना चाहिए। यह चौथी सुख शय्या है।

३४-उवहि-पच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

-प्रश्न- **भंते** - हे भगवन् ! **उवहिपच्चक्खाणेणं** - उपधिप्रत्याख्यान-रजोहरण और मुखवस्त्रिका के अतिरिक्त वस्त्र-पात्रादि उपधि का प्रत्याख्यान-त्याग करने से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

उवहि-पच्चक्खाणेणं अपलिमंथं जणयइ, णिरुवहिए णं जीवे णिक्कंखी उवहिमंतरेण य ण संकिलिस्सइ ।



- उत्तर- **उवहिपच्चक्खाणेणं** - रजोहरण और मुखवस्त्रिका अतिरिक्त वस्त्र-पात्रादि उपधि का प्रत्याख्यान-त्याग करने से, **पलिमंथं जणयइ** - स्वाध्याय आदि में विघ्न बाधा उपस्थित नहीं होती, **णिरुवहिए** - निरुपधिक-उपधि रहित, **जीवे** - जीव को, **णिक्कंखी** - निष्कांक्ष-वस्त्रादि की अभिलाषा नहीं रहती, **य** - और, **उवहिमंतरेण** - उपधि न रहने से, **ण संकिलिस्सइ** - शारीरिक और मानसिक कोई क्लेश नहीं होता ॥ ३४ ॥

३५ - आहार-पच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **आहारपच्चक्खाणेणं** - आहार का त्याग करने से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ**- लाभ होता है ?

आहार-पच्चक्खाणेणं जीवियासंसप्पओगं वोच्छिंदइ, जीवियासंसप्पओगं वोच्छिंदित्ता जीवे आहारमंतरेणं ण संकिलिस्सइ ॥ ३५ ॥

- उत्तर - **आहारपच्चक्खाणेणं** - आहार का प्रत्याख्यान-त्याग कर देने से, **जीवियासंसप्पओगं** - जीने की लालसा, **वोच्छिंदइ**- छूट जाती है, **जीवियासंसप्पओगं**-जीने की लालसा, **वोच्छिंदित्ता**- छूट जाने से, **जीवे** - जीव, **आहारमंतरेण** - आहार के बिना, **ण संकिलिस्सइ** - संक्लेश को प्राप्त नहीं होता ॥ ३५ ॥

३६ - कसाय-पच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **कसायपच्चक्खाणेणं** कषाय का प्रत्याख्यान-त्याग करने से, **जीवे** - जीव को, किं क्या, **जणयइ**- लाभ होता है ?

कसाय-पच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ, वीयरागभावपडिवण्णेवि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ ॥

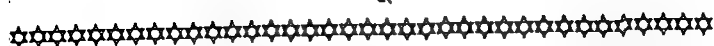
- उत्तर - **कसायपच्चक्खाणेणं** - क्रोधादि कषाय के प्रत्याख्यान-त्याग करने से, **वीयरागभावं** - वीतराग भाव, जणयइ प्राप्त होता है, **य** - और, **वीयरागभावपडिवण्णे** - वीतराग भाव को प्राप्त हुआ, **जीवे** - जीव, **समसुहदुक्खे** - सुख-दुःख में समभाव रखने वाला, **भवइ** - होता है ॥ ३६ ॥

३७ - जोग-पच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **जोगपच्चक्खाणेणं** - मन-वचन-काया रूप योगों की प्रवृत्ति का निरोध करने से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

जोग-पच्चक्खाणेणं अजोगित्तं जणयइ, अजोगी णं जीवे णवं कम्मं ण बंधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ ॥

- उत्तर - **जोगपच्चक्खाणेणं** - मन-वचन-काया रूप तीनों योगों की प्रवृत्ति का प्रत्याख्यान-निरोध करने से, **अजोगित्तं** - अयोगी अवस्था अर्थात् शैलेशी भाव को , **जणयइ** - प्राप्त होता है, **अजोगी** - अयोगी, **जीवे** - जीव के, **णवं** - नवीन, **कम्मं** - कर्मों का, **ण बंधइ** - बन्ध नहीं होता, **च** - और, **पुव्वबद्धं** - पहले बंधे हुए अघाती कर्मों की, **णिज्जरेइ** - निर्जरा होती है ॥ ३७ ॥



३८ - सरीर-पच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं णयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **सरीरपच्चक्खाणेणं** - दारिकादि शरीरों का प्रत्याख्यान-त्याग करने से, **जीवे** - जीव को, ऽ - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

सरीर-पच्चक्खाणेणं सिद्धाइसयगुणत्तणं ाव्वत्तेइ, सिद्धाइसयगुणसंपण्णो य णं जीवे लोगग्ग-वगए परमसुही भवइ ॥ ३८॥

- उत्तर - **सरीरपच्चक्खाणेणं** - औदारिकादि शरीरों का त्याख्यान-त्याग करने से, **सिद्धाइसयगुणत्तणं** - सिद्धों के ातिशय गुण, **णिव्वत्तेइ** - प्रकट होते हैं, **य** - और, **सिद्धाइसयगुण ंपण्णो** - सिद्धों के अतिशय गुण सम्पन्न, **जीवे** - जीव, **लोगग्गं** - ोकाग्र में, **उवगए** - गया हुआ जीव, **परमसुही** - परम सुखी, **भवइ**- हो जाता है अर्थात् मोक्ष में चला जाता है ॥ ३८॥

विवेचन - समवाय सूत्र ३१ वें समवाय में बतलाया गया है कि - आठ कर्मों के क्षय से सिद्ध भगवान् में ३१ गुण प्रकट होते हैं उनको सिद्धातिशय गुण कहते हैं ।

३९ - सहायपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **सहायपच्चक्खाणेणं** - सहायता का प्रत्याख्यान-त्याग करने से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ**- लाभ होता है ?

सहायपच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ,

एगीभाव-भूए य णं जीवे एगग्गं भावेमाणे अप्पझंझे अप्पकलहे अप्पकसाए ... संजमबहुले संवरबहुले समाहिए यावि भवइ ॥ ३९

- उत्तर - **सहायपच्चक्खाणेणं** - दूसरे मुनियों से सहा... लेने का प्रत्याख्यान-त्याग करने से जीव, **एगीभावं** - एकत्व ... को, **जणयइ** - प्राप्त होता है, **य** - और, **एगीभावभूए** - एक... भाव को प्राप्त हुआ, **जीवे** - जीव, **एगग्गं** - एकाग्रता ... **भावेमाणे** - भावना भाता हुआ, **अप्पसद्दे** - शब्द रहित, ... गण में भेद पडे ऐसे वचन नहीं बोलता है, **अप्पकलहे** - कल... रहित, **अप्पकसाए** - कषाय-रहित, **अप्प तुमंतुमे** - तूं तूं मैं ... रहित हो कर, **संजमबहुले** - संयम बहुल-प्रधान संयम वा... **संवरबहुले** - विशिष्ट संयम वाला, **यावि** - और, **समाहिए** ... समाधिवंत, **भवइ** - होता है ॥ ३९ ॥

४० - भत्तपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे ... जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **भत्तपच्चक्खाणेणं** - भक्त... आहार का त्याग करने से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** ... लाभ होता है ?

भत्तपच्चक्खाणेणं अणेगाइं भवसयाइं णिरुंभइ ।

- उत्तर - **भत्तपच्चक्खाणेणं** - भक्त-आहार का त्याग कर... से, **अणेगाइं भवसयाइं** - अनेक सैकडों भवों का, **णिरुंभइ** - निरोध कर देता है (अल्पसंसारी हो जाता है) ॥ ४० ॥

४१ - सब्भावपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?



- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **सब्भावपच्चक्खाणेणं** - सद्भावप्रत्याख्यान (प्रवृत्ति मात्र का त्याग करने) से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

सब्भावपच्चक्खाणेणं अणियट्टिं जणयइ, अणियट्टिपडिवण्णे य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ, तंजहा-वेयणिज्जं आउयं णामं गोयं, तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिणिव्वायइ, सव्व-दुक्खाणमंतं करेइ ॥ ४१ ॥

- उत्तर - **सब्भावपच्चक्खाणेणं** - सद्भावप्रत्याख्यान (प्रवृत्तिमात्र का त्याग करने से) जीव, **अणियट्टिं** - अनिवृत्तिकरण को, **जणयइ** - प्राप्त होता है, **य** - और, **अणियट्टिपडिवण्णे** - अनिवृत्तिकरण अर्थात् शैलेशी अवस्था को प्राप्त हुआ, **अणगारे** - अनगार, **चत्तारि** - चार, **केवलिकम्मंसे** - केवलिकर्मांश-केवली अवस्था में शेष रहे हुए भवोपग्राही अर्थात् अघाती कर्मों की ग्रन्थियों को, **खवेइ** - क्षय करता है, **तंजहा** - यथा, **वेयणिज्जं** - वेदनीय, **आउयं** - आयुष्य, **णामं** - नाम और, **गोयं** - गोत्र। **तओ**- इसके, **पच्छा**- बाद, **सिज्झइ** - सिद्ध हो जाता है अर्थात् कृतकृत्य हो जाता है, **बुज्झइ** - बुद्ध हो जाता है अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शन से सम्पूर्ण लोकालोक को जानने और देखने लग जाता है, **मुच्चइ** - कर्मों से मुक्त हो जाता है, **परिणिव्वायइ** - कर्म रूपी अग्नि को बुझा कर शीतल हो जाता है और, **सव्वदुक्खाणं** - सभी दुःखों का, **अंतं करेइ** - अन्त कर देता है ॥ ४१ ॥

४२ - पडिरूवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **पडिरूवयाए** - प्रतिरूपता

(द्रव्य और भाव से शुद्ध स्थविरकल्पी मुनि का वेश धारण करने) से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

पडिरूवयाए णं लाघवियं जणयइ, लहुभूएणं जीवे अप्पमत्ते पागडलिंगे पसत्थलिंगे विसुद्धसम्मत्ते सत्तसमिइ-समत्ते सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु वीससणिज्जरूवे अप्पपडिलेहे जिइंदिए विउलतव-समिइसमण्णागए यावि भवइ ॥ ४२॥

- उत्तर - **पडिरूवयाए** - प्रतिरूपता से, **लाघवियं** - लघुता (हल्कापन) को, **जणयइ** - प्राप्त होता है, **लहुभूएणं** - लघुभूत बना हुआ, **जीवे** - जीव, **अप्पमत्ते** - प्रमाद रहित होता है तथा, **पागडलिंगे** - प्रकट लिंग (मुनिवेशादि) और, **पसत्थलिंगे**- प्रशस्त लिंग (जीव रक्षा के निमित्त मुखवस्त्रिका, रजोहरणादि वाला) हो कर, **विसुद्धसम्मत्ते** - विशुद्ध सम्यक्त्वी होता है तथा, **सत्तसमिइसमत्ते**- सत्त्वसमिति समाप्त-सत्त्व-धैर्य समिति वाला हो कर, **सव्वपाणभूय-जीवसत्तेसु** - सभी प्राणी-भूत-जीव-सत्त्वों का, **वीससणिज्जरूवे**- विश्वसनीय रूप वाला होता है और, **अप्पपडिलेहे** - अल्प उपधि होने के कारण अल्प प्रतिलेखना वाला, **जिइंदिए** - जितेन्द्रिय, **विउलतवसमिइ समण्णागए यावि**- विपुल तप और समिति युक्त, **भवइ** - होता है अर्थात् महातपस्वी होता है ॥ ४२॥

४३ - वेयावच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **वेयावच्चेणं** - वैयावृत्य करने से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

वेयावच्चेणं तित्थयर-णामगोयं कम्मं णिबंधइ ॥

– उत्तर – **वेयावच्चेणं** – वैयावृत्य करने से, **तित्थयरणामगोयं कम्मं** – तीर्थंकर नाम–गोत्र कर्म का, **णिबंधइ** – बन्ध करता है ॥४३ ॥

४४ – सव्वगुणसंपण्णयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

– प्रश्न – **भंते** – हे भगवन् ! **सव्वगुणसंपण्णयाए** – सर्वगुणसम्पन्नता–ज्ञानादि समस्त गुणों से युक्त होने से, **जीवे** – जीव को, **किं** – क्या, **जणयइ** – लाभ होता है ?

सव्वगुणसंपण्णयाए णं अपुणरावत्तिं जणयइ, अपुणरावत्तिं पत्तए णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं णो भागी भवइ ॥ ४४॥

– उत्तर – **सव्वगुणसंपण्णयाए** – ज्ञानादि सभी गुणों से सम्पन्न होने से जीव, **अपुणरावत्तिं** – अपुनरागमन (जन्म–मरण रूप संसार में फिर नहीं आने रूप) **जणयइ** – लाभ प्राप्त करता है, **अपुणरावत्तिं** – अपुनरागमन को, **पत्तए णं** – प्राप्त हुआ, **जीवे** – जीव, **सारीरमाणसाणं** – शारीरिक और मानसिक, **दुक्खाणं** – दुःखों का, **भागी** – भागी, **णो भवइ** – नहीं होता है ॥ ४४ ॥

४५ – वीयरागयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

– प्रश्न – **भंते** – हे भगवन् ! **वीयरागयाए** – वीतरागता से, **जीवे** – जीव को, **किं** – क्या, **जणयइ** – लाभ होता है ?

वीयरागयाए णं णेहाणुबंधणाणि तण्हाणुबंधणाणि य वोच्छिंदइ मणुण्णामणुण्णेसु सद्द-फरिसरसरूवगंधेसु चेव विरज्जइ ॥ ४५ ॥

– उत्तर – **वीयरागयाए** – वीतरागता से, **णेहाणु- बंधणाणि**- स्त्री-पुत्र सगे-सम्बन्धी आदि का स्नेह, **य** – और, **तण्हाणुबंधणाणि**- धन-धान्य आदि की तृष्णा का, **वोच्छिंदइ** – विनाश हो जाता है और, **मणुण्णामणुण्णेसु** – मनोज्ञ और अमनोज्ञ (प्रिय और अप्रिय) **सद्दफरिसरसरूवगंधेसु चेव** – शब्द-स्पर्श-रस- प और ग इन विषयों से, **विरज्जइ** – विरक्त हो जाता है ॥ ४५ ॥

४६ – खंतीए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

– प्रश्न – **भंते** – हे भगवन् ! **खंतीए** – क्षमा करने से, **जीवे**- जीवे को, **किं** – क्या, **जणयइ** – लाभ होता है ?

खंतीए णं परीसहे जिणेइ ॥ ४६ ॥

– उत्तर – **खंतीए** – क्षमा करने से जीव, **परीसहे** – परीषहों को, **जिणेइ** – जीत लेता है ॥ ४६ ॥

४७ – मुत्तीए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

– प्रश्न – **भंते** – हे भगवन् ! **मुत्तीए** – मुक्ति (निर्लोभता) से, **जीवे** – जीव को, **किं** – क्या, **जणयइ** – लाभ होता है ?

मुत्तीए णं अकिंचणं जणयइ, अकिंचणे य जीवे अत्थ-लोलाणं पुरिसाणं अपत्थणिज्जे भवइ ॥ ४७ ॥

–उत्तर – **मुत्तीए** – निर्लोभता से, **अकिंचणं** – अकिञ्चनभाव (परिग्रह रहित) की, **जणयइ** – प्राप्ति होती है, **य**– और, **अकिंचणे** – अकिञ्चन, **जीवे** – जीव, **अत्थलोलाणं** – अर्थलोल- धन के लोभी, **पुरिसाणं** – पुरुषों का, **अपत्थणिज्जे** – अप्रार्थनीय, **भवइ** – होता है अर्थात् वह धनलोभी चोरादि द्वारा नहीं सताया जाता है और परिग्रह-रहित होने के कारण उसको किसी प्रकार का भय और चिन्ता भी नहीं होती है ॥ ४७ ॥

☆☆

४८ - अज्जवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **अज्जवयाए** - आर्जवता (सरलता) से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

अज्जवयाए णं काउज्जुययं भावुज्जुययं भासुज्जुययं अविसंवायणं जणयइ, अविसंवायण-संपण्णयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ॥ ४८ ॥

- उत्तर - **अज्जवयाए** - ऋजुता-सरलता (निष्कपटता) से जीव को, **काउज्जुययं** - काया की ऋजुता, **भावुज्जुययं** - भाव की ऋजुता, **भासुज्जुययं** - भाषा की ऋजुता और, **अविसंवायणं** - अविसंवादन भाव की, **जणयइ** - प्राप्ति होती है अर्थात् ऐसा सरल जीव किसी के साथ ठगाई नहीं करता, **अविसंवायण संपण्णयाए** - अविसंवादन सम्पन्नता रूप भाव को प्राप्त हुआ (किसी को न ठगने वाला), **जीवे** - जीव, **धम्मस्स** - धर्म का, **आराहए** - आराधक, **भवइ** - होता है ॥ ४८ ॥

४९ - मद्दवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **मद्दवयाए णं** - मृदुता (स्वभाव की कोमलता) से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

मद्दवयाए णं अणुस्सियत्तं जणयइ, अणुस्सियत्ते णं जीवे मिउमद्दवसंपण्णे अट्ठ मयट्ठाणाइं णिट्ठवेइ ॥ ४९ ॥

- उत्तर - **मद्दवयाए** - मृदुता (कोमलता) से जीव, **अणुस्सियत्तं** - अनुच्छ्रितत्व, **जणयइ** - अहंकार-रहित हो जाता है, **अणुस्सियत्ते**- अनुच्छ्रितत्व-अहंकार-रहित बना हुआ, **जीवे** -

✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡

जीव, **मिउमद्दवसंपण्णे** - मृदुमार्दव-सम्पन्न (नम्र और कोमल स्वभाव वाला) हो कर, **अट्ठ** - आठ, **मयट्ठाणाइं** - मद स्थानों का, **णिट्ठवेइ** - परित्याग कर देता है अर्थात् ऐसा विनीत और सरल जीव जाति, कुल, बल, रूप, तप, ज्ञान, लाभ और ऐश्वर्य, इन आठ का मद नहीं करता है ॥ ४९ ॥

५० - भावसच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे पूज्य ! **भावसच्चेणं** - भाव-सत्य से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

भावसच्चेणं भावविसोहिं जणयइ, भावविसोहीए वट्टमाणे जीवे अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ, अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठित्ता परलोगधम्मस्स आराहए भवइ ॥ ५० ॥

- उत्तर - **भावसच्चेणं** - भाव-सत्य से, **भावविसोहिं** - भाव-विशुद्धि को **जणयइ** - प्राप्त करता है, **भावविसोहीए** - भाव-विशुद्धि में, **वट्टमाणे** - वर्तमान, **जीवे** - जीव, **अरहंतपण्णत्तस्स** - अरिहंत देव द्वारा प्ररूपित, **धम्मस्स** - धर्म की, **आराहणयाए** - आराधना करने के लिए, **अब्भुट्ठेइ** - उद्यत होता है, **अरहंतपण्णत्तस्स** - अरिहंत देव द्वारा प्ररूपित, **धम्मस्स** - धर्म की, **आराहणयाए** - आराधना के लिए, **अब्भुट्ठित्ता** - उद्यत होकर, **परलोगधम्मस्स** - परलोक धर्म का, **आराहए** - आराधक, **भवइ** - होता है ॥ ५० ॥

५१ - करण-सच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?



- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **करणसच्चेणं** - करण-सत्य (सत्यप्रवृत्ति) से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

करण-सच्चेणं करणसत्तिं जणयइ, करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जहावाई तहाकारी यावि भवइ ॥ ५१ ॥

- उत्तर - **करणसच्चेणं** - करण-सत्य से, **करणसत्तिं** - सत्य क्रिया करने की शक्ति, **जणयइ** - उत्पन्न होती है, **करणसच्चे** - करण-सत्य में, **वट्टमाणे** - प्रवृत्ति करने वाला, **जीवे**- जीव, **जहावाई** - जैसा बोलता है, **तहाकारी यावि भवइ** - वैसा ही करता है ॥ ५१ ॥

५२ - जोग-सच्चेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **जोगसच्चेणं** - मन वचन काया रूप योग-सत्य से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

जोग-सच्चेणं जोगे विसोहेइ ॥ ५२ ॥

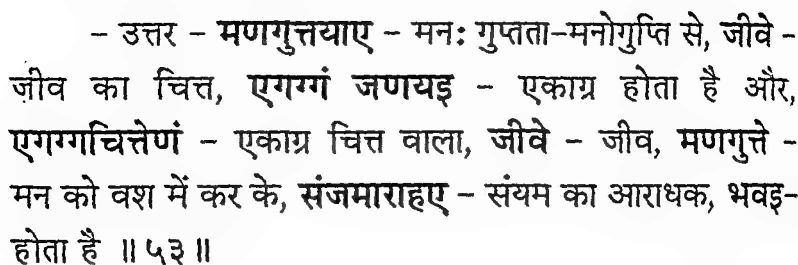
- उत्तर - **जोगसच्चेणं** - योग-सत्य से, **जोगे** - योगों की, **विसोहेइ** - विशुद्धि होती है ॥ ५२ ॥

५३ - मण-गुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **मणगुत्तयाए** - मनः गुप्तता- मनोगुप्ति (मन को वश में रखने) से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

मण-गुत्तयाए णं जीवे एगग्गं जणयइ, एगग्ग-चित्तेणं जीवे मणगुत्ते संजमाराहए भवइ ॥ ५३ ॥

☆☆☆



– उत्तर – **मणगुत्तयाए** – मनः गुप्तता-मनोगुप्ति से, **जीवे** – ज़ीव का चित्त, **एगग्गं जणयइ** – एकाग्र होता है और, **एगग्गचित्तेणं** – एकाग्र चित्त वाला, **जीवे** – जीव, **मणगुत्ते** – मन को वश में कर के, **संजमाराहए** – संयम का आराधक, **भवइ**– होता है ॥५३॥

५४ – वय-गुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

– प्रश्न – **भंते** – हे भगवन् ! **वयगुत्तयाए** – वाग् गुप्तता-वचनगुप्ति से, **जीवे** – जीव को, **किं** – क्या, **जणयइ** – लाभ होता है ?

वय-गुत्तयाए णं णिव्वियारत्तं जणयइ, णिव्वियारेणं जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोग-साहणजुत्ते यावि भवइ ॥५४॥

– उत्तर – **वयगुत्तयाए** – वाग् गुप्तता-वचनगुप्ति से, **णिव्वियारत्तं** – निर्विकार भाव की, **जणयइ** – प्राप्ति होती है, **णिव्वियारेणं** – निर्विकारी, **जीवे** – जीव, **वइगुत्ते** – वचन-गुप्त होता है, **यावि** – और, **अज्झप्पजोग साहणजुत्ते** – अध्यात्म योग (धर्म ध्यान) आदि के साधनों से युक्त, **भवइ** – होता है ॥५४॥

५५ – काय-गुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

– प्रश्न – **भंते** – हे भगवन् ! **कायगुत्तयाए** – कायगुप्तता-काय-गुप्ति का पालन करने से, **जीवे** – जीव को, **किं** – क्या **जणयइ** – लाभ होता है ?

काय-गुत्तयाए संवरं जणयइ, संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवणिरोहं करेइ ॥ ५५ ॥



– उत्तर – **कायगुत्तयाए** – काय गुप्तता–कायगुप्ति से, **संवरं**– संवर की, **जणयइ** – प्राप्ति होती है, **पुणो** – फिर, **संवरेणं** – संवर से, **कायगुत्ते** – कायगुप्त बना हुआ जीव, **पावासवणिरोहं** – पाप आस्रवों का निरोध, **करेइ** – कर देता है ॥५५ ॥

५६ – मण-समाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

– प्रश्न – **भंते** – हे भगवन् ! **मणसमाहारणयाए** – मनसमाधारणता (आगम के अनुसार मन की प्रवृत्ति करने) से, **जीवे** – जीव को, **किं** – क्या, **जणयइ** – लाभ होता है ?

मण-समाहारणयाए णं एगग्गं जणयइ, एगग्गं जणइत्ता णाणपज्जवे जणयइ णाणपज्जवे जणइत्ता सम्मत्तं विसोहेइ मिच्छत्तं च णिज्जरेइ ॥ ५६ ॥

– उत्तर – **मणसमाहारणयाए** – मनसमाधारणता से अर्थात् संकल्प-विकल्पों से हटा कर स्वाध्यायादि उत्तम कार्यों में मन को लगाने से, **एगग्गं** – मन एकाग्र, **जणयइ** – होता है, **एगग्गं** – मन एकाग्र, **जणइत्ता** – होने पर, **णाणपज्जवे** – ज्ञान की पर्यायों की, **जणयइ** – प्राप्ति होती है, **णाणपज्जवे** – ज्ञान पर्यायों की, **जणइत्ता** – प्राप्ति होने पर जीव, **सम्मत्तं** – सम्यक्त्व की, **विसोहेइ**– विशुद्धि करता है, **च** – और, **मिच्छत्तं** – मिथ्यात्व की, **णिज्जरेइ** – निर्जरा करता है ॥५६ ॥

५७ – वय-समाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

– प्रश्न – **भंते** – हे भगवन् ! **वयसमाहारणयाए** –

☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆

वाक्समाधारणता वचन-समाधारणता (वचन को पठन पाठ स्वाध्यायादि में लगाये रहने) से, **जीवे**- जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

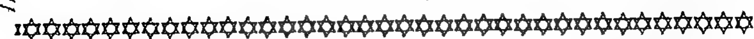
वय-समाहारणयाए णं वयसाहारण-दंसणपज्जवे विसोहेइ, वयसाहारण-दंसणप्पज्जवे विसोहित्ता सुलह-बोहियत्तं णिव्वत्तेइ दुल्लहबोहियत्तं णिज्जरेइ ॥५७॥

- उत्तर - **वयसमाहारणयाए** - वचन-समाधारणता से, **वयसाहारण दंसणपज्जवे** - वचन सम्बन्धी दर्शन-पर्यायें **विसोहेइ** - विशुद्ध होती हैं, **वयसाहारण दंसणपज्जवे** - वचन-सम्बन्धी दर्शन (सम्यक्त्व) पर्यायों को, **विसोहित्ता** - विशुद्ध कर के जीव, **सुलह बोहियत्तं** - सुलभबोधिपन को, **णिव्वत्तेइ** - प्राप्त करता है और, **दुल्लहबोहियत्तं** - दुर्लभबोधिपन की **णिज्जरेइ** - निर्जरा करता है ॥ ५७ ॥

५८ - काय-समाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **कायसमाहारणयाए** कायसमाधारणता (काया को संयमित करने) से, **जीवे** - जीव को **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

काय-समाहारणयाए णं चरित्तपज्जवे विसोहेइ चरित्तपज्जवे विसोहित्ता अहक्खाय चरित्तं विसोहेइ अहक्खाय-चरित्तं विसोहित्ता चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ, तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परि णिव्वायइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥ ५८ ॥



- उत्तर - **कायसमाहारणयाए** - कायसमाधारणता से जीव, **चरित्तपज्जवे** - चारित्र की पर्यायों को, **विसोहेइ** - विशुद्ध करता है, **चरित्तपज्जवे** - चारित्र की पर्यायों को, **विसोहित्ता** - विशुद्ध करके, **अहक्खाय चरित्तं** - यथाख्यात चारित्र को, **विसोहेइ** - विशुद्ध करता है, **अहक्खाय चरित्तं** - यथाख्यात-चारित्र को, **विसोहित्ता** - विशुद्ध करके, **चत्तारि** - चार, **केवलिकम्मंसे** - केवलिकर्मांश-केवली अवस्था में शेष रहे हुए चार भवोपग्राही अघाती कर्मों का, **खवेइ** - क्षय कर देता है, **तओ** - इसके, **पच्छा**- बाद, **सिज्झइ** - सिद्ध हो जाता है अर्थात् उसके सब कार्य सिद्ध हो जाने से कृतकृत्य हो जाता है, **बुज्झइ** - बुद्ध हो जाता है अर्थात् केवलज्ञान केवलदर्शन से सम्पूर्ण लोकालोक को जानने और देखने लग जाता है, **मुच्चइ** - सब कर्मों से मुक्त हो जाता है, **परिणिव्वायइ** - कर्माग्नि को बुझा कर शीतल हो जाता है और, **सव्वदुक्खाणं** - समस्त दुःखों का, **अंतं करेइ** - अन्त कर देता है ॥ ५८ ॥

५९ - णाण-संपण्णयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **णाणसंपण्णयाए** - ज्ञान सम्पन्नता (श्रुतज्ञान की प्राप्ति) से, **जीव** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

णाण-संपण्णयाए णं सव्वभावाहिगमं जणयइ, णाणसंपण्णे णं जीवे चाउरंते संसार-कंतारे ण विणस्सइ ।

जहा सूई ससुत्ता, पडियावि ण विणस्सइ ।
तहा जीवे ससुत्ते, संसारे ण विणस्सइ ॥ १ ॥



णाण-विणय-तव-चरित्त-जोगे संपाउणइ, ससमय- परसमय-विसारए य असंघायणिज्जे भवइ ॥

- उत्तर - **णाणसंपण्णयाए** - ज्ञान सम्पन्नता से, **सव्व-भावाहिगमं** - सभी पदार्थों का अभिगम-ज्ञान, **जणयइ** - होता है. **णाणसंपण्णे** - ज्ञानसम्पन्न , **जीवे** - जीव, **चाउरंते** - चतुर्गति रूप **संसार कंतारे** - संसार कान्तार-वन में, **ण विणस्सइ**- नहीं भटकता है, **जहा**- जिस प्रकार, **ससुत्ता** - डोरे सहित, **सूई** - सूई, **पडिया**- कूड़े कचरे में गिर जाने पर, **वि** - भी, **ण विणस्सइ**- गुम नहीं होती, **तहा** - वैसे ही, **ससुत्ते** - सश्रुत-श्रुतज्ञानी, **जीवे** - जीव, **संसारे** - संसार में, **ण विणस्सइ**- नहीं भटकता है किन्तु **णाण-विणयतवचरित्तजोगे** - ज्ञान, विनय, तप, और चारित्र के योगों को, **संपाउणइ** - प्राप्त करता है, **ससमय परसमयविसारए**- स्वसमय और परसमय का (अपने सिद्धान्त और पर सिद्धान्त का विशारद-ज्ञाता होता है, **य** - और, **असंघायणिज्जे** - असंघातनीय- वादी-प्रतिवादी द्वारा शास्त्रार्थ में पराभव (हार) को प्राप्त नहीं होता । अतएव सबके लिये माननीय (प्रामाणिक पुरुष) **भवइ** - होता है ॥ ५९ ॥

६०- दंसणसंपण्णयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **दंसणसंपण्णयाए णं** - दर्शन-सम्पन्नता (क्षायोपशमिक सम्यक्त्व) से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

दंसणसंपण्णयाए णं भवमिच्छत्तछेयणं करेइ, परं ण विज्झायइ परं अविज्झाएमाणे अणुत्तरेणं

☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆

णाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ ॥ ६० ॥

- उत्तर - **दंसणसंपण्णयाए** - दर्शन-सम्पन्नता से जीव, **भवमिच्छत्तछेयणं** - भवभ्रमण के कारण मिथ्यात्व का छेदन-नाश, **करेइ** - कर देता (क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता) है, **परं** - फिर आगामी काल में, **ण विज्झायइ** - उसका सम्यक्त्व रूपी दीपक बुझता नहीं है, **परं** - किन्तु, **अविज्झाएमाणे**- उस सम्यक्त्व के प्रकाश से युक्त होता हुआ जीव, **अणुत्तरेणं** - अनुत्तर-प्रधान, **णाणदंसणेणं** - ज्ञान-दर्शन (केवलज्ञान केवल-दर्शन) से, **अप्पाणं** - अपनी आत्मा को, **संजोएमाणे** - संयुक्त करता हुआ और, **सम्मं** - सम्यक् प्रकार से, **भावेमाणे** - भावना भाता हुआ, **विहरइ** - विचरता है ॥ ६० ॥

विवेचन - यदि पहले आयुष्य नहीं बंधा हो ऐसे जीव को क्षायिक समकित प्राप्त हुई हो तो वह जीव उसी भव में मोक्ष चला जाता है । यदि आयुष्य (देवता नारकी) बंध गया हो तो तीसरे भव में मोक्ष चला जाता है । यदि तीस अकर्मभूमि के मनुष्य (युगलिक) का अथवा स्थलचर तिर्यञ्च युगलिक का आयुष्य बंध गया हो तो चौथे भव में मोक्ष चला जाता है । क्यों कि युगलिक मरकर देवगति में ही जाता है । देव मरकर, मनुष्य होकर मोक्ष में चला जाता है । इस प्रकार जिस भव में क्षायिक समकित प्राप्त हुई वह पहला भव, दूसरा युगलिक का भव, तीसरा देव का भव और मनुष्य का चौथा भव । इस प्रकार चार भव होते हैं ।

६१ - चरित्त-संपण्णयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?



– प्रश्न – **भंते** – हे भगवन् ! **चरित्तसंपण्णयाए** चारित्र-सम्पन्नता से, **जीवे** – जीव को, **किं** – क्या, **जणयइ** – ल होता है ?

चरित्त-संपण्णयाए णं सेलेसीभावं जणय सेलेसिं पडिवण्णे य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मं खवेइ, तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ प णिव्वायइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥ ६१ ॥

– उत्तर – **चरित्तसंपण्णयाए** – चारित्र सम्पन्नता **सेलेसीभावं** – शैलेशी अवस्था, **जणयइ** – प्राप्त होती है, य और, **सेलेसिं** – शैलेशी अवस्था को, **पडिवण्णे** – प्राप्त हु **अणगारे** – अनगार, **चत्तारि** – चार, **केवलिकम्मंसे** केवलिकर्मांश–केवलि अवस्था में रहे हुए चार भवोपग्राही अ कर्मों का, **खवेइ** – क्षय कर देता है, **तओ** – इसके, **पच्छा**- ब **सिज्झइ** – सिद्ध हो जाता है, **बुज्झइ** – बुद्ध हो जाता है, **मुच्च** मुक्त हो जाता है, **परिणिव्वायइ** – कर्माग्नि को बुझा कर शी हो जाता है और, **सव्वदुक्खाणं** – सभी दुःखों का, **अंतं करे** अन्त कर देता है ॥ ६१ ॥

विवेचन – मूल पाठ में "**केवलिकम्मंसे**" शब्द आया यहाँ पर कर्मांश शब्द का टीकाकार ने सत्कर्म ऐसी संस्कृत छ की है । अंश शब्द का 'सत्' शब्द पर्यायवाची दिया है ।

शैल का अर्थ है – पर्वत और ईश का अर्थ है स्वामी, रा संसार के समस्त पर्वतों में जम्बूद्वीप का मेरु पर्वत सबसे ऊंच अर्थात् एक हजार योजन जमीन में ऊंडा है और ९९ हजार यो धरती से ऊपर ऊंचा है इस प्रकार मेरु पर्वत की ऊंचाई एक ल



ोजन की है । वह अचल अडोल अत्यंत स्थिर है । उसी प्रकार ान वचन और काया इन तीनों योगों के निरोध से मुनि भी अचल और अडोल हो जाते हैं । इस अचलता, अडोलता और स्थिरता का नाम ही शैलेशी भाव है ।

६२ - सोइंदियणिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **सोइंदियणिग्गहेणं** - श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह (श्रोत्रेन्द्रिय को वश करने) से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?

सोइंदिय-णिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु सद्देसु रागदोस-णिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं च णं कम्मं ण बंधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ ॥ ६२ ॥

- उत्तर - **सोइंदियणिग्गहेणं** - श्रोत्रेन्द्रिय के निग्रह से, **मणुण्णामणुण्णेसु** - मनोज्ञ और अमनोज्ञ (प्रिय और अप्रिय) **सद्देसु** - शब्दों में, **रागदोसणिग्गहं** - रागद्वेष का निग्रह, **जणयइ** - होता है, **च** - और, **तप्पच्चइयं** - तन्निमित्तक (श्रोत्रेन्द्रिय सम्बन्धी) **कम्मं** - कर्म का, **ण बंधइ** - बंध नहीं होता, **च** - और, **पुव्वबद्धं** - पहले बाँधे हुए कर्मों की, **णिज्जरेइ** - निर्जरा कर देता है ॥ ६२ ॥

६३ - चक्खिदिय-णिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **चक्खिदिय णिग्गहेणं** - चक्षु इन्द्रिय के निग्रह से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ** - लाभ होता है ?



चक्खिंदिय-णिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु रूवे॰ रागदोस-णिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं च णं कम्म॰ ण बंधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ ॥ ६३ ॥

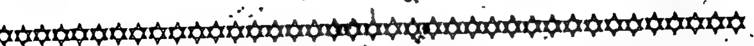
– उत्तर – **चक्खिंदियणिग्गहेणं** – चक्षु इन्द्रिय के नि॰ से, **मणुण्णामणुण्णेसु** – मनोज्ञ और अमनोज्ञ, **रूवेसु** – रूपों मे॰ **रागदोसणिग्गहं** – रागद्वेष का निग्रह, **जणयइ** – होता है, **च**-औ॰ **तप्पच्चइयं** – चक्षुरिन्द्रिय निमित्तक, **कम्मं** – कर्मों का, **ण बंध॰** – बन्ध नहीं होता है, **च** – और, **पुव्वबद्धं**– पहले बंधे हुए क॰ की, **णिज्जरेइ** – निर्जरा हो जाती है ॥ ६३ ॥

६४ – घाणिंदिय-णिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

– प्रश्न – **भंते** – हे भगवन् ! **घाणिंदिय णिग्गहेणं** – घ्राणेन्द्रिय के निग्रह से, **जीवे** – जीव को, **किं** – क्या, **जणयइ** – लाभ होता है ?

घाणिंदिय-णिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु गंधे॰ रागदोस-णिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं च णं कम्म॰ ण बंधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ ॥ ६४ ॥

– उत्तर – **घाणिंदिय णिग्गहेणं** – घ्राणेन्द्रिय के निग्रह से॰ **मणुण्णामणुण्णेसु** – मनोज्ञ और अमनोज्ञ, **गंधेसु** – गन्धों मे॰ **रागदोस णिग्गहं** – रागद्वेष का निग्रह, **जणयइ** – होता है, **च** और, **तप्पच्चइयं** – तन्निमित्तक-घ्राणेन्द्रिय निमित्तक, **कम्मं** कर्मों का, **ण बंधइ** – बन्ध नहीं होता, **च** – और, **पुव्वबद्धं** पहले बाँधे हुए कर्मों की, **णिज्जरेइ** – निर्जरा हो जाती है ॥ ६४



६५ - जिब्भिंदिय-णिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **जिब्भिंदिय णिग्गहेणं** - जिह्वा इन्द्रिय के निग्रह से, **जीवे** - जीव को, **किं** - क्या, **जणयइ**- लाभ होता है ?

जिब्भिंदिय-णिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु रसेसु रागदोसणिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं च णं कम्मं ण बंधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ ॥ ६५ ॥

- उत्तर - **जिब्भिंदिय णिग्गहेणं** - जिह्वा इन्द्रिय के निग्रह से, **मणुण्णामणुण्णेसु** - मनोज्ञ और अमनोज्ञ, **रसेसु** - रसों में **रागदोसणिग्गहं** - राग-द्वेष का निग्रह होता है, **च** - और, **तप्पच्चइयं** - तन्निमित्तक, **कम्मं** - कर्मों का, **ण बंधइ** - बन्ध नहीं होता है, **च** - और, **पुव्वबद्धं** - पहले बान्धे हुए कर्मों की **णिज्जरेइ** - निर्जरा हो जाती है ॥ ६५ ॥

६६ - फासिंदिय-णिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **फासिंदियणिग्गहेणं** - स्पर्शन इन्द्रिय के निग्रह से, **जीवे** - जीव को **किं** - क्या, **जणयइ**- लाभ होता है ?

फासिंदिय-णिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु फासेसु रागदोसणिग्गहं जणयइ तप्पच्चइयं च णं कम्मं ण बंधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ ।

- उत्तर - **फासिंदियणिग्गहेणं** - स्पर्शन इन्द्रिय के निग्रह

से, **मणुण्णामणुण्णेसु** - मनोज्ञ और अमनोज्ञ, **फासेसु** - स्पर्शों में **रागदोसणिग्गहं** - राग-द्वेष का निग्रह, **जणयइ** - होता है, **च** - और, **तप्पच्चइयं** - तन्निमित्तक, **कम्मं** - कर्मों का, **ण बंधइ** - बन्ध नहीं होता. **च** - और, **पुव्वबद्धं** - पहले बान्धे हुए कर्मों की **णिज्जरेइ** - निर्जरा हो जाती है ॥ ६६ ॥

विवेचन - प्रश्न -इन्द्रिय किसे कहते हैं ?

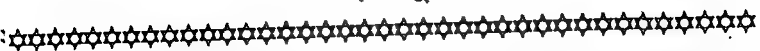
उत्तर - शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श इन पांच विषयों में से किसी भी नियत विषय का ज्ञान करने वाली आत्म-चेतना एवं उसके साधन और पौद्‌गलिक आकार को इन्द्रिय कहते हैं अथवा चमड़ी, नेत्र आदि जिन साधनों से सर्दी, गर्मी, काला, पीला आदि विषयों का ज्ञान होता है तथा जो अङ्गोपाङ्ग और निर्माण नाम कर्म के उदय से प्राप्त होती हैं, वह इन्द्रिय कहलाती है । इन्द्रियाँ पांच हैं उनके विषय और विकार इस प्रकार हैं -

१. श्रोत्रेन्द्रिय के ३ विषय :- जीव शब्द, अजीव शब्द और मिश्र शब्द । इसके बारह विकार हैं यथा - ये तीन शुभ, तीन अशुभ इन छह पर राग और छह पर द्वेष इस प्रकार बारह विकार हैं।

२. चक्षु इन्द्रिय के ५ विषयः- काला, नीला, लाल, पीला और सफेद । इनके ६० विकार हैं यथा - ५ सचित्त, ५ अचित्त, ५ मिश्र - ये १५ शुभ और १५ अशुभ । इन ३० पर राग और ३० पर द्वेष इस प्रकार ६० विकार हैं ।

३. घ्राणेन्द्रिय के दो विषय :- सुरभिगंध (सुगन्ध-शुभ गंध) और दुरभिगन्ध (दुर्गन्ध - अशुभ गन्ध) इनके १२ विकार हैं यथा - २. सचित्त २. अचित्त और २ मिश्र । इन ६ पर राग और ६ पर द्वेष, इस प्रकार १२ विकार हैं ।

४. रसनेन्द्रिय (जिह्वा इन्द्रिय) के ५ विषयः- तीखा,



कड़वा, कषैला, खट्टा और मीठा । इनके ६० विकार हैं यथा - ५ सचित्त, ५ अचित्त, ५ मिश्र, ये १५ शुभ १५ अशुभ, इन ३० पर राग और ३० पर द्वेष । इस प्रकार ६० विकार हैं ।

५. स्पर्शनेन्द्रिय के ८ विषय :- कर्कश (खुरदरा), मृदु (कोमल), लघु (हलका), गुरु (भारी), शीत (ठण्डा), उष्ण (गर्म) रूक्ष (लूखा) और स्निग्ध (चिकना) । इनके ९६ विकार हैं । यथा- ८ सचित्त, ८ अचित्त, ८ मिश्र, ये २४ शुभ और २४ अशुभ, इन ४८ पर राग और ४८ पर द्वेष । इस प्रकार ९६ विकार हैं ।

पाँच इन्द्रियों के सामने उन-उन के विषय आवे अर्थात् शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श आने पर अर्थात् शब्द कान में पड़ने पर सुना न जाय ऐसा तो हो नहीं सकता है, किन्तु उनमें विकार भाव को प्राप्त होना अर्थात् राग द्वेष करने से कर्मों का बन्ध होता है । जैसा कि - आचाराङ्ग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध के १५ वें अध्ययन में कहा है कि -

ण सक्का ण सोउं सद्दा, सोयविसयमागया ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ १ ॥
ण सक्कं रूवमदट्ठुं चक्खुविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ २ ॥
णो सक्का गंधमग्घाउं, णासाविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ ३ ॥
णो सक्का रसमस्साउं, जीहाविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ ४ ॥
णो सक्का फासमवेदेउं, फासविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ ५ ॥

अर्थ - इन गाथाओं का सारांश यह है कि - पांच इन्द्रियों

के सामने शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श आने पर श्रोत्रेन्द्रिय आदि इन्द्रियों द्वारा उनका ग्रहण न हो यह तो संभव नहीं है किन्तु उनमें विकार को प्राप्त नहीं होना अर्थात् राग द्वेष नहीं करना यह मुनिजन आदि ज्ञानी पुरुषों का कर्त्तव्य है इससे उनको कर्म बन्ध नहीं होगा क्योंकि राग द्वेष करने से कर्म बन्ध होता है ।

पांचों परिपूर्ण इन्द्रियों का मिलना महान् पुण्यवाणी का उदय है । इनको नष्ट भ्रष्ट कर देना उचित नहीं है । यह अज्ञानता है। इनके विषय में राग द्वेष करने रूप विकार को प्राप्त नहीं होना, यह इन्द्रिय निग्रह का वास्तविक अर्थ है और यही इनका सदुपयोग है ।

६७ - कोह-विजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **कोहविजएणं** - क्रोध विजय-क्रोध को जीतने से, **जीवे** - जीव को, **किं** - किस गुण की, **जणयइ** - प्राप्ति होती है ?

कोह-विजएणं खंतिं जणयइ, कोहवेयणिज्जं कम्मं ण बंधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ ॥ ६७ ॥

- उत्तर - **कोहविजएणं** - क्रोध विजय-कोध को जीतने से जीव को, **खंतिं** - क्षान्ति-क्षमा गुण की, **जणयइ** - प्राप्ति होती है और क्षमागुण युक्त जीव, **कोह वेयणिज्जं** - क्रोध वेदनीय (क्रोधजन्य)क्रोध करके वेदने योग्य अर्थात् भोगने योग्य **कम्मं** - कर्मों का, **ण बंधइ** - बन्ध नहीं करता है, **च** - और **पुव्वबद्धं** - पहले बन्धे हुए कर्मों की, **णिज्जरेइ** - निर्जरा कर देता है ॥ ६७ ॥

६८ - माण-विजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?



- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **माणविजएणं** - मान विजय-मान को जीतने से, **जीवे** - जीव को, **किं** - किस गुण की, **जणयइ** - प्राप्ति होती है ?

माण-विजएणं मद्दवं जणयइ, माणवेयणिज्जं कम्मं ण बंधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ ॥ ६८ ॥

- **उत्तर** - **माणविजएणं** - मान विजय-मान को जीतने से, **मद्दवं** - मार्दव-मृदुता (स्वभाव की कोमलता) गुण की, **जणयइ** - प्राप्ति होती है और मृदुता गुण युक्त जीव के, **माणवेयणिज्जं** - मान वेदनीय (भोगने योग्य) **कम्मं** - कर्मों का, **ण बंधइ** - बंध नहीं होता है, **च** - और, **पुव्वबद्धं** - पहले बांधे हुए मानजनित कर्मों की, **णिज्जरेइ** - निर्जरा कर देता है ॥ ६८ ॥

६९ - माया-विजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **मायाविजएणं** - माया विजय-माया को जीतने से, **जीवे** - जीव को, **किं** - किस गुण की, **जणयइ** - प्राप्ति होती है ?

माया-विजएणं अज्जवं जणयइ, माया-वेयणिज्जं कम्मं ण बंधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ ॥

- उत्तर - **मायाविजएणं** - माया विजय-माया को जीतने से, **अज्जवं** - आर्जव (सरलता) गुण की, **जणयइ** - प्राप्ति होती है और सरलता को प्राप्त हुआ जीव, **मायावेयणिज्जं** - माया वेदनीय-माया के द्वारा भोगने योग्य, **कम्मं** - कर्मों का, **ण बंधइ** - बन्ध नहीं करता, **च** - और, **पुव्वबद्धं** - पहले बंधे हुए कर्मों की, **णिज्जरेइ** - निर्जरा कर देता है ॥ ६९ ॥



७० - लोभ-विजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **लोभविजएणं** - लोभविजय-लोभ को जीतने से, **जीवे** - जीव को, **किं** - किस गुण की, **जणयइ** - प्राप्ति होती है ?

लोभ-विजए णं संतोसं जणयइ, लोभ-वेयणिज्जं कम्मं ण बंधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ ॥७०॥

- उत्तर - **लोभविजएणं** - लोभविजय-लोभ को जीतने से, **संतोसं** - सन्तोष गुण की, **जणयइ** - प्राप्ति होती है और सन्तोषी जीव, **लोभवेयणिज्जं** - लोभ-वेदनीय-लोभ के द्वारा भोगने योग्य, **कम्मं** - कर्मों का, **ण बंधइ** - बन्ध नहीं करता, **च** - और, **पुव्वबद्धं** - पहले बन्धे हुए लोभजन्य कर्मों की, **णिज्जरेइ** - निर्जरा कर देता है ॥७०॥

७१ - पिज्ज-दोस-मिच्छादंसण-विजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

- प्रश्न - **भंते** - हे भगवन् ! **पिज्जदोसमिच्छा-दंसणविजएणं** - प्रेम-द्वेष-मिथ्या-दर्शन विजय-राग-द्वेष और मिथ्यादर्शन के विजय से, **जीवे** - जीव को, **किं** - किस गुण की, **जणयइ** - प्राप्ति होती है ?

पिज्ज-दोस-मिच्छा-दंसण-विजएणं णाणदंसण-चरित्ताराहणयाए अब्भुट्ठेइ, अट्ठविहस्स कम्मस्स कम्मगंठिविमोयणयाए तप्पढमयाए जहाणुपुव्विं अट्ठवीसइविहं मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ, पंचविहं णाणावरणिज्जं, णवविहं दंसणावरणिज्जं, पंचविहं



अंतरायं एए तिण्णि वि कम्मंसे जुगवं खवेइ तओ पच्छा अणुत्तरं अणंतं कसिणं पडिपुण्णं णिरावरणं वितिमिरं विसुद्धं लोगालोगप्पभावं केवलवरणाणदंसणं समुप्पाडेइ, जाव सजोगी हवइ ताव ईरियावहियं कम्मं णिबंधइ सुहफरिसं दुसमयट्ठिइयं, तंजहा - पढमसमए बद्धं बिइयसमए वेइयं तइयसमए णिज्जिण्णं, तं बद्धं पुट्ठं उदीरियं वेइयं णिज्जिण्णं, सेयाले य अकम्मं यावि भवइ ॥ ७१ ॥

- उत्तर - **पिज्जदोसमिच्छा दंसणविजएणं** - प्रेमद्वेष मिथ्यादर्शनविजय-राग-द्वेष और मिथ्यादर्शन के विजय से जीव सब से पहले, **णाणदंसण-चरित्ताराहणयाए** - ज्ञान-दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए, **अब्भुट्ठेइ** - उद्यत होता है और बाद में, **अट्ठविहस्स** - अ **वीसइविहं (अट्ठावीसइविहं)**- अट्ठाईस प्रकार के, **मोहणिज्जं** - मोहनीय, **कम्मं** - कर्म का, **जहाणुपुव्विं** - यथानुपूर्वी-यथाक्रम से, **उग्घाएइ** - क्षय करता है। इसके बाद, **पंचविहं** - पाँच प्रकार के, **णाणावरणिज्जं** - ज्ञानावरणीय, **णवविहं** - नौ प्रकार के, **दंसणावरणिज्जं** - दर्शनावरणीय, **पंचविहं** - पाँच प्रकार के, **अंतरायं** - अन्तराय, **एए**- इन, **तिण्णि वि** - तीनों, **कम्मंसे** - कर्मांश-कर्मों को, **जुगवं** - एक साथ, **खवेइ** - क्षय करता है, **तओ** - इसके, **पच्छा** - बाद, **अणुत्तरं** - अनुत्तर, **अणंतं** - अनन्त, **कसिणं** - कृत्स्न्-सम्पूर्ण, **पडिपुण्णं** - प्रतिपूर्ण, **णिरावरणं** - निरावरण-आवरण रहित, **वितिमिरं** - अन्धकार रहित, **विसुद्धं** - विशुद्ध, **लोगालोगप्पभावं**- लोकालोकप्रभावक-लोकालोक को प्रकाशित करने वाले,

☆☆☆

केवलवरणाणदंसणं - केवलज्ञान और केवलदर्शन को, **समुप्पाडेइ** - प्राप्त करता है, **जाव** - जब तक, **सजोगी** - सयोगी, **भवइ** - रहता है, **ताव** - तब तक, **ईरियावहियं** - ईर्यापथिक, **कम्मं** - क्रिया का, **णिबंधइ** - बन्ध होता है, किन्तु, **सुहफरिसं** - इसका विपाक अति सुखकर होता है और, **दुसमयट्ठिइयं** - स्थिति केवल दो समय की होती है, **तं** - उसका, **पढमसमए** - प्रथम समय में, **बद्धं** - बन्ध होता है, **बिइयसमए** - दूसरे समय में, **वेइयं** - उदय होकर वेदा जाता है और, **तइयसमए**- तीसरे समय में, **णिज्जिणं** - निर्जीण अर्थात् क्षय हो जाता है, **तं** - इस प्रकार, **बद्धं** - प्रथम समय में बन्ध और, **पुट्ठं** - स्पर्श, दूसरे समय में, **उदीरियं** - उदीरित-उदय और, **वेइयं** - वेदित-वेदन, **यावि** - और तीसरे समय में, **णिज्जिण्णं** - निर्जीर्ण-निर्जरा हो कर, **सेयाले**- आगामी काल अर्थात् चौथे समय में जीव, **अकम्मं** - सर्वथा कर्म-रहित, **भवइ** - हो जाता है ॥ ७१ ॥

अहाउयं पालइत्ता अंतोमुहुत्तद्धावसेसाए जोगणिरोहं करेमाणे सुहुमकिरियं अप्पडिवाइं सुक्कज्झाणं झायमाणे तप्पढमयाए मणजोगं णिरुंभइ मणजोगं णिरुंभित्ता वयजोगं णिरुंभइ वयजोगं णिरुंभित्ता कायजोगं णिरुंभइ कायजोगं णिरुंभित्ता आणापाणणिरोहं करेइ, आणापाणणिरोहं करित्ता, ईसिपंचहस्सक्खरुच्चारणद्धाए य णं अणगारे समुच्छिण्णकिरियं अणियट्टिसुक्कज्झाणं झियायमाणे वेयणिज्जं आउयं णामं गोयं च एए चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवेइ ॥ ७२ ॥

☆☆☆

- केवलज्ञान के बाद, **अहाउयं** - अपनी अवशिष्ट आयु को, **पालइत्ता** - भोग कर **अंतोमुहुत्तद्धावसेसाए** - जब आयु का अन्तर्मुहूर्त काल शेष रह जाता है तब जीव, **जोगणिरोहं** - योगों का निरोध, **करेमाणे** - करने के लिए, **सुहुमकिरियं अप्पडिवाइं** - सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति नामक, **सुक्कज्झाणं** - शुक्लध्यान के तीसरे पाद का, **झायमाणे** - ध्यान करता हुआ, **तप्पढमयाए** - सब से पहले, **मणजोगं** - मन-योग का, **णिरुंभइ** - निरोध करता है, **मणजोगं** - मन-योग का, **णिरुंभित्ता** - निरोध कर के, **वयजोगं**- वचन-योग का, **णिरुंभइ** - निरोध करता है, **वयजोगं** - वचनयोग का, **णिरुंभित्ता** - निरोध करके, **कायजोगं** - काय-योग का, **णिरुंभइ** - निरोध करता है, **कायजोगं** - काययोग का, **णिरुंभित्ता**- निरोध करके, **आणापाण-णिरोहं** - आनापाननिरोध-श्वासोच्छ्वास का निरोध, **करेइ** - करता है, **आणापाणणिरोहं** - श्वासोच्छ्वास का निरोध, **करित्ता** - करके, **ईसिपंचहस्सक्खरुच्चारणद्धाए** - 'अ, इ, उ, ऋ, लृ,' इन पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उतने समय तक, **अणगारे** - वह अनगार (अयोगी केवली) **समुच्छिण्णकिरियं** - समुच्छिन्न क्रिया, **अणियट्टि-सुक्कज्झाणं** - अनिवृत्ति नामक शुक्लध्यान के चतुर्थपाद का, **झियायमाणे** - ध्यान करता हुआ, **वेयणिज्जं** - वेदनीय, **आउयं** - आयुष्य, **णामं**- नाम, **च** - और, **गोयं** - गोत्र, **एए** - इन, **चत्तारि**- चार, **कम्मंसे**- कर्मों का, **जुगवं** - एक साथ, **खवेइ** - क्षय कर देता है ॥७२॥

तओ ओरालियतेयकम्माइं च सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहित्ता उज्जुसेढिपत्ते अफुसमाणगई

उड्ढं एगसमएणं अविग्गहेणं तत्थ गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिणिव्वायइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥ ७३ ॥

– **तओ** – वेदनीयादि चार अघाती कर्मों का क्षय कर देने के बाद, **ओरालियतेयकम्माइं च** – औदारिक तैजस् और कार्मण इन सभी शरीरों को, **सव्वाहिं** – सभी प्रकार की, **विप्पजहणाहिं** - सर्वथा छोड़ने योग्य सब विधि पूर्वक, **विप्पजहित्ता** – छोड़ कर, **उज्जुसेढीपत्ते** – ऋजुश्रेणी को प्राप्त हुआ, **अफुसमाणगई** - अस्पर्शमानगति (जितने आकाश प्रदेशों में जीव रहा हुआ है उनके अतिरिक्त अन्य आकाश प्रदेशों को स्पर्श न करता हुआ) जीव, **एगसमएणं** – एक समय वाली, **उड्ढं** – ऊँची, **अविग्गहेणं** - अविग्रह गति से, **तत्थ** – वहाँ मोक्ष में, **गंता** – चला जाता है और वहाँ जा कर, **सिज्झइ** – सिद्ध हो जाता है, **बुज्झइ** – बुद्ध हो जाता है, **मुच्चइ**–समस्त कर्मों से मुक्त हो जाता है, **परिणिव्वायइ**–सब प्रकार की कर्माग्नि को सर्वथा बुझा कर शान्त हो जाता है, **सव्वदुक्खाणं**-सभी दुःखों का, **अंतं करेइ** – अन्त कर देता है ॥ ७३ ॥

विवेचन – ऊपर गाथा में बताया गया है कि जीव ऊर्ध्वलोक में लोकान्त में जाकर सिद्ध हो जाता है । यहाँ प्रश्न होता है कि - जीव लोकान्त तक कैसे जाता है ?

उत्तर – लोक का अन्तिम भाग जहाँ से अलोकाकाश का प्रारम्भ होता है । लोक के उस अंतिम भाग के स्थान का नाम सिद्धिगति या सिद्धालय है । इस स्थान पर जीव ऊर्ध्वगति से गमन करता हुआ विना मोड़ लिये सरल सीधी रेखा में गमन करता हुआ अपने देह त्याग के स्थान से एक समय मात्र में सिद्ध शिला से भी ऊपर पहुँच कर अवस्थित हो जाता है । जीव की वह सर्व कर्म



विमुक्त दशा सिद्ध अवस्था अथवा सिद्धि गति कहलाती है ।

सब कर्मों का बन्धन टूटते ही जीव में चार बातें घटित होती है - १. औपशमिक आदि भावों का क्षय होना २. शरीर का छूट जाना ३. मात्र एक समय में सिद्ध शिला से ऊपर तक ऊर्ध्व गति से गमन ४. लोकान्त में अवस्थिति ।

प्रश्न - मुक्त जीव ऊर्ध्व दिशा में ही गमन क्यों करता है ? तथा उस गमन क्रिया के कारण क्या है ?

उत्तर - जीव के ऊर्ध्व दिशा में गति करने के कारण ये हैं -

१. पूर्व प्रयोग - "पूर्व" यानी पहले के प्रयोग से । प्रयोग का यहाँ अर्थ है "आवेग" । जिस प्रकार कुम्हार का चाक (पहिया या चक्र) दण्ड को हटा लेने के बाद भी कुछ देर तक स्वयं ही घूमता रहता है । उसी प्रकार मुक्त जीव भी पहले के बन्धे हुए कर्मों के छूट जाने के बाद भी उनके निमित्त से प्राप्त आवेग के द्वारा गति करता है । जैसे कुम्हार का चाक ।

२. संगरहितता - जीव की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व है किन्तु कर्मों के संग (सम्बन्ध) के कारण उसे नीची अथवा तिरछी गति भी करनी पड़ती है । कर्मों का संग तथा सम्बन्ध टूटते ही वे अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्व गति से गमन करता है ।

३. बन्धन का टूटना - संसारी अवस्था में जीव कर्मों के बन्धन से बन्धा रहता है । उस बन्धन के टूटते ही जीव अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्व गति से गमन करता है ।

४. तथागति परिणाम - जीव की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व ही है अर्थात् ऊर्ध्व गमन जीव का स्वभाव ही है ।

जीव के ऊर्ध्व गमन स्वभाव को समझाने के लिये ज्ञाता सूत्र के सातवें अध्ययन में तुम्बे का दृष्टान्त दिया गया है । जिस

प्रकार सूखे तुम्बे पर डोरी लपेट कर और उस पर आठ बार मिट्टी का लेप कर उसे गहरे पानी में छोड़ दिया जाय तो वह भारी होने के कारण पानी के तल में पहुँच जाता है किन्तु ज्यों ज्यों मिट्टी का लेप गलता जाता है त्यों त्यों वह तुम्बा हलका होकर ऊपर उठने लगता है । सब लेप गल जाने पर वह सीधा उठ कर पानी की सतह पर आ जाता है इसी प्रकार कर्मों से मुक्त आत्मा भी कर्मबन्ध के टूटते ही ऊर्ध्वगमन करता है । दूसरा दृष्टान्त अग्नि शिखा का दिया जाता है - अग्निशिखा का स्वभाव ऊर्ध्व गमन है। उसी प्रकार मुक्त आत्मा का स्वभाव भी ऊर्ध्व गमन है तीसरा दृष्टान्त एरण्ड के बीज का दिया जाता है । जैसे ही एरण्ड के बीज पर लगा हुआ फल का आवरण सूखने पर फट जाता है तो बीज तुरन्त ही उछल कर ऊपर को जाता है उसी प्रकार कर्म मुक्त आत्मा भी ऊपर की ओर जाती है ।

प्रश्न - यदि मुक्त आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्व गमन का है तो वह लोकान्त पर जाकर ही क्यों रूक जाता है ? आगे अलोक में गमन क्यों नहीं करता ?

उत्तर - ठाणाङ्ग सूत्र के चौथे ठाणे में बतलाया है कि चार कारणों से जीव और पुद्गल लोक के बाहर नहीं जा सकते हैं ।

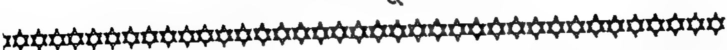
१. आगे गति का अभाव होने से ।

२. उपग्रह (धर्मास्तिकाय) का अभाव होने से ।

३. लोक के अन्त में परमाणु का अत्यंत रूक्ष हो जाने से ।

४. और अनादि काल का स्वभाव होने से ।

इस प्रकार इन चार कारणों से मुक्त जीव अलोक में नहीं जा सकता इसलिये लोकान्त में जाकर सिद्ध स्थान में ही ठहर जाता है ।



प्रश्न - जब जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन का है तो फिर नीचा तिरछा क्यों जाता है ?

उत्तर - जीव का स्वभाव तो ऊर्ध्वगमन का ही । किन्तु कर्म उदय सहित जीव जब चारों गति में से किसी एक गति में जाता है तब आनुपूर्वी नाम कर्म के उदय के वश जीव नीचा, तिरछा जाता है ।

प्रश्न - आनुपूर्वी नाम कर्म किसको कहते हैं ?

उत्तर - जिस प्रकार ऊंट या बैल सीधी सड़क से जाता है । किन्तु जब उसका मालिक अपने खेत आदि में ले जाता है तब ऊंट की नकेल और बैल की नाथ को खींच कर अपने इष्ट स्थान खेत आदि पर ले जाता है इसी प्रकार जीव जब एक भव का आयुष्य पूरा कर दूसरे भव में जाता है तब आनुपूर्वी नाम कर्म का उदय होता है। वह उस जीव को खींच कर उस स्थान पर ले जाता है जहाँ का आयुष्य बांध रखा है । यह जीव की परवशता है।

प्रश्न - आनुपूर्वी नाम कर्म के कितने भेद हैं और वह कब उदय में आता है ?

उत्तर - आनुपूर्वी नाम कर्म का उदय तब होता है जब जीव नया जन्म लेने के लिये विग्रह गति (मोड़ वाली गति) द्वारा अपने नये जन्म स्थान पर जाता है । इस कर्म का उदय विग्रह गति में ही होता है । अतः इसका अधिक से अधिक उदय काल तीन या चार समय मात्र का है । इसके चार भेद हैं । नरकानुपूर्वी नामकर्म, तिर्यञ्चानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी । अपने आयुष्य बन्ध के अनुसार जीव को ये आनुपूर्वियां उस उस गति में ले जाती हैं । इसलिये जीव की नीची और तिरछी गति होती है ।

इस कर्म का उदय तब ही होता है जब जीव को नया जन्म

लेने के लिये विषम श्रेणि में रहे हुए जन्म स्थान के विग्रह गति - मोड़ वाली गति से गमन करना पड़ता है । समश्रेणि से गमन करते समय आनुपूर्वी नाम कर्म उदय की आवश्यकता ही नहीं है । वह सत्ता में पड़ा रहता है ।

प्रश्न - उपयोग कितने हैं और केवली में कितने उपयोग पाये जाते हैं ?

उत्तर - उपयोग बारह हैं यथा - ५ ज्ञान, ३ अज्ञान ४ दर्शन। इनमें से ५ ज्ञान ३ अज्ञान को साकारोपयोग - विशेषोपयोग कहते हैं। चार दर्शन को अनाकार उपयोग या दर्शनोपयोग - सामान्य उपयोग कहते हैं। इनमें से केवलि भगवान् में दो उपयोग पाये जाते हैं अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शन। यहाँ पर **"सागारोवउत्ते सिज्झइ"** पाठ से यह स्पष्ट होता है कि केवली भगवान् के साकारोपयोग (केवलज्ञान) और अनाकारोपयोग (केवलदर्शन) क्रमशः प्रयुक्त होते हैं। आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण भी इसी बात की पुष्टि करते हैं। सन्मति तर्क सरीखे महान् ग्रन्थ के रचयिता महान् तार्किक सिद्धसेन दिवाकर की मान्यता है कि-केवली भगवान् के साकारोपयोग और अनाकारोपयोग - केवलज्ञान केवलदर्शन दोनों एक साथ प्रयुक्त होते हैं। उनका तर्क यह है कि - ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय दोनों कर्मों का क्षय एक साथ हो चुका है। अतः उनके क्षय से प्रगट होने वाले केवलज्ञान और केवलदर्शन का प्रयोग भी एक साथ ही होता है।

जीवों के उपयोग का स्वभाव ही ऐसा है कि वह क्रमशः ही होता है। प्रत्येक वस्तु में दो गुणधर्म होते हैं - सामान्य और विशेष। दोनों गुणधर्म क्रम पूर्वक होने पर भी वस्तु में हर समय



दो गुणधर्म ही कहे जाते हैं। जैसे - एक पैर को उठाकर एवं दूसरे को नीचे रख कर चलने पर भी दो पांवों से चलना कहा जाता है- वैसे ही यहाँ पर भी केवलज्ञान, केवलदर्शन रूप आत्मा के विशेष एवं सामान्य गुण धर्म साथ में उत्पन्न होने पर भी उनकी प्रवृत्ति क्रमशः होती है। प्रथम समय में केवलज्ञान, दूसरे समय में केवलदर्शन का उपयोग होता है।

निष्कर्ष यह है कि तर्क से भी आगम सर्वोपरि है । अतः आगमपक्ष के अनुसार केवलज्ञान केवलदर्शन का प्रयोग क्रमशः ही मानना चाहिये ।

एस खलु सम्मत्तपरक्कमस्स अज्झयणस्स अट्ठे समणेणं भगवया महावीरेणं आघविए पण्णविए परूविए दंसिए णिदंसिए उवदंसिए ॥ ७४॥ त्ति बेमि॥

- श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू ! **खलु** - निश्चय ही, **सम्मत्तपरक्कमस्स** - इस सम्यक्त्व पराक्रम नाम के, **अज्झयणस्स** - अध्ययन का, **एस**- यह, **अट्ठे** - अर्थ, **समणेणं** - श्रमण, **भगवया** - भगवान्, **महावीरेणं** - महावीर स्वामी ने, **आघविए** - सामान्य विशेष रूप से कहा है, **पण्णविए** - प्रज्ञापित - विशेष रूप से इसका हेतु- फल आदि बताया है, **परूविए** - प्ररूपित-स्वरूप का वर्णन किया है, **दंसिए** - दर्शित-अनेक भेदों का दिग्दर्शन कराया है, **णिदंसिए**- निदर्शित-दृष्टांत द्वारा समझाया है, **उवदंसिए** - उपदर्शित-उपसंहार द्वारा बताया है ॥ ७४॥ **त्ति बेमि** - ऐसा मैं कहता हूँ ।

॥ सम्यक्त्वपराक्रम नामक अध्ययन समाप्त ॥

तपोमार्ग-गति तीसवाँ अध्ययन

जहा उ पावगं कम्मं, राग-दोस समज्जियं ।
खवेइ तवसा भिक्खू, तमेगग्गमणो सुण ॥१॥

– **रागदोससमज्जियं** – रागद्वेषसमर्जित-राग-द्वेष से उपार्जित हुए, **पावगं** – पाप, **कम्मं** – कर्म को, **भिक्खू** – भिक्षु-साधु, **जहा**-जिस प्रकार, **तवसा** – तप के द्वारा, **खवेइ** – क्षय कर देता है, **तं** – उसे, **एगग्गमणो** – एकाग्र चित्त से, **सुण** – सुनो ॥ १ ॥

पाणिवह-मुसावाया, अदत्तमेहुण-परिग्गहा विरओ।
राइभोयण-विरओ, जीवो हवइ अणासवो ॥२॥

– **प्राणिवह** – प्राणिवध- जीवहिंसा, **मुसावाया** – मृषावाद - झूठ बोलना, **अदत्त** – अदत्तादान-बिना दी हुई वस्तु लेना, **मेहुण**-मैथुन-कुशील सेवन, **परिग्गहा** – मरिग्रह-धन धान्यादि का ममत्व इन पांच पापों से निवृत्ति, **विरओ** – विरत-निवृत्त हुआ एवं, **राइभोयण-विरओ** – रात्रिभोजन से विरत (निवृत) हुआ, **जीवो** - जीव, **अणासवो** – अनास्रव-आस्रव रहित, **हवइ** – होता है ॥ २॥

पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइंदिओ ।
अगारवो य णिस्सलो, जीवो होइ अणासवो ॥ ३॥

– **पंचसमिओ** – पाँच समिति से युक्त, **तिगुत्तो** – तीन गुप्ति से युक्त, **अकसाओ** – कपाय-रहित, **जिइंदिओ** – जितेन्द्रिय, **अगारवो** – तीन गारव-रहित, **य** – और, **णिस्सलो** – निःशल्य-तीन शल्य-रहित, **जीवो** – जीव, **अणासवो** – अनास्रव-आस्रव-रहित, **होइ** – होता है ॥ ३ ॥



एएसिं तु विवच्चासे, रागदोस-समज्जियं ।
खवेइ उ जहा भिक्खू, तमेगग्गमणो सुण ॥ ४॥

- **एएसिं** - ये गुण जो ऊपर बतलाये हैं उनसे, **विवच्चासे** - विपर्यास-विपरीत होने पर (गुणों के अभाव में) **रागदोस समज्जियं** - राग-द्वेष से समर्जित-सञ्चित किये हुए कर्मों को, **जहा** - जिस प्रकार, **भिक्खू** - भिक्षु-साधु, **खवेइ** - क्षय कर देता है, **तं** - उस विधि को, **एगग्गमणो** - एकाग्र चित्त होकर, **सुण** - सुनो ॥ ४॥

जहा महातलायस्स, सण्णिरुद्धे जलागमे ।
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥ ५ ॥
एवं तु संजयस्सावि, पावकम्म-णिरासवे ।
भवकोडीसंचियं कम्मं, तवसा णिज्जरिज्जइ ॥ ६ ॥

- **जहा** - जिस प्रकार, **महातलायस्स** - किसी बड़े तालाब के, **जलागमे** - जल आने के मार्गों को, **सण्णिरुद्धे** - रोक देने पर उस तालाब का पानी, **उस्सिंचणाए** - बाहर निकाल देने पर तथा, **तवणाए** - सूर्य के ताप द्वारा, **कमेणं** - क्रम से,धीरे-धीरे, **सोसणा भवे**- सूख जाता है, **एवं तु** - इसी प्रकार, **संजयस्सावि** - संयमी साधुओं के भी, **पावकम्मणिरासवे** - पापकर्म निरास्रवे-नवीन पाप-कर्मों को रोक देने पर, **भवकोडीसंचियं** - भवकोटिसंचित् करोड़ों भवों के सञ्चित कर्म, **तवसा** - तप के द्वारा, **णिज्जरिज्जइ** - क्षय हो जाते हैं ॥ ५-६ ॥

विवेचन - ठाणाङ्ग सूत्र के दसवें ठाणे में दस प्रकार का बल बतलाया गया है - १. स्पर्शनेन्द्रिय बल २. रसनेन्द्रिय बल ३. घ्राणेन्द्रिय बल ४. चक्षुरिन्द्रिय बल ५. श्रोत्रेन्द्रियबल ६. **ज्ञान बल** ७. दर्शन बल ८. चारित्र बल ९. तप बल १०. वीर्य बल



इनमें से तपबल का महत्त्व बताते हुए नवांगी टीकाकार श्री अभयदेव सूरि ने टीका में लिखा है –

"तपोबलं यद् अनेक भवार्जितं अनेक दुःख कारणं निकाचित कर्म्मग्रंथिं क्षपयति"

अर्थ – तपबल से तपस्वी महापुरुष अनेक भवों में उपार्जित किये हुए और अनेक दुःखों की कारणभूत निकाचित कर्मरूपी ग्रन्थि (गाँठ) को भी खपा देता है (क्षय कर देता है)। ध्यान आभ्यन्तर तप है अतः ध्यान के द्वारा भी कर्म क्षय किये जाते हैं। जैसा कि – गजसुकुमालजी ने ध्यान रूपी तप के द्वारा थोड़े से समय में ही अनेक भवों के उपार्जित और निकाचित रूप में बंधे हुए कर्मों को क्षय कर दिया। अतः कहा गया है –

कर्मों के बहु भार से, दब गया चेतन राय।
ध्यान अग्नि संयोग से, क्षण एक में सिद्ध थाय॥

यही बात गाथा ६ में बताई गई है कि – करोड़ों भव का उपार्जन किया हुआ पाप कर्म को तप के द्वारा **'खणंसि मुक्के'** अल्प समय में ही क्षय कर देता है।

ग्रन्थों में बतलाया गया है कि – गजसुकुमाल के साथ सोमिल का निन्यानवे लाख भव पहले का निकाचित बन्धा हुआ कर्म था जो अब उदय में आया। गजसुकुमाल मुनि ने अचल और अडोल ध्यान रूपी तप के बल से अल्प समय में ही क्षय कर दिया। इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं है क्योंकि यह तो लाखों भव सम्बन्धी बात है किन्तु शास्त्रकार तो फरमाते हैं कि – करोड़ों भव का पापकर्म भी तप के बल से अल्प समय में ही क्षय किया जा सकता है।

प्रश्न – निकाचित कर्म किसे कहते हैं?

उत्तर – बन्ध के चार भेद बतलाये गये हैं। यथा –



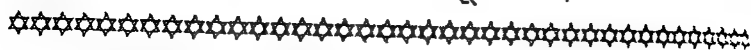
१. **बद्ध** - कर्म प्रायोग्य (कर्म दलिक अथवा कर्मवर्गणा) वर्गणाओं का एक स्थान पर इकट्ठा हो जाना जैसे बिखरी हुई सूइयों का एक जगह एकत्रित हो जाना । इसी प्रकार कर्मवर्गणाओं का आत्मा के पास एकत्रित हो जाना बद्ध कहलाता है ।

२. **स्पृष्ट** - आत्मा के पास एकत्रित हुए कर्मवर्गणाों का आत्म प्रदेशों के साथ चिपक जाना । जैसे कि - एकत्रित हुई सूइयों को धागे (सूतक डोरे) से बांध दिया जाना ।

बद्ध स्पृष्ट - आत्मप्रदेशों का कर्मपुद्गलों के साथ एकमेक हो जाना जैसे दूध व पानी मिल जाने पर एकमेक हो जाते हैं । अथवा सूइयों का मजबूती से बांध कर गट्ठा बना देना बद्धस्पृष्ट कहलाता है ।

३. **निधत** - आत्म प्रदेशों का कर्म पुद्गलों के साथ अत्यन्त गाढ (गहरा) सम्बन्ध हो जाना । जैसे - उपरोक्त सूइयों के गट्ठे को आग में तपा कर और ऊपर से हथौड़े से पीट कर एकमेक कर देना निधत कर्म कहलाता है ।

४. **निकाचित** - जिस रूप में कर्मों का बन्ध हुआ है उनका फल उसी रूप में अनिवार्य रूप से भोगना निकाचित कर्म कहलाता है । निधत और निकाचित में इतना ही अन्तर है कि - निधत रूप से बंधे हुए कर्मों में उद्वर्तना (कर्मों की स्थिति और रस को बढ़ा देना) और अपवर्तना (बन्धे हुए कर्मों की स्थिति और रस को घटा देना) ये दो करण हो सकते हैं । किन्तु निकाचित बन्धे हुए कर्मों में उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण, उदीरणा आदि कोई भी करण नहीं हो सकता है । क्योंकि जिस प्रकार बांधा उसी प्रकार भोगना पड़ता है । इस कर्म को नियति भी कह सकते हैं ।



सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भंतरो तहा ।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भंतरो तवो ॥ ७॥

– **सो** वह, **तवो** – तप, **बाहिरो** – बाह्य, **तहा** - और, **अब्भंतरो** – आभ्यन्तर के भेद से, **दुविहो** – दो प्रकार का, **वुत्तो** - कहा गया है, **बाहिरो** – बाह्य तप, **छव्विहो** – छह प्रकार का, **वुत्तो** - कहा गया है, **एवं** – इसी प्रकार, **अब्भंतरो** – आभ्यंतर, **तवो** - तप भी छह प्रकार का कहा गया है ॥ ७ ॥

अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया, य बज्झो तवो होइ ॥ ८॥

– **अणसणं** – अनशन, **ऊणोयरिया** – ऊनोदरिका-ऊनोदरी, **भिक्खायरिया** – भिक्षाचर्या, **रसपरिच्चाओ** – रसपरित्याग, **य** - और, **कायकिलेसो** – कायक्लेश, **य** – तथा, **संलीणया** - संलीनता-प्रतिसंलीनता ये, **बज्झो** – बाह्य, **तवो** – तप के छह भेद, **होइ** – होते हैं ॥ ८ ॥

इत्तरिय मरणकाला य, अणसणा दुविहा भवे ।
इत्तरिय सावकंखा, णिरवकंखा उ बिइज्जिया ॥

– **अणसणा** – अनशन तप, **दुविहा** – दो प्रकार का, **भवे** - होता हैं, इनमें पहला, **इत्तरिय** – इत्वरिक (थोड़े काल का) **य** - और, दूसरा, **मरणकाला** – मरणकाल अर्थात् जीवन पर्यन्त । **इत्तरिय** – इत्वरिक तप, **सावकंखा** – आहार की आकांक्षा-सहित होता है, **उ** – और, **बिइज्जिया** – दूसरा मरणकालिक अनशन, **णिरवकंखा** – आहार की आकांक्षा-रहित होता है ॥ ९ ॥

जो सो इत्तरिय तवो, सो समासेण छव्विहो ।
सेढितवो पयर तवो, घणो य तह होइ वग्गो य ॥

तत्तो य वग्गवग्गो उ, पंचमो छट्ठओ पइण्णतवो ।
मणइच्छियचित्तत्थो, णायव्वो होइ इत्तरिओ ॥

- **जो** - जो, **सो** - यह, **इत्तरिय** - इत्वरिक, **तवो** - तप है, **सो** - वह, **समासेण** - संक्षेप से, **छव्विहो** - छह प्रकार का, **होइ**- है - १ - **सेढितवो** - श्रेणी तप, २ - **पयरतवो** - प्रतर तप, **तहा**- तथा, ३ - **घणो** - घन तप, **य, य** - और, **वग्गो** - वर्ग तप, । **तत्तो** - तत्पश्चात्, **पंचमो** - पांचवाँ, **वग्गवग्गो** - वर्गवर्ग तप, **य**- और, **छट्ठो** - छठा, **पइण्णतवो** - प्रकीर्ण तप । **मणइच्छियचित्तत्थो** - मनईप्सितचित्रार्थ-यह तप अनेक प्रकार के मनवांछित फल (स्वर्गापवर्गादि फल) को देने वाला है ऐसा, **णायव्वो** - जानना चाहिए ॥ १०-११ ॥

विवेचन - इत्वरिक तप के छह भेद हैं -

१. श्रेणितप - यहाँ श्रेणि का अर्थ पंक्ति है । यह तप उपवास से शुरू किया जाता है । प्रथम तीर्थङ्कर के समय इसकी मर्यादा उत्कृष्ट १ वर्ष की है। बीच के बाईस तीर्थङ्कर के समय आठ महीने का तथा अन्तिम तीर्थङ्कर के समय उत्कृष्ट छह महीने का होता है ।

२. प्रतर तप - श्रेणि को श्रेणि से गुणा करने पर अर्थात् श्रेणि का वर्ग प्रतर तप होता है । जैसे कि - उपवास, बेला, तेला चोला ये चार पदों की श्रेणि है । इसको श्रेणि तप कहते हैं । इसकी स्थापना इस प्रकार है -

१	२	३	४

इस प्रकार एक उपवास से लेकर छह महीने तक के दिनों की पंक्ति बनाकर तप करना श्रेणि तप कहलाता है । यहाँ चार पदात्मक तप की स्थापना बतलाई गयी है ।



२.

१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

यह प्रतर तप कहलाता है ।

३. घन तप – उपरोक्त सोलह को चार से गुणा करने पर ६४ पद होते हैं । इस प्रकार यह ६४ पदात्मक घन तप कहलाता है । अर्थात् १६ पद रूप प्रतर तप को चार पद रूप श्रेणि से गुणा करने पर घन तप होता है ।

४. वर्ग तप – ६४ पद रूप घन तप को ६४ से गुणा करने पर गुणन फल ४०९६ (चार हजार छयानवे) होता है । यह वर्ग तप है ।

५. वर्ग-वर्ग तप – ४०९६ की ४०९६ से गुणा करने पर १६७७७२१६ (एक करोड सडसठ लाख सतहत्तर हजार दो सौ सोलह) होते हैं । यह वर्ग-वर्ग तप है ।

इस प्रकार उपवास आदि चार पदों को लेकर यह श्रेणि तप आदि इत्वरिक तप कहलाता है । यह छह महीने तक का होता है।

६. प्रकीर्णक तप – श्रेणि तप आदि की नियत रचना के विना एवं अपनी शक्ति के अनुसार जो यथा कथञ्चित तप किया जाता है वह प्रकीर्णक तप कहा जाता है । श्रेणि तप आदि की रचना के विना उपवास आदि तप यवमध्यचन्द्रप्रतिमा तथा वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा आदि तप ये सब प्रकीर्णक तप हैं । इस

☆☆☆

प्रकार अनशन विशेष रूप इस इत्वरिक तप से जीव मनवाञ्छित मोक्ष रूपी फल को प्राप्त कर लेता है ।

जा सा अणसणा मरणे, दुविहा सा वियाहिया ।
सवियारमवियारा, कायचिट्ठं पई भवे ॥ १२ ॥

- **सा** - वह, **जा** - जो, **मरणे** - मरणकालिक, **अणसणा** - अनशन है, **सा** - वह, **दुविहा** - दो प्रकार का, **वियाहिया** - कहा गया है, **सवियार** - सविचार (कायचेष्टा सहित) और, **अवियारा** - अविचार (कायचेष्टा रहित) ये भेद, **कायचिट्ठं पई**- कायचेष्टा की अपेक्षा, **भवे** - होते हैं ॥ १२ ॥

अहवा सपरिकम्मा, अपरिकम्मा य आहिया ।
णीहारिमणीहारी, आहारच्छेओ दोसु वि ॥ १३ ॥

- **अहवा** - अथवा इसके प्रकारान्तर से दो भेद, **आहिया** - कहे गये हैं । यथा - **सपरिकम्मा** - सपरिकर्म (स्वयं, उठना, बैठना करवट बदलना आदि तथा दूसरों से सेवा कराना), **य** - और, **अपरिकम्मा** - अपरिकर्म (स्वयं हलन चलन न करना तथा दूसरों से सेवा न कराना) अथवा, **णीहारिं** - नीहारी और, **अणीहारी** - अनीहारी, **दोसु वि** - दोनों प्रकार के अनशनों में, **आहारच्छेओ** - आहार का त्याग होता है ॥ १३ ॥

विवेचन - ग्रामादि से बाहर किसी पर्वत की गुफा आदि में किया हुआ अनशन-मरण 'अनिर्हारी' कहलाता है और ग्राम-नगरादि में किया हुआ अनशन मरण 'निर्हारी' कहलाता है । अनिर्हारी अथवा अनिर्हारिम का अर्थ है साधु के मृत कलेवर को जंगल आदि में बाहर नहीं ले जाना पड़े । निर्हारी अथवा निर्हारिम का अर्थ है कि - साधु के मृत शरीर को ग्रामादि से बाहर जंगल आदि में ले जाना पड़े ।



ओमोयरणं पंचहा, समासेण वियाहियं ।
दव्वओ खेत्तकालेणं, भावेणं पज्जवेहि य ॥१४॥

- **दव्वओ** - द्रव्य से, **खेत्तकालेणं** - क्षेत्र से, काल से और, **भावेणं** - भाव से, **य** - और, **पज्जवेहिं** - पर्यायों से, **ओमोयरणं**- अवमौदर्य-ऊनोदरी तप, **समासेण** - संक्षेप से, **पंचहा** - पाँच प्रकार का, **वियाहियं** - कहा गया है ॥१४॥

जो जस्स उ आहारो, तत्तो ओमं तु जो करे ।
जहण्णेणेगसित्थाई, एवं दव्वेण उ भवे ॥१५॥

- **जस्स** - जिसका, **जो** - जितना, **आहारो** - आहार है, **तत्तो** - उसमें से, **जो** - जो, **ओमं** - कम, **करे** - करता है, **जहण्णेण** - जघन्य से, **एगसित्थाई** - एक सिक्थ आदि-एक कण भी कम करता है, **तु उ** - तो, **एवं** - इस प्रकार वह, **दव्वेण** - द्रव्य से ऊनोदरी तप, **भवे** - होता है ॥१५॥

विवेचन - पुरुष का आहार बत्तीस कवल परिमाण, स्त्री का २८ और नपुंसक का २४ कवल (ग्रास-कवा) परिमाण है । जिसका जितना आहार है वह ३२ कवल परिमाण कहलाता है । फिर वह व्यक्ति गिनती की दृष्टि से थोडे अधिक कवल में उस आहार को खावे वह उसके बत्तीस कवल परिमाण कहलाता है । मुख में जो आसानी से आ सके उसे कवल कहते हैं । किन्तु जिसको मुख में डालने पर आंखें तन जाय गाल फूल जाय उसे कवल नहीं कहते हैं । क्योंकि यह तो जबर्दस्ती मुंह में ठूंसना है । कवल का परिमाण औपपातिक सूत्र और भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशक १ में इस प्रकार बतलाया है '**कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते ले**' नवांगी टीकाकार श्री अभयदेवसूरि ने इसका अर्थ इस



प्रकार किया है - "पहले कवल का शब्दार्थ करते हुए लिखा है कि - 'कुक्कडी (मुर्गी) के अण्डे के प्रमाण' फिर उसका भावार्थ देते हुए लिखा है कि - उपरोक्त तो केवल शब्दार्थ मात्र है । भावार्थ तो यह है कि - मुख में जो आसानी से समा सके । गाल फूले नहीं, आंखें तणे नहीं किन्तु सुख पूर्वक मुख में रखा जा सके, उसे कवल (ग्रास) कहते हैं ।"

गामे णगरे तह रायहाणी, णिगमे य आगरे पल्ली ।
खेडे कब्बड-दोणमुह-पट्टण-मडंब संवाहे ॥१६॥
आसमपए विहारे, सण्णिवेसे समाय घोसे य ।
थलिसेणाखंधारे, सत्थे संवट्ट-कोट्टे य १७॥
वाडेसु व रत्थासु व, घरेसु वा एवमित्तियं खेत्तं ।
कप्पइ उ एवमाई, एवं खेत्तेण उ भवे ॥ १८ ॥

- क्षेत्र की अपेक्षा ऊनोदरी तप के भेद बतलाये जाते हैं । अतः पहले क्षेत्रों के नाम बतलाये जाते हैं - **गामे** - ग्राम (जहाँ राज्य की ओर से अठारह प्रकार का कर लिया जाता हो तथा जो छोटी बस्ती हो उसे 'ग्राम' कहते हैं) । **णगरे** - नगर (जहाँ गाय-बैल आदि का कर न लिया जाता हो ऐसी बड़ी आबादी को 'नगर' 'न कर' कहते हैं) **तह** - तथा, **रायहाणी** - राजधानी (जहाँ राजा स्वयं रहता हो) **णिगमे** - निगम (जहाँ अधिकतर व्यापार करने वाले महाजनों की बस्ती हो) **य** - और, **आगरे** - आकर (सोना चाँदी आदि धातुओं की खान) **पल्ली** - पल्ली (चारों ओर वृक्षों से घिरा हुआ स्थान जहाँ चोरादि रहते हों) **खेडे** - खेड़ (जिस आबादी के चारों ओर मिट्टी का परकोटा हो) **कब्बड** - कर्वट (छोटी आबादी वाला छोटा गाँव जहाँ व्यापार धन्धा न चलता

दिवसस्स पोरिसीणं, चउण्हं पि उ जत्तिओ भवे कालो।
एवं चरमाणो खलु, कालोमाणं मुणेयव्वं ॥ २० ॥

- **दिवसस्स** - दिन के, **चउण्हं पि** - चार, **पोरिसीणं** - पहरों में, **जत्तिओ कालो** - जितने समय का अभिग्रह, **भवे** - हो अर्थात् 'आज में अमुक पहर में ही गोचरी जाऊंगा,' **एवं** - इस प्रकार अभिग्रह करके, **चरमाणो** - विचरते हुए साधु के, **खलु** - निश्चय ही, **कालोमाणं** - काल की अपेक्षा ऊनोदरी तप होता है, **मुणेयव्वं** - ऐसा जानना चाहिए ॥ २० ॥

अहवा तइयाए पोरिसीए, ऊणाइ घासमेसंतो ।
चउभागूणाए वा, एवं कालेण उ भवे ॥ २१ ॥

- **अहवा** - अथवा, **तइयाए** - तीसरे, **पोरिसीए** - पहर में, **ऊणाइ** - कुछ कम काल तक, **वा**- अथवा, **चउभागूणाए** - चतुर्थ भाग कम में अर्थात् तीसरे पहर के अंतिम चौथे भाग में ही साधु, **घासं** - आहार की, **एसंतो** - गवेषणा करने का अभिग्रह करे तो, **एवं** - इस प्रकार उसके, **कालेण** - काल की अपेक्षा ऊनोदरी तप, **भवे** - होता है ॥ २१ ॥

इत्थी वा पुरिसो वा अलंकिओ वा णालंकिओ वावि।
अण्णयरवयत्थो वा, अण्णयरेणं व वत्थेणं ॥ २२॥
अण्णेण विसेसेणं, वण्णेणं भावमणुमुयंते उ ।
एवं चरमाणो खलु, भावोमाणं मुणेयव्वं ॥ २३ ॥

- **इत्थी** - स्त्री, **वा** - अथवा, **पुरिसो** - पुरुष, **अलंकिओ**- अलंकृत, **वा** - अथवा, **ण अलंकिओ** - अलंकार-रहित, **अण्णयरवयत्थो** - अन्यतरवयःस्थ-अमुक अवस्था वाला (बालक,

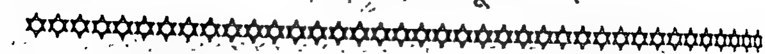
ुवा अथवा वृद्ध) **वावि** – अथवा, **अण्णयरेणं वत्थेणं**– अमुक प्रकार के वस्त्र से युक्त, **वा** – अथवा **अण्णेण** – अन्य किसी, **विसेसेणं** – विशेषता से युक्त (रोता हुआ या हंसता हुआ, कोपयुक्त या हर्ष युक्त) **व** – अथवा, **वण्णेण** – किसी विशेष वर्ण युक्त, **वा** – अथवा, **भावमणुमुयंते** – विशिष्ट भावों से युक्त दाता के हाथ से भिक्षा मिलेगी तो ही मैं भिक्षा लूँगा, **एवं** – इस प्रकार अभिग्रह करके, **चरमाणो** – विचरने वाले साधु के, **खलु** – निश्चय ही, **भावोमाणं** – भाव ऊनोदरी तप होता है, **मुणेयव्वं** – ऐसा जानना चाहिए ॥ २२–२३ ॥

दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि य आहिया उ जे भावा ।
एएहिं ओमचरओ, पज्जवचरओ भवे भिक्खू ॥

– **दव्वे** – द्रव्य, **खेत्ते** – क्षेत्र, **काले** – काल, **य** – और, **भावम्मि** – भाव में, **जे** – जो, **भावा** – भाव, **आहिया** – कहे गये हैं, **एएहिं** – इन से, **ओमचरओ** – अवमचरक–ऊनोदरी करने वाला, **भिक्खू** – भिक्षु–साधु, **पज्जव चरओ** – पर्याय से ऊनोदरी करने वाला, **भवे** – होता है ॥ २४ ॥

अट्ठविह–गोयरग्गं तु, तहा सत्तेव एसणा ।
अभिग्गहा य जे अण्णे, भिक्खायरियमाहिया ॥

– **अट्ठविह** – आठ प्रकार की, **गोयरग्गं** – गोचराग्र–गोचरी, **तु तहा**– और, **सत्तेव** – सात प्रकार की, **एसणा** – एषणा, **य** – और इसी प्रकार के, **जे** – जो, **अण्णे** – दूसरे, **अभिग्गहा** – अभिग्रह हैं, वे सब, **भिक्खायरियं** – भिक्षाचरी में, **आहिया** – कहे गये हैं, अर्थात् इन्हें भिक्षाचरी तप कहते हैं । भिक्षाचरी का दूसरा नाम वृत्तिसंक्षेप है अर्थात् प्रतिदिन की जो गोचरी है उसमें अभिग्रह धारण करके कमी करने को वृत्तिसंक्षेप कहते हैं ॥ २५ ॥



विवेचन - गाथा नं. १९ में गोचरी के छह भेद बतलाये गये हैं। उन्हीं छह को विशेष रूप से इस गाथा में आठ भेद कर बतलाये हैं। पेटा, अर्धपेटा, गोमूत्रिका, पतंगवीथिका, बाह्यशंबूकावर्त्ता, आभ्यन्तर शंबूकावर्त्ता, गमन (गता) और प्रत्यागमन (प्रत्यागता)।

पिण्डेषणा के सात भेद हैं -

१. संसृष्टा एषणा - भोजन की सामग्री से भरे हुए हाथ एवं पात्र से भिक्षा लेना।

२. असंसृष्टा एषणा - भोजन की सामग्री से नहीं भरे हुए हाथ एवं पात्र से भिक्षा लेना।

३. उद्धृता एषणा - रसोई घर से बाहर लाकर जो थाली आदि में अपने निमित्त भोजन रखा गया हो उसको लेना।

४. अल्प लेपिका एषणा - निर्लेप भुंजे हुए चना आदि लेना।

५. उद्गृहीता एषणा - भोजन करने के समय भोजन करने वाले व्यक्ति को परोसने के लिए चमचा शकोरा आदि द्वारा जो खाद्य सामग्री बाहर निकाल कर रख ली गयी है उसको लेना।

६. प्रगृहीता एषणा - भोजन की इच्छा वाले को देने के लिये उद्यत हुए दाता ने जो कुछ अपने हाथ में भोजन सामग्री ले रखी हो उसको ही लेना।

७. उज्झितधर्मा एषणा - निस्सार होने के कारण जिसको कोई अन्य याचक या भिखारी भी नहीं चाहते हैं ऐसे बाहर फेंकने योग्य आहार को लेना। उसे उज्झित धर्मा एषणा कहते हैं।

(आचाराङ्ग २ अध्ययन १)

इस गाथा में गोचराग्र शब्द दिया है जिसका अर्थ इस प्रकार है –

मुनि की वृत्ति को मधुकरीवृत्ति, भ्रमरवृत्ति-भिक्षाचर्या, गोचरी आदि शब्दों से कहा जाता है। इन सब में गोचरी शब्द विशेष प्रचलित है। उसका शब्दार्थ है-**"गौरिव चरति इति गोचरी"** अर्थात् गाय के समान जिसकी वृत्ति हो उसे गोचरी कहते हैं। यहाँ गो शब्द जाति वाचक है अर्थात् पशुओं के चरने (खाने) के समान जिनकी वृत्ति हो। गो शब्द से गाय, बैल, भैंस, गधा आदि सभी शाकाहारी पशुओं का ग्रहण है। गधा भी गायवत् एक जगह से पूरा नहीं उखाड़ कर अनेक जगह से थोड़ा-थोड़ा घास चरता है गो शब्द से उसका भी समावेश हो जाता है। जैसे सूयगडांग सूत्र उ. १ अ. ६ में **'सीहोमियाणं'** कह कर मृग शब्द से सभी पशुओं का ग्रहण किया है। वैसे ही यहाँ पर गो शब्द से सभी शाकाहारी पशुओं का ग्रहण समझना चाहिये। ऐसे **'महुगारसमा'** में मधुर कर शब्द से मात्र भ्रमर व मधुमक्खी को नहीं समझ कर फूलों से रस लेने वाले सभी कीटों का ग्रहण समझना।

मुनि भी गृहस्थ के घर से उतने ही परिमाण में थोड़ा थोड़ा आहार लेते हैं जिससे गृहस्थ को दुबारा रसोई बनाना न पड़े । गोचरी शब्द का इतने अर्थ में ही मुनि की वृत्ति के साथ उपमा है क्योंकि गाय तो एषणीय अनेषणीय प्रासुक अप्रासुक समझती नहीं है। यथाकथंचित् रूप से घास खाती रहती है। किन्तु मुनि तो उद्गम के १६, उत्पादन के १६ और एषणा के दस, इन ४२ दोषों को टाल कर प्रासुक और एषणीय आहार को लेते हैं। इसलिये इसको गोचराग्र कहते हैं। यहाँ 'अग्र' शब्द का अर्थ 'प्रधान' है। अर्थात् सब प्रकार की गोचरियों में प्रधान होने से इसे 'गोचराग्र' कहते हैं ।

खीर-दहि-सप्पिमाई, पणीयं पाणभोयणं ।
परिवज्जणं रसाणं तु, भणियं रसविवज्जणं ॥२६॥

- **खीर** - क्षीर-दूध, **दहि** - दधि-दही, **सप्पिं** - सर्पि-घी, घृत, **आई** - आदि, **तु** - और, **पणीयं** - प्रणीत-गरिष्ठ, **पाणभोयणं**- आहार-पानी रूप, **रसाणं** - रसों का, **परिवज्जणं** - परिवर्जन-त्याग करना, **रसविवज्जणं** - रसविवर्जन 'रसपरित्याग' नाम का तप, **भणियं** - कहा गया है ॥ २६ ॥

ठाणा वीरासणाइया, जीवस्स उ सुहावहा ।
उग्गा जहा धरिज्जंति, कायकिलेसं तमाहियं ॥

- **जीवस्स** - जीव के लिए, **सुहावहा** - भविष्य में, सुखकारी, **उग्गा** - उग्र, कठोर, **वीरासणा** - वीरासन, **आइया** - आदि शब्द से केश लोच, गोदोहिक आसन आदि लिये जाते हैं, **ठाणा**- स्थान, **जहा** - जिस प्रकार, **धरिज्जंति** - सेवन किये जाते हैं, **तं** - वह, **कायकिलेसं** - कायाक्लेश नाम का तप, **आहियं** - कहा गया है ॥ २७ ॥

एगंतमणावाए, इत्थीपसुविवज्जिए ।
सयणासणसेवणया, विवित्तसयणासणं ॥ २८॥

- **एगंतं** - एकान्त, **अणावाए** - अनापात, (जहाँ स्त्री आदि का आना-जाना न हो) तथा जो, **इत्थीपसुविवज्जिए** - स्त्री-पशु और नपुंसक से वर्जित, रहित हो ऐसे स्थान में, **सयणासण-सेवणया**- शयन आसन, करना, **विवित्तसयणासणं** - विविक्त शयनासन प्रतिसंलीनता तप है ॥ २८ ॥

विवेचन - प्रतिसंलीनता के चार भेद किये गये हैं, उन में से विविक्त चर्या का वर्णन इस गाथा में किया गया है । शेष तीन

अर्थात् इन्द्रियसंलीनता, कषायसंलीनता, योगसंलीनता इनका ग्रहण भी यहाँ कर लेना चाहिए । प्रतिसंलीनता का अर्थ है मनोज्ञ और अमोज्ञ पदार्थों में राग-द्वेष नहीं करना ।

एसो बाहिरगं तवो, समासेण वियाहिओ ।
अब्भिंतरं तवं एत्तो, वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥ २९ ॥

- **एसो** - यह, **बाहिरगं** - बाह्य, **तवो** - तप, **समासेण** - संक्षेप से, **वियाहिओ** - कहा गया है, **एत्तो** - अब इसके आगे, **अणुपुव्वसो** - अनुक्रम से, **अब्भिंतरं** - आभ्यंतर, **तवं** - तप का, **वुच्छामि** - वर्णन करूँगा ॥ २९ ॥

विवेचन - उपवास आदि से शरीर की दुर्बलता आदि रूप लोगों को दिखाई देने वाला तप है इसलिये इसे बाह्य तप कहते हैं। प्रायश्चित्तादि आंतरिक तप हैं । लोगों को दिखाई देने वाला नहीं है इसलिये इसे आभ्यन्तर तप कहते हैं । बाह्य तप की अपेक्षा आभ्यन्तर तप कर्मों की निर्जरा का विशेष कारण बनता है ।

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भिंतरो तवो ॥ ३० ॥

- **पायच्छित्तं** - प्रायश्चित्त, **विणओ** - विनय, **वेयावच्चं** - वैयावृत्य, **तहेव** - तथा, **सज्झाओ** - स्वाध्याय, **झाणं** - ध्यान, **च**- और, **विउस्सग्गो** - व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) **एसो** - यह छह प्रकार का, **अब्भिंतरो** - आभ्यन्तर, **तवो** - तप है ॥ ३० ॥

आलोयणारिहाइयं, पायच्छित्तं तु दसविहं ।
जं भिक्खू वहइ सम्मं, पायच्छित्तं तमाहियं ॥

- **आलोयणारिह** - आलोचनार्ह-आलोचना करने के योग्य,

पायच्छित्तं - प्रायश्चित्त, **दसविहं** - दस प्रकार का है, **जं** - जिसका, **भिक्खू** - भिक्षु-साधु, **सम्मं** - सम्यक् प्रकार से, **वहइ** - वहन (सेवन करता है) **तं** - उसे, **पायच्छित्तं** - प्रायश्चित्त, **आहियं** - कहा है ॥ ३१ ॥

अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं, तहेवासणदायणं ।
गुरुभत्ति-भावसुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ ॥

अब्भुट्ठाणं - अभ्युत्थान-गुरु महाराज आदि को आते देख कर खड़ा होना, **अंजलिकरणं** - अञ्जलिकरण-हाथ जोड़ना, **आसणदायणं** - उन्हें आसन देना, **गुरुभत्ति** - गुरुजनों की भक्ति करना, **तहेव** - और, **भावसुस्सूसा** - भावपूर्वक (श्रद्धापूर्वक) उनकी सेवा शुश्रूषा करना, **एस** - यह, **विणओ** - विनय, **वियाहिओ** - कहा गया है ॥ ३२ ॥

आयरियमाइए, वेयावच्चम्मि दसविहे ।
आसेवणं जहाथामं, वेयावच्चं तमाहियं ॥ ३३ ॥

वेयावच्चम्मि - वेयावच्च-वैयावृत्य करने के योग्य, **आयरियमाइए** - आचार्यादिक अर्थात् आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शिष्य, साधर्मिक, कुल, गण और संघ, इन, **दसविहे** - दस स्थानों की, **जहाथामं** - यथास्थाम-यथाशक्ति शारीरिक, **आसेवणं** - सेवा-भक्ति करना, **तं** - उसे, **वेयावच्चं** - वैयावृत्य, **आहियं** - कहा है ॥ ३३ ॥

वायणा पुच्छणा चेव, तहेव परियट्टणा ।
अणुप्पेहा धम्मकहा, सज्झाओ पंचहा भवे ॥ ३४ ॥

वायणा - वाचना (गुरु से सूत्र-अर्थ की वाचणी लेना)

चेव - और, **पुच्छणा** - पृच्छना (संशय की निवृत्ति के लिए पूछना या पहले सीखे हुए सूत्रादि ज्ञान में शंका होने पर प्रश्न करना) **तहेव** - इसी प्रकार, **परियट्टणा** - परिवर्त्तना (परावर्तना- पढ़े हुए ज्ञान की पुनरावृत्ति करना) **अणुप्पेहा** - अनुप्रेक्षा - (बारबार चिन्तन मनन करना) **धम्मकहा** - धर्मकथा (धर्मोपदेश देना) **पंचहा** - ये पाँच भेद, **सज्झाओ** - स्वाध्याय तप के, **भवे** - होते हैं ॥ ३४ ॥

अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, झाएज्जा सुसमाहिए ।
धम्म-सुक्काइं झाणाइं, झाणं तं तु बुहा वए ॥

सुसमाहिए - सुसमाधिवंत साधु, **अट्टरुद्दाणि** - आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान को, **वज्जित्ता** - छोड़ कर, **धम्मसुक्काइं झाणाइं**- धर्मध्यान और शुक्लध्यान इन दो ध्यानों को, **झाएज्जा** - ध्यावे, **तं** - उसे, **बुहा** - बुध-तत्त्वज्ञ पुरुष, **झाणं** - ध्यान, **वए** - कहते हैं ॥ ३५ ॥

सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू ण वावरे ।
कायस्स विउस्सग्गो, छट्ठो सो परिकित्तिओ ॥

सयणासणठाणे वा - शय्या पर, आसन पर अथवा खड़े खड़े, **जे** - जो, **भिक्खू** - भिक्षु-साधु, **ण वावरे** - अन्य सब प्रवृत्तियों को छोड़ देता है अर्थात् हिलता-डुलता नहीं, **सो** - वह, **कायस्स विउस्सग्गो** - कायव्युत्सर्ग नाम का, **छट्ठो** - छठा तप, **परिकित्तिओ** - परिकीर्तत-कहा गया है ॥ ३६ ॥

एयं तवं तु दुविहं, जे सम्मं आयरे मुणी ।
जो खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिए ॥ ३७

- **एयं** - इन बाह्य और आभ्यन्तर, **दुविहं** - दोनों प्रकार के, **तवं** - तप का, **जे** - जो, **मुणी** - मुनि, **सम्मं** - सम्यक् प्रकार से, **आयरे** - आचरण करता है, **से** - वह, **पंडिए** - पंडित साधु, **खिप्पं**- शीघ्र ही, **सव्वसंसारा** - समस्त संसार से, **विप्पमुच्चइ** - विप्रमुक्त- छूट जाता है ॥ ३७॥ **त्तिबेमि** - ऐसा मैं कहता हूँ ।

विवेचन - 'पण्डित' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है -

"पण्डा - हिताहित विवेकिनी बुद्धिः आचारवती च बुद्धिः संजाता यस्य स पण्डितः ।"

अर्थात् - हिताहित सोचने की बुद्धि तथा अठारह पाप त्याग रूप आचरण से युक्त बुद्धि जिसे पैदा हो गई है उसे 'पण्डित' कहते हैं । चौथा गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यगदृष्टि और पञ्चम गुणस्थानवर्ती देशविरत सम्यग्दृष्टि पाप से डरते तो हैं किन्तु पापों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकते । इन्हें क्रमशः बाल और बाल पण्डित कहते हैं । छठे गुणस्थानवर्ती को पण्डित कहते हैं । उसे सर्व विरति भी कहते हैं । वह पापों से डरता है अतएव पापों का सर्वथा त्याग कर देता है । 'पापों से डरने वाला पण्डित है' यह व्याख्या अधूरी है । क्योंकि चौथा और पांचवाँ गुणस्थानवर्ती भी पापों से डरता तो है किन्तु वह छोड़ नहीं सकता । पण्डित शब्द की पूरी व्याख्या यह है कि - जो पाप कर्मों से डरता है और सभी (अठारह ही) पाप कर्मों का त्याग कर देता है वह पण्डित कहलाता है । ऐसा पण्डित मुनि होता है । सारांश है - **"पाप नहीं करे सो पण्डित।"**

॥ तीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

'चरणविधि' इकत्तीसवाँ अध्ययन

चरणविहिं पवक्खामि, जीवस्स उ सुहावहं ।
जं चरित्ता बहू जीवा, तिण्णा संसार-सागरं ॥ १ ॥

– अब मैं, **चरणविहिं** – चारित्र की विधि का, **पवक्खामि**– वर्णन करूँगा, **उ** – जो कि, **जीवस्स** – जीव के लिए, **सुहावहं** – सुखकारी एवं शुभकारी है और, **जं** – जिसका, **चरित्ता** – आचरण कर के, **बहू** – बहुत से, **जीवा** – जीव, **संसारसागरं** – संसार-सागर से, **तिण्णा** – तिर गये हैं ॥ १ ॥

विवेचन – ज्ञान, दर्शन, चारित्र यह मोक्ष का मार्ग है । ज्ञान से जीवादि तत्त्वों का बोध होता है और दर्शन से उन पर श्रद्धा दृढ होती है । चारित्र से आते हुए कर्म रुकते हैं और चारित्र के भेद स्वरूप तप से पूर्व बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा होती है । चारित्र का पालन किस प्रकार करना चाहिये इसकी विधि को जानना आवश्यक है । इसलिये इस अध्ययन में चारित्र की विधि बताई जाती है ।

इस अध्ययन में एक बोल से लेकर ३३ बोल तक का वर्णन दिया गया है । इन सब बोलों का टीका के अनुसार विस्तृत वर्णन श्री "जैन सिद्धांत बोल संग्रह" बीकानेर के ७ भागों में है । यथा – प्रथम भाग में १-५ । दूसरे भाग में ६-७ । तीसरे भाग में ८-९-१० । चौथे भाग में ११-१२-१३ । पांचवें भाग में १४ से १९ तक । छठे भाग में २० से ३० तक और सातवें भाग में ३१ से ५७ तक बोलों का विस्तृत अर्थ दिया गया है । अतः जिज्ञासुओं को उन भागों में देखना चाहिए ।

(अगरचन्द भैरोदान सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर)

एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं ।
असंजमे णियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं ॥ २॥

- **एगओ** - एक से, **विरइं** - विरति-निवृत्ति, **कुज्जा** - करे, **य** - और, **एगओ** - एक ओर, **पवत्तणं** - प्रवर्तन-प्रवृत्ति करे, अर्थात् **असंजमे**- असंयम से, **णियत्तिं** - निवृत्ति करे, **च** - और, **संजमे** - संयम में, **पवत्तणं** - प्रवर्तन-प्रवृत्ति करे ॥ २॥

रागदोसे य दो पावे, पावकम्म-पवत्तणे ।
जे भिक्खू रुंभइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ ३॥

- **पावकम्म पवत्तणे** - पाप कर्म में प्रवृत्ति कराने वाले, **रागदोसे य** - राग और द्वेष ये, **दो** - दो, **पावे** - पाप हैं, **जे** - जो, **भिक्खू** - भिक्षु-साधु, **णिच्चं** - नित्य-सदा इन्हें, **रुंभइ** - रोकता है, **से** - वह, **मंडले** - मण्डल-संसार-सागर में, **ण अच्छइ** - परिभ्रमण नहीं करता है ॥ ३॥

दंडाणं गारवाणं च, सल्लाणं च तियं तियं ।
जे भिक्खू चयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ ४॥

- **जे** - जो, **भिक्खू** - भिक्षु-साधु, **दंडाणं तियं** - तीन दण्ड, **च** - तथा, **गारवाणं तियं** - तीन गारव, **च** - तथा, **सल्लाणं** - तीन शल्य इनको, **णिच्चं** - नित्य-सदैव, **चयइ** - छोड़ देता है, **से** - वह, **मंडले** - मण्डल-संसार में, **ण अच्छइ** - परिभ्रमण नहीं करता है ॥ ४॥

दिव्वे य जे उवसग्गे, तहा तेरिच्छमाणुसे ।
जे भिक्खू सहइ सम्मं, से ण अच्छइ मंडले ॥ ५॥

- **जे** - जो, **भिक्खू** - भिक्षु-साधु, **दिव्वे** - देव सम्बन्धी,

तहा - तथा, **तेरिच्छ** - तिर्यञ्च सम्बन्धी, **य** - और, **माणुसे** - मनुष्य सम्बन्धी, **उवसग्गे**- उपसर्गों को, **सम्मं** - सम्यक् प्रकार से (समभाव पूर्वक) **सहइ** - सहन करता है, **से** - वह, **मंडले** - मण्डल-संसार में, **ण अच्छइ** - परिभ्रमण नहीं करता है ॥५॥

विगहा-कसाय-सण्णाणं, झाणाणं च दुयं तहा ।
जे भिक्खू वज्जइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥६॥

विगहा कसाय सण्णाणं च - चार विकथा चार कषाय और चार संज्ञा, **तहा** - तथा, **झाणाणं दुयं** - दो ध्यान (आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान) इन सब को, **जे** - जो, **भिक्खू** - भिक्षु-साधु, **णिच्चं** - नित्य-सदैव, **वज्जइ** - छोड़ देता है, **से** - वह, **मंडले** - मण्डल-संसार में, **ण अच्छइ** - परिभ्रमण नहीं करता है ॥६॥

वएसु इंदियत्थेसु, समिइसु किरियासु य ।
जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥७॥

वएसु - पाँच महाव्रत, **य** - और, **समिइसु** - पाँच समितियों के पालन में तथा, **इंदियत्थेसु** - पाँच इन्द्रियों के विषय और, **किरियासु** - पाँच क्रियाओं के परित्याग में, **जे** - जो, **भिक्खू** - भिक्षु-साधु, **णिच्चं** - नित्य-सदा, **जयइ** - यत्न करता है, **से** - वह, **मंडले** - मण्डल-संसार में, **ण अच्छइ** - परिभ्रमण नहीं करता है ॥७॥

लेसासु छसु काएसु, छक्के आहार-कारणे ।
जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥८॥

छसु - छह, **लेसासु** - लेश्याओं में, **काएसु** - छह काय में और, **छक्के** - छह, **आहारकारणे** - आहार करने के

और आहार त्यागने के छह कारण इन में, **जे** - जो, **भिक्खू** - भिक्षु-साधु, **णिच्चं** - नित्य, **जयइ** - उपयोग रखता है, **से** - वह, **मंडले** - मण्डल-संसार में, **ण अच्छइ** - परिभ्रमण नहीं करता है ॥ ८ ॥

पिंडोग्गहपडिमासु, भयट्ठाणेसु सत्तसु ।
जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ ९ ॥

- **पिंडोग्गहपडिमासु** - आहार ग्रहण विषयक सात पडिमाओं में और, **सत्तसु** - सात, **भयट्ठाणेसु** - भयस्थानों में, **जे** - जो, **भिक्खू** - साधु, **णिच्चं** - नित्य, **जयइ** - उपयोग, रखता है, **से** - वह, **मंडले** - मण्डल-संसार में, **ण अच्छइ** - परिभ्रमण नहीं करता है ॥ ९ ॥

विवेचन - सात पिण्डोवग्रह प्रतिमाओं के नाम-संसृष्ट, असंसृष्टा, उद्धृता, अल्पलेपिका, उद्गृहीता, प्रगृहीता और उज्झित धर्मा । ये सात पिण्डैषणा कहलाती हैं । इनका अर्थ उत्तराध्यन सूत्र के ३० वें अध्ययन की २५ वीं गाथा के विवेचन में दे दिया गया है ।

सात भयों के नाम - इहलोकभय, परलोक भय, आदान भय, अकम्हा (अकस्मात्) भय, आजीविका भय, अपयश भय और मरण भय ।

मएसु बंभगुत्तीसु, भिक्खुधम्मम्मि दसविहे ।
जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ १० ॥

- **मएसु** - आठ मदस्थानों के त्याग में, **बंभगुत्तीसु** - ब्रह्मचर्य-गुप्तियों का पालन करने में तथा, **दसविहे** - दस प्रकार के, **भिक्खुधम्मम्मि** - भिक्षु धर्म-यतिधर्म का पालन करने में, **जे** -

✡✡

जो, **भिक्खू** - भिक्षु-साधु, **णिच्चं** - नित्य-सदा, **जयइ** - उपयोग रखता है, **से** - वह, **मंडले** - मण्डल-संसार में, **ण अच्छइ** - परिभ्रमण नहीं करता है ॥ १० ॥

विवेचन - मद आठ-जातिमद, कुलमद, रूपमद, बलमद, लाभमद, श्रुतमद, ऐश्वर्यमद और तपमद ।

ब्रह्मचर्य गुप्तियां नौ-१-स्त्री-पशु-नपुंसक रहित स्थान में निवास करना २ स्त्रियों की कथा न करना ३ स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठना अथवा जिस आसन एवं स्थान पर स्त्री बैठी हुई थी, उसके उठ जाने पर भी एक मुहूर्त्त तक उस आसन एवं स्थान पर न बैठना ४ स्त्रियों के मनोहर अंगों को विकारपूर्वक न देखना ५ भित्ति-भींत (दीवार) आदि के अन्तर से स्त्रियों के शब्दों को न सुनना ६ पहले भोगे हुए भोगों को याद न करना ७ गरिष्ठ आहार न करना ८ परिमाण से अधिक आहार न करना ९ अपने शरीर को विभूषित न करना ।

यतिधर्म दस-१ क्षमा २ मुक्ति (निर्लोभता) ३ आर्जव (सरलता) ४ मार्दव (मृदुता) ५ लाघव (लघुता) ६ सत्य ७ संयम ८ तप ९ त्याग १० ब्रह्मचर्यवास ।

उवासग पडिमासु, भिक्खूणं पडिमासु य ।
जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ ११ ॥

- **उवासग पडिमासु** - उपासक प्रतिमा-श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं में, **य** - और, **भिक्खूणं** - भिक्षुओं-साधुओं की, **पडिमासु** - बारह प्रतिमाओं में, **जे** - जो, **भिक्खू** - भिक्षु-साधु, **णिच्चं** - नित्य-सदा, **जयइ** - उपयोग रखता है, **से** - वह, **मंडले**- मण्डल-संसार में, **ण अच्छइ** - परिभ्रमण नहीं करता ॥ ११ ॥

विवेचन - श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं के नाम-१ सम्यक्त्व का पालन करना २ व्रत धारण करना ३ काल में - उभयकाल - यथा समय प्रतिक्रमणादि क्रियाएँ करना ४ तिथियों में पौषध करना ५ रात्रि में कायोत्सर्ग करना, स्नानादि का त्याग करना और धोती की लांग न बांधना ६ ब्रह्मचर्य धारण करना ७ सचित्ताहार का त्याग करना ८ स्वयं आरम्भ न करना ९ दूसरों से आरम्भ न कराना १० उद्दिष्ट आहार का त्याग करना ११ साधु के समान आचरण करना।

बारह भिक्खु प्रतिमाओं के नाम-एक मास से लेकर सात मास तक एक-एक मास की सात प्रतिमाएं होती है। आठवीं, नौवीं और दसवीं ये तीन प्रतिमाएँ सात-सात अहोरात्रि की है। ग्यारहवीं प्रतिमा एक अहोरात्रि की है और बारहवीं प्रतिमा केवल एक रात्रि की होती है।

किरियासु भूयगामेसु, परमाहम्मिएसु य।
जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले॥

- **किरियासु** - तेरह क्रियाओं में, **भूयगामेसु** - चौदह भूतग्रामों में, **य** - और, **परमाहम्मिएसु** - पन्द्रह परमाधार्मिकों में, **जे** - जो, **भिक्खू** - भिक्षु-साधु, **णिच्चं** - नित्य-सदा, **जयइ** - उपयोग रखता है, **से** - वह, **मंडले** - मण्डल-संसार में, **ण अच्छइ** - परिभ्रमण नहीं करता है॥ १२॥

गाहासोलसएहिं, तहा असंजमम्मि य।
जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले॥ १३॥

- **जे** - जो, **भिक्खू** - भिक्षु-साधु, **गाहासोलसएहिं** - सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययनों में, **णिच्चं**

☆☆

नित्य-सदा, **जयइ** - उपयोग रखता (ज्ञान रखता) है, **तहा, य** - और, **असंजमम्मि** - सतरह प्रकार के संयम को छोड़ कर पृथ्वीकायादि की रक्षा रूप सतरह प्रकार के असंयम का पालन करता है, **से** - वह, **मंडले** - मण्डल-संसार में, **ण अच्छइ** - परिभ्रमण नहीं करता है ॥ १३ ॥

बंभम्मि णायज्झयणेसु, ठाणेसु असमाहिए ।
जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ १४ ॥

- **जे** - जो, **भिक्खू** - भिक्षु-साधु, **बंभम्मि** - अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य का, **णिच्चं** - नित्य-सदा, **जयइ** - पालन करता है तथा **णायज्झयणेसु** - ज्ञातासूत्र के उन्नीस अध्ययनों का अध्ययन करता है और, **असमाहिए** - बीस असमाधि के, **ठाणेसु** - स्थानों का त्याग कर समाधि स्थानों में प्रवृत्ति करता है, **से** - वह, **मंडले** - मण्डल-संसार में, **ण अच्छइ** - परिभ्रमण नहीं करता है ॥ १४ ॥

एगवीसाए सबले, बावीसाए परीसहे ।
जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ १५ ॥

- **एगवीसाए** - इक्कीस, **सबले** - शबल दोष और, **बावीसाए** - बाईस, **परीसहे** - परीषहों में, **जे** - जो, **भिक्खू** - भिक्षु-साधु, **णिच्चं** - नित्य-सदैव, **जयइ** - उपयोग रखता (दोषों का त्याग करता) है और परीषहों को समभावपूर्वक सहन करता है, **से** - वह, **मंडले** - मण्डल-संसार में, **ण अच्छइ** - परिभ्रमण नहीं करता है ॥ १५ ॥

तेवीसाए सूयगडे, रूवाहिएसु सुरेसु य ।
जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ १६ ॥



- **सूयगडे** - सूयगडांग सूत्र के, **तेवीसाए** - तेईस अध्ययनों में, **य** - और, **रूवाहिएसु** - रूपाधिक अर्थात् २४ प्रकार के, **सुरेसु** - देवों में, **जे** - जो, **भिक्खू** - भिक्षु-साधु, **णिच्चं** - नित्य-सदा, **जयइ** - उपयोग रखता है, **से** - वह, **मंडले** - मण्डल-संसार में, **ण अच्छइ** - परिभ्रमण नहीं करता है ॥ १६॥

विवेचन - इस गाथा में '**रूवाहिएसु**' शब्द दिया है। यहाँ पर 'रूप' शब्द का अर्थ शरीर के गौर वर्ण आदि से नहीं लिया गया है किन्तु यहाँ 'रूप' शब्द संख्यावाची है। अर्थात् 'रूप' का अर्थ है एक। इस गाथा में सूयगडाङ्ग सूत्र के २३ अध्ययन कहे गये हैं। तेईस में एक और मिलाने पर चौबीस होते हैं इसलिये 'रूवाहिएसु सुरेसु' का अर्थ होता है चौबीस प्रकार के देव। चौबीस प्रकार के देव कौन से हैं? समाधान दिया जाता है कि - दस भवनपति, आठ वाणव्यन्तर, पाँच ज्योतिषी और एक वैमानिक जाति के देव। इस प्रकार इस गाथा में २४ प्रकार के देवों का कथन किया गया है।

पणवीस-भावणासु, उद्देसेसु दसाइणं ।
जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥१७॥

- **जे** - जो, **भिक्खू** - भिक्षु-साधु, **णिच्चं** - नित्य-सदा, **पणवीस-भावणासु** - पाँच महाव्रत की पच्चीस भावनाओं में, **जयइ** - उपयोग रखता है और, **दसाइणं** - दशाश्रुतस्कन्ध आदि के, **उद्देसेसु**- छब्बीस उद्देशों का (दशाश्रुतस्कन्ध के दस, बृहत्कल्प के छह और व्यवहार सूत्र के दस कुल मिला कर छब्बीस अध्ययनों का) सम्यक् अध्ययन कर के प्ररूपणा करता है, **से** - वह, **मंडले** - ~~~ल-संसार में, **ण अच्छइ** - परिभ्रमण नहीं करता है ॥ १७॥

अणगार-गुणेहिं च, पगप्पम्मि तहेव य ।
जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥१८॥

- **जे** - जो, **भिक्खू** - भिक्षु-साधु, **णिच्चं** - नित्य-सदा, **अणगार-गुणेहिं** - साधु के सत्ताईस गुणों को, **जयइ** - धारण करता है, **च, तहेव, य** - और, **पगप्पम्मि** - अट्ठाईस प्रकार के आचारप्रकल्पों में [आचारांग सूत्र के दोनों श्रुतस्कन्धों के 'सत्थपरिण्णा' आदि पच्चीस अध्ययन और निशीथ सूत्र के तीन १. उद्घातिक (लघुमासिक, लघु चौमासी, लघु छहमासी) २. अनुद्घातिक (गुरुमासिक, गुरु चौमासी, गुरु छहमासी) ३. आरोपणा इन २८ अध्ययनों में] सदा उपयोग रखता है, **से** - वह, **मंडले** - मण्डल-संसार में, **ण अच्छइ** - परिभ्रमण नहीं करता है ॥१८॥

विवेचन - आचार-चारित्राचार तथा प्रकल्प-मर्यादा । जिस शास्त्र में साधु के चारित्र पालन की मर्यादा बतलाई गई हो उसे आचार-प्रकल्प कहते हैं । साधु के चारित्राचार पालन की मर्यादा आचाराङ्ग सूत्र में बतलाई गई है । इसलिये इसके २८ भेद ऊपर बतला दिये गये हैं । निशीथ सूत्र आचारांग सूत्र की चूलिका मात्र है ।

समवायाङ्ग सूत्र के २८ वें समवाय में आचार-प्रकल्प के २८ भेद दूसरे प्रकार से दिये गये हैं । वे इस प्रकार हैं -

१. एक मास २. एक मास पांच दिन ३. एक मास दस दिन ४. एक मास पन्द्रह दिन ५. एक मास बीस दिन ६. एक मास पच्चीस दिन । ये एकमास के छह भेद हुए । इसी प्रकार दूसरे मास के छह, तीसरे मास के छह, चौथे मास के छह भेद कर देने से चौबीस भेद हुए । २५ उद्घातिक २६. अनुद्घातिक २७. कृत्स्ना आरोपणा २८. अकृत्स्ना आरोपणा ।



पावसुयप्पसंगेसु, मोहठाणेसु चेव य ।
जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥१९॥

- **जे** - जो, **भिक्खू** - भिक्षु-साधु, **पावसुयप्पसंगेसु** - उनतीस प्रकार के पापसूत्रों में, **णिच्चं** - नित्य-सदा, **जयइ** - उपयोग रखता है (पापसूत्रों का कथन नहीं करता) **चेव, य** - और, **मोहठाणेसु** - मोहनीय-कर्म बाँधने के तीस स्थानों का त्याग करता है, **से** - वह, **मंडले** - मण्डल-संसार में, **ण अच्छइ** - परिभ्रमण नहीं करता है ॥ १९ ॥

सिद्धाइगुणजोगेसु, तेतीसासायणासु य ।
जे भिक्खू जयइ णिच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥२०॥

- **जे** - जो, **भिक्खू** - साधु, **सिद्धाइगुण** - सिद्ध भगवान् के इकत्तीस आदि -गुण और **जोगेसु** - बत्तीस प्रकार के योगसंग्रहों में, **णिच्चं** - नित्य-सदा, **जयइ** - उपयोग रखता है, **य** - और, **तेतीसासायणासु** - तेतीस आशातनाओं का त्याग करता है, **से** - वह, **मंडले** - मण्डल-संसार में, **ण अच्छइ** - परिभ्रमण नहीं करता है ॥ २० ॥

विवेचन - गाथा में '**सिद्धाइगुण**' शब्द दिया है - सिद्ध-'आदि गुण' यहाँ आदि शब्द का अर्थ है - 'प्रारम्भ' । इसलिये यह अर्थ निकलता है कि - जो जीव आठ कर्म खपा कर मोक्ष में जाता है । उसके सिद्ध अवस्था की प्राप्ति के प्रारम्भ बेला में ही ये ३१गुण प्रकट हो जाते हैं । ये युगपद (एक साथ) स्थायी गुण हैं, क्रम भावी नहीं । इसलिये शास्त्रकार ने 'आदि गुण' शब्द है । जिसका अर्थ हुआ - सिद्ध अवस्था के प्रारम्भ में ही होने वाले गुण ।



इय एएसु ठाणेसु, जे भिक्खू जयइ सया ।
खिप्पं सो सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिओ ।।२१ ॥
।। त्तिबेमि ॥

- **इय** - इस प्रकार, **एएसु** - इन ऊपर कहे गये, **ठाणेसु** - स्थानों में, **जे** - जो, **भिक्खू** - भिक्षु-साधु, **सया** - सदा, **जयइ** - उपयोग रखता है (छोड़ने योग्य स्थानों का त्याग करता है और जानने योग्य स्थानों के स्वरूप को जानता है और ग्रहण करने योग्य स्थानों को ग्रहण करता है) **सो** - वह, **पंडिओ** - पंडित पुरुष, **खिप्पं** - क्षिप्र-शीघ्र ही, **सव्वसंसारा** - समस्त सांसारिक बन्धनों से, **विप्पमुच्चइ** - विप्रमुक्त हो जाता है अर्थात् छूट जाता है ॥ २१ ॥ **त्तिबेमि** - ऐसा मैं कहता हूँ ।

विवेचन - अठारह पापों का तीन करण तीन योग से सर्वथा त्याग करने वाला पण्डित कहलाता है ।

।। इकत्तीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥



'प्रमादस्थान' बत्तीसवाँ अध्ययन

अच्चंतकालस्स समूलगस्स,
सव्वस्स दुक्खस्स उ जो पमोक्खो ।
तं भासउ मे पडिपुण्णचित्ता,
सुणेह एगंतहियं हियत्थं ॥ १॥

– गुरु महाराज फरमाते हैं कि हे शिष्यो ! **अच्चंतकालस्स**- अत्यन्तकाल–अनादिकाल से, **समूलगस्स** – मिथ्यात्वादि मूल सहित रहे हुए, **सव्वस्स** – सभी, **दुक्खस्स** – दुःखों से, **पमोक्खो** - प्रमोक्ष–छुड़ा कर मोक्ष देने वाला, **जो** – जो, **एगंतहियं** – एकान्त हितकारी और, **हियत्थं** – हितार्थ–कल्याणकारी उपाय है, **तं** - उसका, **मे** – मैं, **भासउ** – कथन करता हूँ । अतः, **पडिपुण्णचित्ता**– प्रतिपूर्णचित्त–एकाग्रचित्त हो कर, **सुणेह** – सुनो ॥ १ ॥

विवेचन – वादीवेतालशांतिसूरि ने इस गाथा में प्रयुक्त "**अच्चंतकालस्स**" शब्द की टीका करते हुए लिखा है "अन्तमतिक्रान्तोऽत्यन्तो, वस्तुनश्च द्वावन्तौ – आरम्भक्षणः समाप्तिक्षणश्च, तथा च अन्यैः अपि उच्यते "उभयान्तापरिच्छिन्ना वस्तुसत्ता नित्या इति" तत्र इह आरम्भक्षणः अन्तः परिगृह्यते, तथा च अत्यन्तः – अनादि कालो यस्य सः अयम् अत्यन्तकालः ।"

अर्थ – वस्तु के दो प्रकार के अन्त होते हैं, यथा – आरम्भ क्षण (वस्तु का प्रारम्भ) और समाप्तिक्षण। दूसरे आचार्यों ने भी ऐसा कहा है, जिस वस्तु में आरम्भक्षण और समाप्तिक्षण न पाये जाते हों अर्थात् जिसका आदि और अन्त न हो उस वस्तु को नित्य



कहते हैं । इस गाथा में प्रयुक्त अन्त शब्द का अर्थ आरम्भ क्षण लिया जाता है अर्थात् जिस वस्तु का आरम्भ (प्रारम्भ) आदि न पाया जाता हो उसे अनादि कहते हैं । इसीलिये यहाँ अनादि काल को अत्यन्तकाल कहा है । तात्पर्य यह है कि आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध कब हुआ है उसका आदि काल नहीं पाया जाने के कारण कर्मों का सम्बन्ध आत्मा के साथ अनादि काल से है ।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी केवली भगवान् "सर्व द्रव्य, सर्व क्षेत्र, सर्व काल, सर्व भाव जानते देखते हैं" इसका आशय यह समझना कि केवलज्ञान व केवलदर्शन के पर्याय-सर्वाधिक स्तर के (सभी अनन्त के प्रकारों में सबसे ऊंचा दर्जा अर्थात् मध्यम अनंतानंत-आठवें अनन्त का बहुत ऊंचा दर्जा) होते हैं। उस ज्ञान दर्शन के द्वारा-सभी ज्ञेय पदार्थ (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) के सभी अविभाज्य अंश-सम्पूर्ण रूप से 'संख्या' आदि सभी दृष्टि से जाने देखे जाते हैं अतः केवलियों के लिए कोई भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अनजाना अनदेखा नहीं होता है अतः उसका आदि अन्त भी जानते देखते हैं। केवलज्ञान दर्शन-ज्ञाता दृष्टा होने से भाजन के समान आधार भूत है-सभी द्रव्यादि उसके विषय रूप (ज्ञेय रूप) होने से आधेय गिने जाते हैं। आधार हमेशा बड़ा ही होता है। थाली के समान केवल ज्ञान, केवलदर्शन, कटोरियों के समान द्रव्यादि। अनादि अनन्त शब्दों का व्यवहार-छद्मस्थों को समझाने के लिए किया है। केवलियों के लिये कोई भी द्रव्यादि 'अनादि अनन्त' नहीं होते हैं। केवलज्ञानी मित अमित सभी को जानते देखते हैं। भगवती सूत्र शतक २५ में बताई हुई लोक, अलोक के पूर्वादि दिशाओं की श्रेणियों से यह स्पष्ट हो जाता है।

णाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अण्णाणमोहस्स विवज्जणाए ।



रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥ २॥

- **सव्वस्स** - सम्पूर्ण, **णाणस्स** - ज्ञान के, **पगासणाए** - प्रकाश से और, **अण्णाणमोहस्स** - अज्ञान और मोह के, **विवज्जणाए** - विवर्जन-त्याग से, **य** - तथा, **रागस्स** - राग और, **दोसस्स** - द्वेष के, **संखएणं** - क्षय से, **एगंतसोक्खं** - एकान्त सुखकारी, **मोक्खं** - मोक्ष की, **समुवेइ** - प्राप्ति होती है ॥ २॥

तस्सेसमग्गो गुरु-विद्ध-सेवा,
विवज्जणा बाल-जणस्स दूरा ।
सज्झाय-एगंतणिवेसणा य,
सुत्तत्थ-संचितणया धिई य ॥ ३॥

- **गुरुविद्धसेवा** - गुरु महाराज और वृद्ध मुनियों की सेवा करना, **बालजणस्स** - बाल-जनों अज्ञानियों के संग को, **दूरा** - दूर से ही, **विवज्जणा** - विवर्जन त्याग देना, **सज्झाय एगंतणिसेवणा** - एकान्त में रह कर स्वाध्याय करना, **य** - और, **सुत्तत्थसंचितणया** - सूत्र और अर्थ का चिन्तन करना, **य** - तथा, **धिई** - धैर्यपूर्वक संयम का पालन करना, **एस** - यह, **तस्स** - उस मोक्ष का, **मग्गो** - मार्ग (उपाय) है ॥ ३ ॥

आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं,
सहायमिच्छे णिउणत्थ-बुद्धिं ।
णिकेयमिच्छेज्ज विवेगजोगं,
समाहिकामे समणे तवस्सी ॥ ४॥

- **समाहिकामे** - समाधि को चाहने वाला, **समणे** - श्रमण, **तवस्सी** - तपस्वी, **मियं** - परिमित और, **एसणिज्जं** -

✡✡

एषणीय-निर्दोष, **आहारं** - आहार आदि की, **इच्छे** - इच्छा करे, **णिउणत्थबुद्धिं**- जीवादि पदार्थों में निपुण बुद्धि वाले को, **सहायं**- सहायक (शिष्यादि) **इच्छे** - इच्छा करे और, **विवेगजोगं** - स्त्री-पशु-नपुंसक रहित, **णिकेयं** - निकेत-योग्य स्थान की, **इच्छेज्ज** - इच्छा करे ॥४॥

ण वा लभेज्जा णिउणं सहायं,
गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।
एक्को वि पावाइं विवज्जयंतो,
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ ५॥

- **वा** - यदि, **गुणाहियं** - अपने से अधिक गुण वाला, **वा**, **वा** - अथवा, **समं** - अपने समान, **गुणओ** - गुण वाला, **णिउणं** - निपुण, **सहायं** - सहायक, **ण लभेज्जा** - नहीं मिले तो, **एक्को (एगो)** - अकेला, **वि** - ही, **पावाइं** - पाप-कर्मों को, **विवज्जयंतो** - वर्जता हुआ और, **कामेसु** - काम-भोगों में, **असज्जमाणो** - आसक्त न होता हुआ, **विहरेज्ज** - विचरे किन्तु दुर्गुणी का संग नहीं करे ॥५॥

विवेचन - इस गाथा में परिस्थिति वश एकलविहार का वर्णन किया है। यह सर्व साधारण की अपेक्षा नहीं समझना चाहिए। किन्तु गीतार्थ की अपेक्षा समझना चाहिए। जैसा कि ठाणाङ्ग सूत्र के आठवें ठाणे उद्देशक ३ में कहा है - आचार्य या गुरुदेव की आज्ञा लेकर जिनकल्प प्रतिमा या मासिकी प्रतिमा आदि अङ्गीकार करके साधु के अकेले विचरने रूप अभिग्रह को एकलविहार प्रतिमा कहते हैं। समर्थ और श्रद्धा तथा चारित्र आदि में दृढ़ साधु ही इसे अङ्गीकार कर सकता है। उसमें नीचे लिखी आठ बातें होनी चाहिए ।



१. सड्ढी पुरिस जाए - श्रद्धावान् - वह साधु जिनमार्ग में प्रतिपादित तत्त्व तथा आचार में दृढ़ श्रद्धा वाला हो । कोई देव तथा देवेन्द्र भी उसे सम्यक्त्व तथा चारित्र से विचलित न कर सके। ऐसा पुरुषार्थी उद्यमशील तथा हिम्मती होना चाहिए ।

२. सच्चे पुरिसजाए - सत्य पुरुषजात - सत्यवादी और दूसरों के लिये हित वचन बोलने वाला ।

३. मेहावी पुरिसजाए - मेधावी पुरुषजात - शास्त्रों को ग्रहण करने की शक्तिवाला अथवा मर्यादा में रहने वाला ।

४. बहुस्सुए - बहुश्रुत अर्थात् बहुत शास्त्रों को जानने वाला हो । सूत्र, अर्थ और तदुभय रूप आगम उत्कृष्ट कुछ कम दस पूर्व तथा जघन्य नवमें पूर्व की तीसरी आचार वस्तु को जानने वाला होना चाहिए ।

५ सत्तिमं - शक्तिमान् अर्थात् समर्थ होना चाहिए । तप, सत्त्व, सूत्र, एकत्व और बल इन पांचों के लिए अपने बल की तुलना कर चुका हो ।

६. अप्पाहिक्करणे - अल्पाधिकरण - थोड़े वस्त्र पात्रादि वाला तथा कलह रहित हो ।

७. धिइमं - धैर्यवान्‌चित्त की स्वस्थता वाला अर्थात् रति, अरति तथा अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करने वाला हो ।

८. वीरियसम्पण्णे - वीर्य सम्पन्न - परम उत्साह वाला हो। अभी इस पंचम काल में पूर्वो का ज्ञान विछिन्न हो चुका है । इसलिये आगमानुसार कोई भी एकलविहारी नहीं हो सकता । यदि कोई स्वच्छन्दाचारी बनकर गुरु आज्ञा के बिना अकेला विहार



करता है तो आचाराङ्ग सूत्र के पहले श्रुतस्कन्ध के ५ वें अध्ययन के पहले उद्देशक में ८ अवगुण वाला बतलाया है ।

१. **बहुकोहे** - बहुत क्रोधी २. **बहुमाणे** - बहुत मानी ३. **बहुमाए** - बहुत मायी (कपटी) ४. **बहुलोभे** - बहुत लोभी ५. **बहुरए** - पाप कर्म में बहुत रत रहने वाला अथवा बहुत पाप रूपी रज वाला ६. **बहुणडे** - जगत् को ठगने के लिये नट की तरह अनेक रूप धारण करने वाला ७. **बहुसढे** - बहुत शठ अर्थात् अत्यन्त धूर्त ८. **बहुसंकप्पे** - बहुत संकल्प विकल्प करने वाला ।

इस प्रकार हिंसादि आस्रवों में आसक्त और भारी कर्मा जीव एकलविहारी बन जाता है। इसके लिये हिन्दी कवि ने ऐसा कहा है-

चार कषायी लोलुपी ज्ञान नहीं गर्विष्ठ ।
आप छन्दी गुरु द्रोही, आठों अवगुण अनिष्ट ॥

इसलिये किसी सन्त को एकल विहारी नहीं होना चाहिए । अकेला विचरने वाला साधु अपनी इच्छानुसार चाहे जितनी तपश्चर्या कर ले वह सब अज्ञान तप है । एकलविहारी साधु भगवान् की आज्ञा का आराधक नहीं, किन्तु विराधक है ।

जहा य अंडप्पभवा बलागा,
अंडं बलागप्पभवं जहा य ।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा,
मोहं च तण्हाययणं वयंति ॥ ६ ॥

- **जहा** - जिस प्रकार, **बलागा** - बगुला पक्षी, **अंडप्पभवा**- अण्डे से उत्पन्न होता है, **य** - और, **जहा** - जिस प्रकार, **अंडं** - अण्डा, **बलागप्पभवं** - बलाका (गुला पक्षिणी) से उत्पन्न होता है, **एमेव** - इसी प्रकार, **खु** - निश्चय ही, **तण्हा** - तृष्णा,

मोहाययणं - मोह का आयतन स्थान है, **च** - और, **मोहं** - मोह, **तण्हाययणं** - तृष्णा का आयतन स्थान है (तृष्णा से मोह उत्पन्न होता है) मोह और तृष्णा का पारस्परिक हेतु-हेतु-मद्भाव सम्बन्ध है ऐसा, **वयंति** - ज्ञानी पुरुष फरमाते हैं ॥ ६ ॥

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
कम्मं च जाइमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाइमरणं वयंति ॥ ७॥

- **रागो** - राग, **य** - और, **दोसो** - द्वेष ये दोनों ही, **कम्मबीयं** - कर्मों के बीज रूप हैं, **च** - और, **कम्मं** - कर्म, **मोहप्पभवं** - मोह से उत्पन्न होते हैं ऐसा, **वयंति** - ज्ञानी पुरुष कहते हैं, **च** - और, **कम्मं** - कर्म ही, **जाइमरणस्स** - जाति (जन्म)मरण का, **मूलं** - मूल कारण है, **च** - और, **जाइमरणं** - जन्म-मरण, **दुक्खं** - यही दुःख है ऐसा, **वयंति** - ज्ञानी पुरुष कहते हैं ॥७॥

विवेचन - जन्म मरण ही दुःख है यही बात १९ वें अध्ययन में भी कही गयी है यथा -

जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतवो ॥ १६ ॥

जन्म दुःख है, बुढापा दुःख है, रोग दुःख है और मरण दुःख है । संसार के सभी प्राणी इन दुःखों से दुःखी हो रहे हैं । वास्तव में इन सब दुःखों का मूल कारण जन्म है । जिसका जन्म होता है उसी को मरण, रोग और व्याधि होती है अतः ज्ञानी पुरुष फरमाते हैं कि -जन्म की ही जड़ उखाड़ देनी चाहिए । इसी जिनवाणी का अनुसरण करते हुये किसी ने कहा है -



मृत्यु से क्यों डरत है, मृत्यु छोड़त नाय ।
अ जन्मा मरता नहीं, कर यत्न नहीं जन्माय ॥

दुक्खं हयं जस्स ण होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स ण होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स ण होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स ण किंचणाइं ॥ ८॥

– **जस्स** – जिसके, **मोहो** – मोह, **ण होइ** – नहीं है उसका, **दुक्खं** – दुःख, **हयं** – हत-नष्ट हो गया । **जस्स** – जिसका, **मोहो**- मोह, **हओ** – हत-नष्ट हो गया उसके, **तण्हा** – तृष्णा, **ण** – नहीं, **होइ** – होती, **जस्स** – जिसकी, **तण्हा** – तृष्णा, **हया** – हता-नष्ट हो गई उसे, **लोहो** – लोभ, **ण** – नहीं, **होइ** – होता और, **जस्स** – जिसका, **लोहो** – लोभ, **हओ** – हत-नष्ट हो गया, उसके लिए, **ण किंचणाइं**- आसक्ति आदि कुछ नहीं होती (उसके लिए सब पाप नष्ट हो गये) ऐसा समझना चाहिये ॥ ८॥

रागं च दोसं च तहेव मोहं,
उद्धत्तुकामेण समूलजालं ।
जे जे उवाया पडिवज्जियव्वा,
ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्विं ॥ ९॥

– गुरु महाराज फरमाते हैं कि हे शिष्यो ! **रागं** – राग, **दोसं**- द्वेष, **च**- और, **मोहं समूलजालं** – मोह के जाल को मूल सहित, **उद्धत्तुकामेण** – उखाड़ फैंकने की इच्छा वाले पुरुष को, **जे जे** - जो-जो, **उवाया** – उपाय, **पडिवज्जियव्वा** – अंगीकार करने चाहिये, **ते** – उनका, **अहाणुपुव्विं** – यथानुपूर्वी-क्रमपूर्वक, **कित्तइस्सामि**- मैं कीर्तन-वर्णन करूँगा । उसे ध्यानपूर्वक सुनो ॥ ९॥



रसा पगामं ण णिसेवियव्वा,
पायं रसा दित्तिकरा णराणं ।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति,
दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥ १०॥

- **रसा** - दूध-घृत आदि रसों का, **पगामं** - अधिक मात्रा में, **ण णिसेवियव्वा** - सेवन नहीं करना चाहिए क्योंकि, **पायं** - प्रायः, **रसा** - रस, **णराणं** - मनुष्यों में, **दित्तिकरा** - दीप्तिकर-कामाग्नि को दीप्त करते हैं, **च** - और, **दित्तं** - उद्दीप्त मनुष्य की ओर, **कामा**- कामवासनाएँ, **समभिद्दवंति** - ठीक वैसे ही दौड़ी जाती है, **जहा** - जिस प्रकार, **साउफलं** - स्वादुफल-स्वादिष्ट फल वाले, **दुमं** - वृक्ष की ओर, **पक्खी** - पक्षी दौड़े आते हैं ॥ १०॥

जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे,
समारुओ णोवसमं उवेइ ।
एविंदियग्गी वि पगामभोइणो,
ण बंभयारिस्स हियाय कस्सइ ॥ ११॥

- **जहा** - जिस प्रकार, **पउरिंधणे** - प्रचुर इन्धन-बहुत ईन्धन वाले, **वणे**- वन में लगी हुई, **समारुओ** - समारुत-वायु-सहित, **दवग्गी** - दावाग्नि (दावानल) जंगल में लगी हुई अग्नि, **उवसमं** - उपशम-शान्त, **ण उवेइ** - नहीं होती है, **एवं** - इसी प्रकार, **पगामभोइणो** - प्रकामभोजी (विविध प्रकार के रसयुक्त पदार्थों को खूब भोगने वाले) **कस्सइ** - किसी, **वि** - भी, **बंभयारिस्स** - ब्रह्मचारी की, **इंदियग्गी** - इन्द्रिय रूप अग्नि शान्त नहीं होती और वह, **ण हियाय** - उसके लिए हितकारी भी नहीं होती है ॥ ११॥



विवित्तसेज्जासणजंतियाणं,
ओमासणाणं दमिइंदियाणं।
ण रागसत्तू धरिसेइ चित्तं,
पराइओ वाहिरिवोसहेहिं ॥ १२॥

– **ओसहेहिं** – औषधियों से, **पराइओ** – पराजित दबाई हुई, **वाहिरिव** – व्याधि इव-व्याधि के समान (जिस प्रकार उत्तम औषधियों से पराजित की हुई व्याधि फिर आक्रमण नहीं करती उसी प्रकार) **विवित्तसेज्जासण** – स्त्री-पशु-नपुंसक रहित एकान्त शय्या-आसनादि का, **जंतियाणं** – यन्त्रित अर्थात् सेवन करने वाले, **ओमासमाणं** – अवम अशन-कम आहार करने वाले, **दमिइंदियाणं**– दमित इन्द्रिय-इन्द्रियों का दमन करने वाले, पुरुषों के, **चित्तं** – चित्त को, **रागसत्तू** – राग रूपी शत्रु, **ण धरिसेइ** – दबा नहीं सकता है ॥ १२॥

जहा विरालावसहस्स मूले,
ण मूसगाणं वसही पसत्था ।
एमेव इत्थीणिलयस्स मज्झे,
ण बंभयारिस्स खमो णिवासो।। १३ ॥

– **जहा** – जिस प्रकार, **विरालावसहस्स** – बिल्ली के रहने के स्थान के, **मूले** – मूल-निकट, **मूसगाणं** – मूषक-चूहों का, **वसही** – वसति-रहना, **ण पसत्था** – प्रशस्त नहीं है, **एमेव** – इसी प्रकार, **इत्थीणिलयस्स** – स्त्रियों के स्थान के, **मज्झे** – मध्य में, **बंभयारिस्स** – ब्रह्मचारी पुरुष का, **णिवासो** – निवास-रहना, **ण खमो** – ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ रहने से उसके ब्रह्मचर्य में हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है ॥ १३॥

विवेचन - जहाँ बिल्ली रहती हो वहाँ चूहों का रहना ठीक नहीं है क्योंकि चाहे कितनी ही सावधानी रखें किन्तु किसी न किसी समय उनके मारे जाने का भय रहता ही है । इसी प्रकार स्त्री, पशु और नपुंसक युक्त मकान में ब्रह्मचारी का रहना उचित नहीं क्योंकि वह कितनी ही सावधानी रखे तो भी कभी न कभी उसके ब्रह्मचर्य के विनाश की संभावना रहती ही है । अतः ऐसे स्थान को छोड़ देना चाहिए ।

ण रूव-लावण्ण-विलास-हासं,
ण जंपियं इंगियपेहियं वा ।
इत्थीण चित्तंसि णिवेसइत्ता,
दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥ १४ ॥

- **समणे** - श्रमण, **तवस्सी** - तपस्वी, **इत्थीण** - स्त्रियों के, **रूव लावण्ण विलास हासं** - रूप, लावण्य, विलास और हास्य को, **वा** - तथा, **जंपियं** - जल्पित (मधुर वचनों को) और, **इंगियपेहियं** - इंगित (संकेत) एवं विविध प्रकार की शारीरिक चेष्टा तथा प्रेक्षित (कटाक्षविक्षेपादि) को, **चित्तंसि** - अपने चित्त में, **णिवेसइत्ता** - स्थापित करके उन्हें, **दट्ठुं** - रागपूर्वक देखने का, **ण ववस्से** - प्रयत्न न करे ॥ १४ ॥

अदंसणं चेव अपत्थणं च,
अचिंतणं चेव अकित्तणं च ।
इत्थीजणस्सारियझाणं-जुग्गं,
हियं सया बंभवए रयाणं ॥ १५ ॥

—**सया** - सदा, **बंभवए रयाणं** - ब्रह्मचर्य व्रत में अनुरक्त

☆☆

रहने वाले, **च** - और, **आरियझाणं जुग्गं** - आर्यध्यानयोग्य-आर्यध्यान (धर्मध्यान शुक्ल ध्यान) में तल्लीन साधुओं को, **इत्थीजणस्स** - स्त्रियों के अंगोपांगादि, **अदंसणं** - रागपूर्वक नहीं देखना, **अपत्थणं** - उनकी इच्छा नहीं करना, **अचिंतणं** - उनका चिन्तन नहीं करना, **चेव** - और, **अकित्तणं** - आसक्ति पूर्वक उनके रूपादि का गुणकीर्तन नहीं करना, **हियं** - यही उनके लिए हितकारी है ॥ १५ ॥

कामं तु देवीहिं विभूसियाहिं,
ण चाइया खोभइउं तिगुत्ता ।
तहा वि एगंत हियं ति णच्चा,
विवित्तवासो मुणीणं पसत्थो ॥ १६ ॥

- **कामं तु** - भले ही, **तिगुत्ता** - मन-वचन-काया रूप तीन गुप्तियों से गुप्त ऐसे समर्थ मुनि जो, **विभूसियाहिं** - वस्त्राभूषणों से सुशोभित एवं मनोहर, **देवीहिं** - देवांगनाओं द्वारा भी, **खोभइउं ण चाइया** - अलंकृत और क्षोभित अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत से डिगाये न जा सकते हों, **तहा वि** - तो भी, **एगंत हियं** - एकान्त हितकारी, **ति** - ऐसा, **णच्चा** - जान कर, **मुणीणं** - मुनियों के लिए, **विवित्तवासो** - विविक्त वास (स्त्री, पशु, नपुंसक से रहित स्थान) का सेवन करना ही, **पसत्थो** - प्रशस्त बतलाया गया है ॥ १६ ॥

मोक्खाभिकंखिस्स उ माणवस्स,
संसार-भीरुस्स ठियस्स धम्मे ।
णेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए,
जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥ १७ ॥

- **मोक्खाभिकंखिस्स** - मोक्ष की इच्छा रखने वाले, **संसारभीरुस्स** - संसार से डरने वाले, **उ** - और, **धम्मे** - धर्म में, **ठियस्स** - स्थित, **माणवस्स** - पुरुष के लिए, **लोए** - इस लोक में, **एयारिसं** - एतादृश-ऐसा, **दुत्तरं** - दुस्तर-कठिन कार्य, **ण अत्थि** - कोई नहीं, **जह** - जितना, **बालमणोहराओ** - अज्ञानी जीवों के मन को हरण करने वाली, **इत्थिओ** - स्त्रियों को त्यागना कठिन है ॥ १७॥

एए य संगे समइक्कमित्ता,
सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता,
णई भवे अवि गंगा समाणा ॥ १८ ॥

- **जहा** - जैसे, **महासागरं** - महासागर को, **उत्तरित्ता** - तिर कर पार हो जाने के बाद, **गंगासमाणा** - गंगा सरीखी, **णई अवि** - नदी को पार करना सरल, **भवे** - है वैसे ही, **एए** - इन, **संगे** - संगों (स्त्रियों की आसक्ति) को, **समइक्कमित्ता** - छोड़ देने के बाद, **सेसा** - दूसरे-प्रकार की सभी आसक्तियाँ, **सुहुत्तरा भवंति**- सुख से पार करने योग्य होती हैं ॥ १८॥

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
जं काइयं माणसियं च किंचि,
तस्संतगं गच्छइ वीयरागो ॥ १९ ॥

- **सदेवगस्स** - देवलोक सहित, **सव्वस्स** - समग्र, **लोगस्स**- लोक में, **जं किंचि** - जो कुछ भी, **काइयं** - कायिक-शारीरिक,

च - और, **माणसियं** - मानसिक, **दुक्खं** - दुःख हैं, वे सब, **खु** - वास्तव में, **कामाणुगिद्धिप्पभवं** - कामानुगृद्धि प्रभव-कामभोगों की आसक्ति से ही उत्पन्न हुए हैं । **वीयरागो** - वीतराग पुरुष ही, **तस्स** - उन दुःखों का, **अंतगं गच्छइ** - पार पा सकता है ॥ १९ ॥

जहा य किंपागफला मणोरमा,
रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा ।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा,
एओवमा कामगुणा विवागे ॥ २० ॥

- **जहा** - जैसे, **किंपागफला** - किंपाक वृक्ष के फल, **रसेण** - रस से मधुर, **य** - और, **भुज्जमाणा** - खाने में भी स्वादिष्ट लगते हैं किन्तु, **पच्चमाणा** - परिपाक के समय (खाने के थोड़े समय बाद ही) वे, **खुड्डए जीविय** - सोपक्रम आयु वाले प्राणियों के जीवन को नष्ट कर देते हैं, **एओवमा** - यही उपमा, **कामगुणा**- कामभोगों के, **विवागे** - विपाक (परिणामों) की होती है अर्थात् ये भोगते समय तो अच्छे लगते हैं किन्तु इनका परिणाम महा दुःखदायी होता है ॥ २० ॥

जे इंदियाणं विसया मणुण्णा,
ण तेसु भावं णिसिरे कयाइ ।
ण यामणुण्णेसु मणं पि कुज्जा,
समाहिकामे समणे तवस्सी ॥ २१ ॥

- **समाहिकामे** - समाधि को चाहने वाला, **समणे** - श्रमण, **तवस्सी** - तपस्वी, **इंदियाणं** - इन्द्रियों के, **जे** - जो, **मणुण्णा** - मनोज्ञ, **विसया** - विषय हैं, **तेसु** - उनमें, **कयाइ** -

कभी भी, **भावं** – रागभाव, **ण णिसिरे** – न करे, **य** – और, **अमणुण्णेसु** – अमनोज्ञ विषयों में, **मणं पि** – मन से भी, **ण कुज्जा** – द्वेष भाव न करे ॥ २१ ॥

चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥ २२ ॥

– **रूवं** – रूप, **चक्खुस्स** – चक्षु इन्द्रिय का, **गहणं** – ग्रहण (विषय) **वयंति** – कहते हैं, **च** – और, **मणुण्णं** – जो रूप मनोज्ञ है, **तं** – उसे, **रागहेउं** – रागहेतु–राग का कारण, **आहु** – कहते हैं, **य** – और, **अमणुण्णं** – जो रूप अमनोज्ञ है, **तं** – उसे, **दोसहेउं** – द्वेष हेतु–द्वेष का कारण, **आहु** – कहते हैं किन्तु, **जो** – जो, **तेसु** – मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपों में, **समो** – समभाव रखता है, **स** – वह, **वीयरागो** – वीतराग है ॥ २२ ॥

रूवस्स चक्खुं गहणं वयंति,
चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुण्णमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु ॥ २३ ॥

– **चक्खुं** – चक्षु को, **रूवस्स** – रूप का, **गहणं** – ग्राहक, **वयंति** – कहते हैं और, **रूवं** – रूप को, **चक्खुस्स** – चक्षु का, **गहणं** – ग्राह्य (ग्रहण करने योग्य) **वयंति** – कहते हैं । ज्ञानी पुरुष, **समणुण्ण** – मनोज्ञ रूप को, **रागस्स** – राग का, **हेउं** – हेतु–कारण, **आहु** – कहते हैं और, **अमणुण्णं** – अमनोज्ञ रूप को, **दोसस्स** – द्वेष का, **हेउं** – हेतु–कारण – **आहु** – कहते हैं ॥ २३ ॥



रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे से जह वा पयंगे,
आलोयलोले समुवेइ मच्चुं ॥ २४ ॥

- **जह वा** - जैसे, **आलोय लोले** - आलोक लोक-दीपक के प्रकाश का लोलुपी, **रागाउरे** - रागातुर-राग से विह्वल, **पयंगे** - पतंगिया दीपक की लौ पर गिर कर, **मच्चुं** - मृत्यु को, **समुवेइ** - प्राप्त होता है वैसे ही, **जो** - जो पुरुष, **रूवेसु** - रूप में, **तिव्वं** - तीव्र, **गिद्धिं** - गृद्धि (आसक्ति) भाव को, **उवेइ** - रखता है, **से** - वह, **अकालियं** - अकाल में ही, **विणासं** - विनाश को अर्थात् मृत्यु को, **पावइ** - प्राप्त होता है ॥

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू,
ण किंचि रूवं अवरुज्झइ से ॥ २५॥

- **जे यावि** - जो जीव अमनोज्ञ रूप में, **तिव्वं** - तीव्र, **दोसं**- द्वेष को, **समुवेइ** - प्राप्त होता है, **से** - वह, **जंतू** - प्राणी, **सएण** - अपने ही, **दुद्दंतदोसेण** - दुर्दान्त दोष-तीव्र दोष से, **तंसि क्खणे** - उसी क्षण में, **दुक्खं** - दुःख को, **उवेइ** - प्राप्त होता है, से - इसमें, **रूवं** - रूप का, **किंचि** - कुछ भी, **ण अवरुज्झइ** - अपराध (दोष) नहीं है, किन्तु वह जीव अपने ही दोष से स्वयं दुःखी होता है ॥ २५॥

एगंतरत्ते रुइरंसि रूवे,
अतालिसे से कुणइ पओसं ।

दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले,
ण लिप्पइ तेण मुणी विरागो ॥ २६ ॥

- जो जीव, **रुइरंसि** - रुचिर-सुन्दर, **रूवे** - रूप में, **एगंतरत्ते** - एकान्तरक्त-अत्यन्त अनुरक्त होता है और, **अतालिसे** - अतादृश-असुन्दर रूप में, **पओसं** - प्रद्वेष-द्वेष, **कुणइ** - करता है, **से** - वह, **बालो** - बाल (अज्ञानी) जीव, **दुक्खस्स संपीलं** - अत्यन्त दुःख एवं पीड़ा को, **उवेइ** - प्राप्त होता है किन्तु, **विरागो** - वीतराग, **मुणी** - मुनि, **तेण**- उस दुःख से, **ण लिप्पइ**- लिप्त नहीं होता अर्थात् वीतराग मुनि को वह दुःख प्राप्त नहीं होता है ॥ २६ ॥

रूवाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥ २७ ॥

- **रूवाणुगासाणुगए** - रूपानुगाशानुगत- रूप की आशा से उसका अनुसरण करने वाला अर्थात् रूप की आसक्ति में फँसा हुआ, **जीवे** - जीव, **णेगरूवे** - अनेक प्रकार के, **चराचरे** - चराचर (त्रस और स्थावर) प्राणियों की, **हिंसइ** - हिंसा करता है, **य** - और, **बाले** - वह बाल (अज्ञानी जीव) **ते** - उन जीवों को, **चित्तेहि** - चित्र-अनेक प्रकार के शस्त्रों से, **परितावेइ** - परिताप उपजाता है और, **अत्तट्ठगुरू** - आत्मार्थगुरु-अपने ही स्वार्थ में तल्लीन बना हुआ वह, **किलिट्ठे** - क्लिष्ट-कुटिल जीव, **पीलेइ** - अनेक जीवों को पीड़ित करता है ॥ २७ ॥



रूवाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खण-सण्णियोगे ।
वए वियोगे य कहं सुहं से,
संभोग काले य अतित्तिलाभे ॥ २८॥

- **रूवाणुवाएण** - रूपानुपात-रूप में आसक्त, **परिग्गहेण**- परिग्रह में मूर्च्छित बने हुए को, **उप्पायणे** - उस रूपवान् पदार्थ को उत्पन्न करने में और, **रक्खण सण्णियोगे** - उसकी रक्षा करने में तथा सम्यक् प्रकार से उपयोग करने में, **य** - और, **वए** - व्यय-उसका विनाश हो जाने पर तथा, **वियोगे** - वियोग हो जाने पर, **कहं** - कैसे - **सुहं** - सुख प्राप्त हो सकता है अर्थात् सुख प्राप्त नहीं हो सकता, प्रत्युत दुःख ही होता है, **य** - और, **संभोगकाले** - उसका उपभोग करने के समय में भी, **से** - उसे, **अतित्ति लाभे** - तृप्ति न होने के कारण दुःख ही होता है ॥ २८ ॥

रूवे अतित्ते य परिग्गहम्मि,
सत्तोवसत्तो ण उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठि-दोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययइ अदत्तं ॥ २९ ॥

- **रूवे** - रूप में, **अतित्ते** - अतृप्त बना हुआ, **य** - और, **परिग्गहम्मि**-रूप विषयक परिग्रह में, **सत्तोवसत्तो** - सक्त उपसक्त- आसक्त एवं विशेष आसक्त बना हुआ जीव, **तुट्ठिं** - तुष्टि-संतोष को, **ण उवेइ** - प्राप्त नहीं होता । **अतुट्ठिदोसेण** - अतुष्टिदोष- असंतोष रूपी दोष से, **दुही** - दुःखी बना हुआ तथा, **लोभाविले** - लोभ से मलिन चित्त वाला जीव, **परस्स** - दूसरों की, **अदत्तं** -

अदत्त-बिना दी हुई वस्तुओं को, **आययइ** - ग्रहण करता है (अपनी इष्ट वस्तु को प्राप्त करने के लिए चोरी भी करता है) ॥ २९॥

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्था वि दुक्खा ण विमुच्चइ से ॥ ३०॥

- **तण्हाभिभूयस्स** - तृष्णा के वशीभूत बने हुए, **अदत्तहारिणो** - बिना दी हुई रूपवान् वस्तु को चुरा कर लेने वाले, **य** - और, **रूवे** - रूप विषयक, **परिग्गहे** - परिग्रह में, **अतित्तस्स** - अतृप्त प्राणी के, **लोभदोसा** - लोभ रूपी दोष से, **मायामुसं** - माया मृषावाद (कपट पूर्वक असत्य भाषण) की, **वड्ढइ** - वृद्धि होती है, **तत्था वि** - तो भी (कपट पूर्वक झूठ बोलने पर भी) **से** - वह, **दुक्खा** - दुःख से, **ण विमुच्चइ** - विप्रमुक्त नहीं होता है अर्थात् नहीं छूटता है ॥ ३०॥

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओग-काले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो,
रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥ ३१॥

- **मोसस्स** - मृषा-झूठ बोलने के, **पुरत्थओ** - पहले, **य** - और, **पच्छा** - पीछे, **य** - तथा, **पओग काले** - प्रयोगकाल अर्थात् झूठ बोलते समय भी, **दुरंते** - दुरन्त (दुष्ट हृदय वाला वह) जीव, **दुही** - दुःखी ही रहता है, **एवं** - इसी प्रकार, **रूवे** - रूप में, **अतित्तो** - अतृप्त जीव, **अदत्ताणि** - बिना दी हुई रूपवान् वस्तुओं



को, **समाययंतो** - सम आददान-ग्रहण करता हुआ, **अणिस्सो** - अनिश्र-सहाय रहित, **य** - और, **दुहिओ** - दुःखी होता है ॥ ३१ ॥

रूवाणुरत्तस्स णरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
तत्थोवभोगे वि किलेस-दुक्खं,
णिव्वत्तइ जस्स कएण दुक्खं ॥ ३२ ॥

- **एवं** - इस प्रकार, **रूवाणुरत्तस्स** - रूप में आसक्त बने हुए, **णरस्स** - मनुष्यों को, **सुहं** - सुख, **कत्तो** - कहाँ, **होज्ज** - हो सकता है अर्थात् उसे, **कयाइ** - कभी भी, **किंचि** - किञ्चिन्मात्र सुख प्राप्त नहीं हो सकता, **जस्स कएण** - जिस रूपवान् वस्तु को प्राप्त करने के लिए जीव ने, **दुक्खं** - दुःख-अपार कष्ट उठाया था, **तत्थोवभोगे वि** - उस रूपवान् पदार्थ के उपभोग में भी वह, **किलेस दुक्खं** - अत्यन्त क्लेश और दुःख, **णिव्वत्तइ** - पाता है अर्थात् तृप्ति न होने के कारण उसे दुःख होता है ॥ ३२ ॥

एमेव रूवम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोह-परंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

- **एमेव** - इसी प्रकार, **रूवम्मि** - अमनोज्ञ रूप में, **पओसं गओ**- द्वेष करने वाला जीव, **दुक्खोहपरंपराओ** - दुःख ओघपरम्परा-उत्तरोत्तर दुःख समूह की परंपरा को, **उवेइ** - प्राप्त होता है, **य** - और, **पदुट्ठचित्तो**- अतिशय द्वेष से दूषित चित्त वाला वह जीव, **कम्मं** - अशुभ कर्म को, **चिणाइ** - बांधता है, **जं** -

जिससे, **से** – उसे, **पुणो** – फिर, **विवागे** – विपाक के समय, कर्म का फल भोगते समय, **दुहं** – दुःख, **होइ** – होता है ॥ ३३ ॥

रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोह परंपरेण।
ण लिप्पइ भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणी-पलासं ॥ ३४॥

– **वा** – जिस प्रकार, **पोक्खरिणीपलासं** – पुष्करिणी पलाश-जल में उत्पन्न हुआ कमल का पत्ता जल में रहता हुआ भी, **जलेण** – जल से, **ण लिप्पइ** – लिप्त नहीं होता उसी प्रकार, **रूवे**-रूप में, **विरत्तो** – विरक्त (रागद्वेष रहित) **मणुओ** – मनुष्य, **विसोगो** – शोक-रहित होता है और, **भवमज्झे** – संसार में, **संतो वि** – रहता हुआ भी, **एएण** – इस रूपविषयक, **दुक्खोहपरंपरेण** – दुःखौघपरम्परा-दुःख समूह की परम्परा से लिप्त नहीं होता ॥ ३४ ॥

सोयस्स सद्दं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥ ३५॥

– **सद्दं** – शब्द को, **सोयस्स** – श्रोत्रेन्द्रिय का, **गहणं** – ग्राह्य-विषय, **वयंति** – कहते हैं, **तु** – और, **मणुण्णं** – जो मनोज्ञ शब्द है, **तं** – उसे, **रागहेउं** – रागहेतु-राग का कारण, **आहु** – कहते हैं और, **अमणुण्णं** – जो अमनोज्ञ शब्द है, **तं** – उसे, **दोसहेउं** – द्वेष का हेतु-कारण, **आहु** – कहते हैं, **य** – और, **जो** –

जो, **तेसु** - मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में, **समो** - समभाव रखता है, **स** - वह, **वीयरागो**- वीतरागी है, उसे किसी प्रकार का दुःख नहीं होता है ॥ ३५ ॥

सद्दस्स सोयं गहणं वयंति,
सोयस्स सद्दं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुण्णमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु ॥ ३६ ॥

- **सोयं** - श्रोत्रेन्द्रिय को, **सद्दस्स** - शब्द का, **गहणं** - ग्राहक, **वयंति** - कहते हैं और, **सद्दं** - शब्द को, **सोयस्स** - श्रोत्रेन्द्रिय का, **गहणं** - ग्राह्य, **वयंति** - कहते हैं । ज्ञानी पुरुष, **समणुण्णं** - समनोज्ञ-मनोज्ञ शब्द को, **रागस्स** - राग का, **हेउं** - हेतु-कारण, **आहु** - कहते हैं और, **अमणुण्णं** - अमनोज्ञ शब्द को, **दोसस्स** - द्वेष का, **हेउं** - हेतु-कारण, **आहु** - कहते हैं ॥ ३६ ॥

सद्देसु जो गिद्धि-मुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे हरिणमिगे व मुद्धे,
सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ॥ ३७ ॥

- **व** - जिस प्रकार, **रागाउरे** - रागातुर-संगीत के राग में आसक्त एवं, **मुद्धे** - मुग्ध बना हुआ, **मिगे** - भोला-अज्ञानी, **हरिण** - हरिण, **सद्दे** - शब्द में, **अतित्ते** - अतृप्त रहता हुआ, **मच्चुं** - मृत्यु को, **उवेइ** - प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार, **जो** - जो जीव, **सद्देसु** - शब्दों में, **तिव्वं** - तीव्र, **गिद्धिं** - गृद्धि-आसक्ति भाव को, **उवेइ** - रखता है, **से** - वह, **अकालियं** - अकाल में ही, **विणासं** - विनाश-मृत्यु को, **पावइ** - प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥



जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दंत-दोसेण सएण जंतू,
ण किंचि सद्दं अवरुज्झइ से ॥ ३८॥

- **जे यावि** - जो जीव अमनोज्ञ शब्द में, **तिव्वं** - तीव्र, **दोसं**- द्वेष, **समुवेइ** - करता है, **से** - वह, **जंतू** - प्राणी, **सएण** - अपने ही, **दुद्दंतदोसेण** - दुर्दान्तदोष-तीव्र दोष से, **तंसि क्खणे** - उसी क्षण में, **दुक्खं** - दुःख को, **उवेइ** - प्राप्त होता है, **से** - इसमें, **सद्दं** - शब्द का, **किंचि** - कुछ भी, **ण अवरुज्झइ** - अपराध नहीं है, वह जीव अपने ही दोष से स्वयं दुःखी होता है ॥ ३८॥

एगंतरत्ते रुइरंसि सद्दे,
अतालिसे से कुणइ पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले,
ण लिप्पइ तेण मुणी विरागो ॥ ३९॥

- जो जीव, **रुइरंसि** - रुचिर-प्रिय, **सद्दे** - शब्द में, **एगंतरत्ते** - अत्यन्त अनुरक्त होता है तथा, **अतालिसे** - अतादृश-अप्रिय शब्द में, **पओसं** - प्रद्वेष-द्वेष, **कुणइ** - करता है, **से** - वह, **बाले** - बाल-अज्ञानी जीव, **दुक्खस्स संपीलं** - अत्यन्त दुःख एवं पीड़ा को, **उवेइ** - प्राप्त होता है, किन्तु, **विरागो** - वीतराग, **मुणी** - मुनि, **तेण** - उस दुःख से, **ण लिप्पइ** - लिप्त नहीं होता है (दुःखी नहीं होता है) ॥ ३९ ॥

सद्दाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥ ४०॥



- **सद्दाणुगासाणुगए** - शब्दानुगाशानुगत-शब्द की आशा से उसका अनुसरण करने वाला अर्थात् शब्द की आसक्ति में फँसा हुआ, **जीवे** - जीव, **णेगरूवे** - अनेक प्रकार के, **चराचरे** - चराचर-त्रस और स्थावर प्राणियों की, **हिंसइ** - हिंसा करता है, **य** - और, **बाले** - वह बाल (अज्ञानी) जीव, **ते** - उन प्राणियों को, **चित्तेहिं** - चित्र-अनेक प्रकार के शस्त्रों से, **परितावेइ** - परिताप उपजाता है और, **अतट्ठगुरू**- अपने ही स्वार्थ में तल्लीन बना हुआ वह, **किलिट्ठे** - क्लिष्ट- कुटिल जीव, **पीलेइ** - अनेक जीवों को पीड़ित करता है ॥४०॥

सद्दाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खण-सण्णियोगे ।
वए वियोगे य कहं सुहं से,
संभोगे-काले य अतित्तिलाभे ॥ ४१ ॥

- **सद्दाणुवाएण** - शब्दानुपात-शब्द के विषय में आसक्त एवं, **परिग्गहेण** - परिगृहीत-मूर्च्छित बने हुए जीव को, **उप्पायणे** - प्रिय शब्दादि द्रव्यों को उत्पन्न करने में, **रक्खण सण्णिओगे** - उनकी रक्षा करने में तथा सम्यक् प्रकार से उपयोग करने में और, **वए** - उसका विनाश हो जाने पर, **य** - और, **वियोगे** - व्यय-उसका वियोग हो जाने पर, **कहं** - कैसे, **सुहं** - सुख प्राप्त हो सकता है, प्रत्युत दुःख ही होता है, **य** - और, **संभोग काले** - उसका उपभोग करने के समय में भी, **से** - उसे, **अतित्तिलाभे** - तृप्ति न होने के कारण दुःख ही होता है ॥४१॥

सद्दे अतित्ते य परिग्गहम्मि,
सत्तोवसत्तो ण उवेइ तुट्ठिं ।



अतुट्ठि-दोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययइ अदत्तं ॥ ४२ ॥

- **सद्दे** - शब्द में, **अतित्ते** - अतृप्त बना हुआ, **य** - और, **परिग्गहम्मि** - शब्द विषयक परिग्रह में, **सत्तोवसत्तो** - सक्त उपसक्त-आसक्त एवं विशेष आसक्त बना हुआ जीव, **तुट्ठिं** - तुष्टि-संतोष को, **ण उवेइ** - प्राप्त नहीं होता, **अतुट्ठि दोसेण** - अतुष्टि दोष-असंतोष रूपी दोष से, **दुही** - दुःखी बना हुआ तथा, **लोभाविले** - लोभ से मलिन चित्त वाला जीव, **परस्स** - दूसरों की, **अदत्तं** - अदत्त-बिना दी हुई वस्तुओं को, **आययइ** - ग्रहण (चोरी) करता है ॥ ४२ ॥

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा ण विमुच्चइ से ॥ ४३ ॥

- **तण्हाभिभूयस्स** - तृष्णाभिभूत-तृष्णा के वशीभूत बने हुए, **अदत्तहारिणो** - बिना दिये ही प्रिय शब्द वाले द्रव्यों को चुरा कर लेने वाले, **य** - और, **सद्दे** - शब्द विषयक, **परिग्गहे** - परिग्रह में, **अतित्तस्स** - अतृप्त प्राणी के, **लोभदोसा** - लोभ रूपी दोष से, **मायामुसं** - मायामृषावाद की, **वड्ढइ** - वृद्धि होती है, **तत्थावि** - तथापि, **से** - वह, **दुक्खा** - दुःख से, **ण विमुच्चइ** - विमुक्त नहीं होता है-नहीं छूटता है ॥ ४३ ॥

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओग-काले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो,
सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥ ४४ ॥

☆☆

- **मोसस्स** - झूठ बोलने से, **पुरत्थओ** - पहले, **य** - और, **पच्छा** - पीछे, **य** - तथा, **पओगकाले** - प्रयोगकाल-झूठ बोलते समय भी, **दुरंते** - दुरन्त (दुष्ट हृदय वाला) जीव, **दुही** - दुःखी ही रहता है, **एवं** - इसी प्रकार, **सद्दे** - शब्द में, **अतित्तो** - अतृप्त जीव, **अदत्ताणि** - बिना दिये हुए प्रिय शब्दादि द्रव्यों को, **समाययंतो** - ग्रहण करता हुआ, **अणिस्सो** - अनिश्र-सहाय रहित, **य** - और, **दुहिओ** - दुःखी होता है ॥ ४४ ॥

सद्दाणुरत्तस्स णरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
तत्थोवभोगे वि किलेस-दुक्खं,
णिव्वत्तइ जस्स कएण दुक्खं ॥ ४५ ॥

- **एवं** - इस प्रकार, **सद्दाणुरत्तस्स** - शब्द में आसक्त बने हुए, **णरस्स** - मनुष्य को, **सुहं** - सुख, **कत्तो** - कहाँ से, **होज्ज** - हो सकता है ? अर्थात् उसे, **कयाइ** - कभी भी, **किंचि** - किञ्चिन्मात्र सुख प्राप्त नहीं हो सकता । **जस्स कएण** - जिन प्रिय शब्दादि द्रव्यों को प्राप्त करने के लिए जीव ने, **दुक्खं** - दुःख-अपार कष्ट उठाया था, **तत्थोवभोगे वि** - उनके उपभोग में भी वह, **किलेस दुक्खं** - अत्यन्त क्लेश और दुःख, **णिव्वत्तइ** - पाता है (तृप्ति न होने के कारण उसे दुःख होता है) ॥ ४५ ॥

एमेव सद्दम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोह-परंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥ ४६ ॥

एमेव - इसी प्रकार, **सद्दम्मि** - अप्रिय शब्द में, **पओसं**

गओ- द्वेष करने वाला जीव, **दुक्खोहपरंपराओ** - दुःखौघपरम्परा- उत्तरोत्तर दुःख समूह की परम्परा को, **उवेइ** - प्राप्त होता है, **य** - और, **पदुट्ठचित्तो** - प्रद्विष्ट चित्त-अतिशय द्वेष से दूषित चित्त वाला वह जीव, **कम्मं** - अशुभ कर्म को, **चिणाइ** - चय करता है अर्थात् बांधता है, **जं** - जिससे, **से** - उसे, **पुणो** - फिर, **विवागे** - विपाक (कर्म-भोग) के समय, **दुहं** - दुःख, **होइ** - होता है ॥ ४६ ॥

सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोह-परंपरेण ।
ण लिप्पइ भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणी-पलासं ॥ ४७ ॥

- **वा** - जिस प्रकार, **पोक्खरिणी पलासं** - पुष्करिणी पलाश-जल में उत्पन्न हुए कमल का पत्ता जल में रहता हुआ भी, **जलेण** - जल से, **ण लिप्पइ** - लिप्त नहीं होता उसी प्रकार, **सद्दे** - शब्द में, **विरत्तो** - विरक्त, **मणुओ** - मनुष्य, **विसोगो** - शोक रहित होता है और, **भवमज्झे** - संसार में, **संतो वि** - रहता हुआ भी, **एएण** - इस शब्द विषयक, **दुक्खोह परंपरेण** - दुःखौघपरम्परा-उत्तरोत्तर दुःख-समूह की परम्परा से, **ण लिप्पइ** - लिप्त नहीं होता है ॥ ४७ ॥

घाणस्स गंधं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।
तं दोस-हेउं अमणुण्णमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥ ४८ ॥

- **गंधं** - गन्ध को, **घाणस्स** - घाणेन्द्रिय का, **गहणं** -

☆☆

ग्रहण (विषय) **वयंति** - कहते हैं, **तु** - और, **मणुण्णं** - जो गन्ध मनोज्ञ है, **तं** - उस सुगन्ध को, **रागहेउं** - राग का कारण, **आहु** - कहते हैं, **य** - और, **अमणुण्णं** - जो गन्ध अमनोज्ञ है, **तं** - उस दुर्गन्ध को, **दोसहेउं** - द्वेष का हेतु-कारण, **आहु** - कहते हैं किन्तु **जो** - जो, **तेसु** - उन सुगन्ध और दुर्गन्ध में, **समो** - समभाव रखता है, **स** - वह, **वीयरागो** - वीतराग है ॥४८ ॥

गंधस्स घाणं गहणं वयंति,
घाणस्स गंधं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुण्णमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु ॥ ४९ ॥

- **घाणं** - घ्राणेन्द्रिय को, **गंधस्स** - गन्ध का, **गहणं** - ग्राहक (ग्रहण करने वाला), **वयंति** - कहते हैं और, **गंधं** - गन्ध को, **घाणस्स** - घ्राणेन्द्रिय का, **गहणं** - ग्राह्य (ग्रहण करने योग्य), **वयंति** - कहते हैं । ज्ञानी पुरुष, **समणुण्णं** - समनोज्ञ गन्ध को **रागस्स** - राग का, **हेउं** - हेतु-कारण, **आहु** - कहते हैं और, **अमणुण्णं** - अमनोज्ञ गन्ध को, **दोसस्स** - द्वेष का, **हेउं** - हेतु-कारण, **आहु** - कहते हैं ॥४९ ॥

गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे,
सप्पे बिलाओ विव णिक्खमंते ॥ ५० ॥

- **जो** - जो जीव, **गंधेसु** - गन्ध में, **तिव्वं** - तीव्र, **गिद्धिं** - गृद्धि-आसक्ति, **उवेइ** - रखता है, **से** - वह, **ओसहिगंधगिद्धे** - चन्दनादि औषधियों की सुगन्ध में गृद्ध-आसक्त एवं, **रागाउरे** -

रागातुर होकर, **बिलाओ** - अपने बिल से, **णिक्खमंते** - बाहर निकले हुए, **सप्पे विव** - सर्प के समान, **अकालियं** - अकाल में ही, **विणासं** - विनाश को अर्थात् मृत्यु को, **पावइ** - प्राप्त होता है ॥५० ॥

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू,
ण किंचि गंधं अवरुज्झइ से ॥ ५१ ॥

- जो जीव दुर्गन्ध में, **तिव्वं** - तीव्र, **दोसं** - द्वेष को, **समुवेइ**- प्राप्त होता है, **से** - वह, **जंतू** - प्राणी, **सएण** - अपने ही, **दुद्दंतदोसेण** - दुर्दान्त (तीव्र) दोष से, **तंसिक्खणे** - उसी क्षण में, **दुक्खं** - दुःख को, **उवेइ** - प्राप्त होता है, **से** - इसमें, **गंधं** - गन्ध का, **किंचि** - कुछ भी, **ण अवरुज्झइ** - अपराध नहीं है किन्तु वह जीव अपने ही दोष से स्वयं दुःखी होता है ॥५१ ॥

एगंतरत्ते रुइरंसि गंधे,
अतालिसे से कुणइ पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले,
ण लिप्पइ तेण मुणी विरागो ॥ ५२॥

- जो जीव, **रुइरंसि** - रुचिर-श्रेष्ठ, **गंधे** - गन्ध में, **एगंतरत्ते**- एकान्तरक्त-अत्यन्त अनुरक्त होता है और, **अतालिसे** - अतादृश- दुर्गन्ध से, **पओसं** - प्रद्वेष-द्वेष, **कुणइ** - करता है, **से** - वह, **बाले**- बाल-अज्ञानी जीव, **दुक्खस्स संपीलं** - अत्यन्त दुःख एवं पीड़ा को, **उवेइ** - प्राप्त होता है किन्तु, **विरागो** - वीतराग, **मुणी** - मुनि, **तेण** - उस दुःख से, **ण लिप्पइ**- लिप्त नहीं होता है ॥५२ ॥



गंधाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥ ५३॥

- **गंधाणुगासाणुगए** - गंधानुगाशानुगत-गन्ध की आशा से उसका अनुसरण करने वाला अर्थात् गन्ध की आसक्ति में फँसा हुआ, **जीवे** - जीव, **णेगरूवे** - अनेक प्रकार के, **चराचरे** - चराचर-त्रस और स्थावर प्राणियों की, **हिंसइ** - हिंसा करता है, **य** - और, **बाले** - वह बाल-अज्ञानी जीव, **ते** - उन जीवों को, **चित्तेहि** - अनेक चित्रों से अर्थात् उपायों से, **परितावेइ** - परिताप उपजाता है और, **अत्तट्ठ गुरू** - अपने ही स्वार्थ में तल्लीन बना हुआ वह, **किलिट्ठे** - क्लिष्ट-कुटिल जीव, **पीलेइ** - अनेक जीवों को पीड़ित करता है ॥५३ ॥

गंधाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खण-सण्णियोगे ।
वए वियोगे य कहं सुहं से,
संभोग-काले य अतित्तिलाभे ॥ ५४ ॥

- **गंधाणुवाएण** - गंधानुपात-ग़न्ध में आसक्त एवं, **परिग्गहेण** - परिगृहीत-परिग्रह से मूर्च्छित बने हुए जीव को, **उप्पायणे** - उसे उत्पन्न करने में, **रक्खण सण्णियोगे** - उसकी रक्षा करने में तथा सम्यक् प्रकार से उपयोग करने में, **य** - और, **वए** - व्यय-उसका विनाश तथा, **वियोगे** - वियोग हो जाने पर, **कहं** - कैसे, **सुहं** - सुख प्राप्त हो सकता है अर्थात् कभी सुख प्राप्त नहीं हो सकता, प्रत्युत दुःख ही होता है, **य** - और, **संभोग काले** -

✡✡

उसका उपभोग करने के समय में भी, **से** - उसे, **अतित्ति लाभे** - तृप्ति न होने के कारण दुःख ही होता है ॥५४॥

गंधे अतित्ते य परिग्गहम्मि,
सत्तोवसत्तो ण उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठि-दोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययइ अदत्तं ॥ ५५ ॥

- **गंधे** - गन्ध में, **अतित्ते** - अतृप्त बना हुआ, **य** - और, **परिग्गहम्मि** - गन्ध विषयक परिग्रह में, **सत्तोवसत्तो** - सक्त उपसक्त आसक्त एवं विशेष आसक्त बना हुआ जीव, **तुट्ठिं** - तुष्टि-संतोष को, **ण उवेइ** - प्राप्त नहीं होता है, **अतुट्ठि दोसेण** - अतुष्टि दोष-असंतोष रूपी दोष से, **दुही**- दुःखी बना हुआ तथा, **लोभाविले** - लोभ से मलिन चित्त वाला जीव, **परस्स** - दूसरों की, **अदत्तं** - अदत्त-बिना दी हुई चीजों को, **आययइ** - ग्रहण करता है अर्थात् अपनी इष्ट वस्तु को प्राप्त करने के लिए चोरी करता है ॥५५॥

तण्हाभिभूयस्स अदत्त-हारिणो,
गंधे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्था वि दुक्खा ण विमुच्चइ से ॥ ५६ ॥

- **तण्हाभिभूयस्स** - तृष्णाभिभूत-तृष्णा के वशीभूत बने हुए, **अदत्तहारिणो** - बिना दी हुई सुगन्धित वस्तु को चुरा कर लेने वाले, **य** - और, **गंधे** - गंध विषयक, **परिग्गहे** - परिग्रह में **अतित्तस्स** - अतृप्त प्राणी के, **लोभदोसा** - लोभ रूपी दोष से, **मायामुसं** - माया मृषावाद (छल पूर्वक असत्य भाषण) की **वड्ढइ** - वृद्धि होती है, **तत्था वि** - तथापि, **से** - वह, **दुक्खा** -

✡✡✡

दुःख से, **ण विमुच्चइ** - विमुक्त नहीं होता है अर्थात् नहीं छूटता है ॥५६ ॥

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओग-काले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो,
गंधे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥ ५७ ॥

- **मोसस्स** - झूठ बोलने के, **पुरत्थओ** - पहले, **य** - और, **पच्छा** - पीछे, **य** - तथा, **पओगकाले** - झूठ बोलते समय भी, **दुरंते** - दुरंत-दुष्ट हृदय वाला वह जीव, **दुही** - दुःखी ही रहता है, **एवं** - इसी प्रकार, **गंधे** - गंध में, **अतितो** - अतृप्त जीव, **अदत्ताणि** - बिना दी हुई सुगन्धित वस्तुओं को, **समाययंतो** - समाददान-ग्रहण करता हुआ, **अणिस्सो** - अनिश्र-सहाय रहित, **य** - और, **दुहिओ** - दुःखी होता है ॥५७ ॥

गंधाणुरत्तस्स णरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
तत्थोवभोगे वि किलेस-दुक्खं,
णिव्वत्तइ जस्स कएण दुक्खं ॥ ५८ ॥

- **एवं** - इस प्रकार, **गंधाणुरत्तस्स** - गन्धानुरक्त-गन्ध में आसक्त बने हुए, **णरस्स** - मनुष्य को, **सुहं** - सुख, **कत्तो** - कहाँ, **होज्ज** - हो सकता है अर्थात् उसे, **कयाइ** - कभी भी, **किंचि**- किञ्चिन्मात्र सुख प्राप्त नहीं हो सकता, **जस्स कएण** - जिस सुगन्धित वस्तु को प्राप्त करने के लिए जीव ने, **दुक्खं** - दुःख-अपार कष्ट उठाया था, **तत्थोवभोगे वि** - उस सुगन्धित पदार्थ के उपभोग में भी वह, **किलेस दुक्खं** - अत्यन्त क्लेश और दुःख,

णिव्वत्तइ - पाता है अर्थात् तृप्ति न होने के कारण उसे दुःख होता है ॥५८ ॥

एमेव गंधम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोह-परंपराओ ।
पदुट्ठ चित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥ ५९ ॥

- **एमेव** - इसी प्रकार, **गंधम्मि** - दुर्गन्धित द्रव्यों से, **पओसं गओ** - प्रद्वेष गत-द्वेष करने वाला जीव, **दुक्खोह परंपराओ** - दुःखौघपरम्परा-उत्तरोत्तर दुःख-समूह की परम्परा को, **उवेइ** - प्राप्त होता है, **य** - और, **पदुट्ठचित्तो** - अतिशय द्वेष से दूषित चित्त वाला वह जीव, **कम्मं** - अशुभ कर्म को, **चिणाइ** - चय करता है अर्थात् बांधता है, **जं** - जिससे, **से** - उसे, **पुणो** - फिर, **विवागे** - विपाक के समय कर्मों का फल, **दुहं** - दुःख, **होइ** - होता है ॥५९ ॥

गंधे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोह-परंपरेण ।
ण लिप्पइ भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणी-पलासं ॥ ६० ॥

- **वा** - जिस प्रकार, **पोक्खरिणी पलासं** - पुष्करिणी पलाश-जल में उत्पन्न हुए कमल का पत्ता जल में रहता हुआ भी, **जलेण** - जल से, **ण लिप्पइ** - लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार, **गंधे** - गन्ध में, **विरत्तो**- विरक्त, **मणुओ** - मनुज-मनुष्य, **विसोगो** - शोक रहित होता है और, **भवमज्झे** - संसार में, **वि** - रहता हुआ भी, **एएण** - इस गन्ध विषयक, **दुक्खोह**

☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆

परंपरेण - दुःखौघ परम्परा-उत्तरोत्तर दुःख-समूह की परम्परा में लिप्त नहीं होता है ॥ ६० ॥

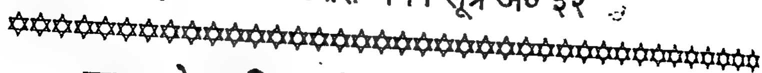
जिब्भाए रसं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु।
तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो॥ ६१॥

- **रसं** - रस को, **जिब्भाए** - जिह्वा इन्द्रिय का, **गहणं** - ग्राह्य (विषय), **वयंति** - कहते हैं, **तु** - और, **मणुण्णं** - जो रस मनोज्ञ है, **तं** - उसे **रागहेउं** - राग का हेतु-कारण, **आहु** - कहते हैं **य** - और, **अमणुण्णं** - जो रस अमनोज्ञ है, **तं** - उसे, **दोसहेउं** - द्वेष का हेतु-कारण, **आहु** - कहते हैं किन्तु, **जो** - जो, **तेसु** - उन रसों में, **समो** - समभाव रखता है, **स** - वह, **वीयरागो**- वीतराग है ॥ ६१ ॥

रसस्स जिब्भं गहणं वयंति,
जिब्भाए रसं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुण्णमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु ॥ ६२॥

- **जिब्भं** - जिह्वा को, **रसस्स** - रस का, **गहणं** - ग्रहण करने वाली, **वयंति** - कहते हैं और **रसं** - रस को, **जिब्भाए** - जिह्वा इन्द्रिय का, **गहणं** - ग्राह्य, **वयंति** - कहते हैं । ज्ञानी पुरुष **समणुण्णं** - मनोज्ञ रस को, **रागस्स** - राग का, **हेउं** - हेतु-कारण, **आहु** - कहते हैं और, **अमणुण्णं** - अमनोज्ञ रस को, **दोसस्स** - द्वेष का, **हेउं** - हेतु-कारण, **आहु** - कहते हैं ॥ ६२ ॥

रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं ।



रागाउरे बडिस-विभिण्णकाए,
मच्छे जहां आमिसभोग-गिद्धे ॥ ६३ ॥

- जहा - जैसे रागाउरे - रागातुर, आमिसभोगगिद्धे - आमिषभोग गृद्ध-मांस खाने में गृद्ध बना हुआ, मच्छे - मच्छ, बडिस विभिण्णकाए - विभिन्न काय-मांस लगे हुए लोह के कांटे से विभिन्न शरीर वाला होकर मृत्यु को प्राप्त करता है, वैसे ही, जो - जो मनुष्य, रसेसु - रसों में, तिव्वं - तीव्र, गिद्धिं - गृद्धि, उवेइ - रखता है, से - वह, अकालियं - अकाल में ही, विणासं - विनाश को, पावइ - प्राप्त होता है ॥ ६३ ॥

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दंत-दोसेण सएण जंतू,
ण किंचि रसं अवरुज्झइ से ॥ ६४॥

- जे - जो जीव अमनोज्ञ रस में, तिव्वं - तीव्र , दोसं- द्वेष को, समुवेइ - प्राप्त होता है, से - वह, जंतू - प्राणी, सएण - अपने ही, दुद्दंत दोसेण - दुर्दान्त दोष से, तंसिक्खणे - उसी क्षण में, दुक्खं - दुःख को, उवेइ - प्राप्त होता है, यावि - किन्तु, से - इसमें, रसं - रस का, किंचि - कुछ भी, ण अवरुज्झइ - अपराध नहीं है किन्तु वह जीव अपने ही दोष से स्वयं दुःखी होता है ॥ ६४ ॥

एगंतरत्ते रुइरे रसम्मि,
अतालिसे से कुणइ पओसं ।
दुक्खस्स संपील-मुवेइ बाले,
ण लिप्पइ तेण मुणी विरागो ॥ ६५ ॥

–, जो जीव, **रुइरे** – रुचिर–मनोज्ञ, **रसम्मि** – रस में, **एगंतरत्ते**– एकान्तरक्त–अत्यन्त अनुरक्त होता है और, **अतालिसे** – अतादृश–अमनोज्ञ रस में, **पओसं** – प्रद्वेष–द्वेष, **कुणइ** – करता है, **से** – वह, **बाले** – बाल अज्ञानी जीव, **दुक्खस्स संपीलं** – अत्यन्त दुःख और पीड़ा को, **उवेइ** – प्राप्त होता है किन्तु, **विरागो** – वीतराग, **मुणी** – मुनि, **तेण** – उस दुःख से, **ण लिप्पइ** – लिप्त नहीं होता है ॥ ६५ ॥

रसाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे॥ ६६॥

– **रसाणुगासाणुगए** – रसानुगाशानुगत–रस की आशा से उसका अनुसरण करने वाला अर्थात् रस की आसक्ति में फंसा हुआ, **जीवे** – जीव, **णेगरुवे** – अनेक प्रकार के, **चराचरे** – चराचर–त्रस और स्थावर प्राणियों की, **हिंसइ** – हिंसा करता है, **य**– और, **बाले** – वह बाल अज्ञानी जीव, **ते** – उन जीवों को, **चित्तेहि**– चित्र–अनेक उपायों से, **परितावेइ** – परिताप उपजाता है और, **अत्तट्ठगुरू** – अपने ही स्वार्थ में तल्लीन बना हुआ वह, **किलिट्ठे** – क्लिष्ट–कुटिल जीव, **पीलेइ** – अनेक जीवों को पीड़ित करता है ॥ ६६ ॥

रसाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसण्णिओगे ।
वए विओगे य कहं सुहं से,
संभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥ ६७॥

- **रसाणुवाएण** - रसानुपात-रस में आसक्त एवं, **परिग्गहेण** - परिग्रह से मूर्च्छित बने हुए जीव को, **उप्पायणे** - उस पदार्थ को उत्पन्न करने में, **रक्खण सण्णिओगे** - उसकी रक्षा करने में तथा सम्यक् प्रकार से उपयोग करने में, **य** - और, **वए** - व्यय उसका विनाश हो जाने पर तथा, **वियोगे** - वियोग हो जाने पर, **कहं** - कैसे, **सुहं** - सुख प्राप्त हो सकता है ? **य** - और, **संभोग काले** - उसका उपभोग करने के समय में भी, **से** - उसे, **अतित्तिलाभे** - तृप्ति न होने के कारण दुःख ही होता है ॥ ६७ ॥

रसे अतित्ते य परिग्गहम्मि,
सत्तोवसत्तो ण उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययइ अदत्तं ॥ ६८॥

- **रसे** - रस में, **अतित्ते** - अतृप्त बना हुआ, **य** - और **परिग्गहम्मि** - रस के परिग्रह में, **सत्तोवसत्तो** - सक्त-उपसक्त आसक्त एवं विशेष आसक्त बने हुए जीव को, **तुट्ठिं** - तुष्टि-संतोष, **ण उवेइ** - नहीं होता है, **अतुट्ठि दोसेण** - अतुष्टिदोष - असंतोष रूपी दोष से, **दुही** - दुःखी बना हुआ तथा, **लोभाविले** - लोभ से मलिन चित्त वाला जीव, **परस्स** - दूसरों की, **अदत्तं** - बिना दी हुई चीजों को, **आययइ** - ग्रहण करता है (चोरी करता है) ॥ ६८ ॥

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
रसे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा ण विमुच्चइ से ॥ ६९ ॥

- **तण्हाभिभूयस्स** - तृष्णाभिभूत-तृष्णा के वशीभूत बने

☆☆☆

हुए, **अदत्तहारिणो** - बिना दी हुई रसादि युक्त वस्तु को चुरा कर लेने वाले, **य** - और, **रसे** - रस विषयक, **परिग्गहे** - परिग्रह में, **अतित्तस्स** - अतृप्त प्राणी के, **लोभदोसा** - लोभ रूपी दोष से, **मायामुसं** - मायामृषा-कपटपूर्वक असत्य भाषण की, **वड्ढइ** - वृद्धि होती है, **तत्थावि** - तथापि (कपटपूर्वक झूठ बोलने पर भी), **से** - वह, **दुक्खा** - दुःख से, **ण विमुच्चइ** - विमुक्त नहीं होता है अर्थात् नहीं छूटता है ॥ ६९ ॥

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो,
रसे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥ ७० ॥

- **मोसस्स** - मृषा-झूठ बोलने के, **पुरत्थओ** - पहले, **य** - और, **पच्छा** - पीछे, **य** - तथा, **पओग काले** - प्रयोगकाल-झूठ बोलते समय भी, **दुरंते** - दुरन्त-दुष्ट हृदय वाला वह जीव, **दुही** - दुःखी ही रहता है, **एवं** - इसी प्रकार, **रसे** - रस से, **अतित्तो** - अतृप्त जीव, **अदत्ताणि** - बिना दी हुई रसादि युक्त वस्तुओं को, **समाययंतो** - ग्रहण करता हुआ, **अणिस्सो** - अनिश्र-सहाय रहित, **य** - और, **दुहिओ** - दुःखी होता है ॥ ७० ॥

रसाणुरत्तस्स णरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
णिव्वत्तइ जस्स कएण दुक्खं ॥ ७१ ॥

- **एवं** - इस प्रकार, **रसाणुरत्तस्स** - रसानुरक्त-रस में आसक्त बने हुए, **णरस्स** - मनुष्य को, **सुहं** - सुख, **कत्तो** -

कहाँ, **होज्ज** - हो सकता है उसे, **कयाइ** - कभी भी, **किंचि** - किञ्चिन्मात्र सुख प्राप्त नहीं हो सकता । **जस्स कएण** - जिस रसादि युक्त पदार्थ को प्राप्त करने के लिए जीव ने, **दुक्खं** - दुःख-अपार कष्ट उठाया था, **तत्थोवभोगे वि** - उस रसादि युक्त पदार्थ के उपभोग में भी वह, **किलेस दुक्खं** - अत्यन्त क्लेश और दुःख, **णिव्वत्तइ** - पाता है (तृप्ति न होने के कारण उसे दुःख होता है) ॥७१ ॥

एमेव रसम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोह परंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥ ७२॥

- **एमेव** - इसी प्रकार, **रसम्मि** - अमनोज्ञ रस में, **पओसं** - प्रद्वेष को, **गओ** - प्राप्त हुआ जीव, **दुक्खोह परंपराओ** - दुःखौघपरम्परा-उत्तरोत्तर दुःख-समूह की परम्परा को, **उवेइ** - प्राप्त होता है, **य** - और, **पदुट्ठचित्तो** - अतिशय द्वेष से दूषित चित्त वाला वह जीव, **कम्मं** - अशुभ कर्मों को, **चिणाइ** - बाँधता है, **जं**- जिससे, **से** - उसे, **पुणो** - फिर, **विवागे** - विपाक में अर्थात् उन कर्मों का फल भोगने के समय, **दुहं** - दुःख, **होइ** - होता है ॥ ७२ ॥

रसे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोह-परंपरेण ।
ण लिप्पइ भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणी-पलासं ॥ ७३ ॥

- **वा** - जिस प्रकार, **पोक्खरिणी पलासं** - पुष्करिणी ।२।-जल में उत्पन्न हुए कमल का पत्ता जल में रहता हुआ भी,

☆☆☆

जलेण - जल से, **ण लिप्पइ** - लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार, **रसे** - रस में, **विरत्तो** - विरक्त-रागद्वेष रहित, **मणुओ** - मनुज-मनुष्य, **विसोगो** - विशोक-शोक रहित होता है और, **भवमज्झे** - संसार में, **संतो वि** - रहता हुआ भी, **एएण** - इस रस विषयक, **दुक्खोह परंपरेण** - दुःखौघपरम्परा-उत्तरोत्तर दुःख-समूह की परम्परा से लिप्त नहीं होता अर्थात् उसे दुःख नहीं होता ॥ ७३ ॥

कायस्स फासं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥ ७४॥

- **फासं** - स्पर्श को, **कायस्स** - काया (स्पर्शनेन्द्रिय) का **गहणं** - ग्राह्य (विषय) **वयंति** - कहते हैं, **तु** - और, **मणुण्णं** - जो स्पर्श मनोज्ञ है, **तं** - उसे, **रागहेउं** - राग का हेतु-कारण, **आहु** - कहते हैं, **य** - और, **अमणुण्णं** - जो स्पर्श अमनोज्ञ है, **तं** - उसे, **दोसहेउं** - द्वेष का हेतु-कारण, **आहु** - कहते हैं किन्तु, **जो** - जो, **तेसु** - उन मनोज्ञ और अमनोज्ञ (प्रिय और अप्रिय) स्पर्शों में, **समो** - समभाव रखता है, **स** - वह, **वीयरागो** - वीतराग है ॥ ७४ ॥

फासस्स कायं गहणं वयंति,
कायस्स फासं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुण्णमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु ॥ ७५॥

- **कायं** - काया को, **फासस्स** - स्पर्श का, **गहणं** - ग्राहक (ग्रहण करने वाला), **वयंति** - कहते हैं और, **फासं** -

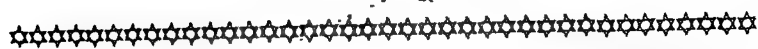
स्पर्श को, **कायस्स** - काया का, **गहणं** - ग्राह्य (ग्रहण करने के योग्य), **वयंति** - कहते हैं । ज्ञानी पुरुष, **समणुण्णं** - मनोज्ञ स्पर्श को, **रागस्स** - राग का, **हेउं** - हेतु-कारण, **आहु** - कहते हैं और, **अमणुण्णं** - अमनोज्ञ स्पर्श को, **दोसस्स** - द्वेष का, **हेउं** - हेतु-कारण, **आहु** - कहते हैं ॥ ७५ ॥

फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे सीय-जलावसण्णे,
गाहग्गहीए महिसे व रण्णे ॥ ७६ ॥

- **व** - जैसे, **रण्णे** - अरण्य-वन में स्थित, **सीय जलावसण्णे** - शीतजलावसन्न-तालाब के ठण्डे जल के स्पर्श में, **रागाउरे** - रागातुर बना हुआ, **महिसे** - भैंसा, **गाहग्गहीए** - ग्राहगृहीत-ग्राह के द्वारा पकड़ा जाने पर विनाश को प्राप्त होता है वैसे ही, **जो** - जो मनुष्य, **फासेसु** - अनेक प्रकार के स्पर्शों में, **तिव्वं** - तीव्र, **गिद्धिं** - गृद्धि-आसक्ति, **उवेइ** - रखता है, **से** - वह, **अकालियं** - अकाल में ही, **विणासं** - विनाश-मृत्यु को, **पावइ** - प्राप्त हो जाता है ॥ ७६ ॥

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू,
ण किंचि फासं अवरुज्झइ से ॥ ७७ ॥

- **जे** - जो जीव अमनोज्ञ स्पर्श में, **तिव्वं** - तीव्र, **दोसं** - को, **समुवेइ** - प्राप्त होता है, **से** - वह, **जंतू** - प्राणी, **सएण** -



अपने ही, **दुद्दंतदोसे** - महान्-दुर्दान्त दोष से, **तंसिक्खणे** - उसी क्षण में, **दुक्खं** - दुःख को, **उवेइ** - प्राप्त होता है, **से** - इसमें, **फासं** - स्पर्श का, **किंचि** - कुछ भी, **ण अवरुज्झइ** - अपराध नहीं है, **यावि** - किन्तु वह जीव अपने ही दोष से स्वयं दुःखी होता है ॥ ७७ ॥

एगंतरत्ते रुइरंसि फासे,
अतालिसे से कुणइ पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले,
ण लिप्पइ तेण मुणी विरागो ॥ ७८ ॥

- जो जीव, **रुइरंसि** - रुचिर-मनोज्ञ, **फासे** - स्पर्श में, **एगंतरत्ते** - एकान्तरक्त-अत्यन्त अनुरक्त होता है और, **अतालिसे**- अतादृश-अमनोज्ञ स्पर्श में, **पओसं** - प्रद्वेष, **कुणइ** - करता है, **से**- वह, **बाले** - बाल-अज्ञानी जीव, **दुक्खस्स संपीलं** - अत्यन्त दुःख एवं पीड़ा को, **उवेइ** - प्राप्त होता है किन्तु, **विरागो** - वीतराग, **मुणी** - मुनि, **तेण** - उस दुःख से, **ण लिप्पइ** - लिप्त नहीं होता है ॥ ७८ ॥

फासाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरु किलिट्ठे ॥ ७९ ॥

- **फासाणुगासाणुगए** - स्पर्शानुगाशानुगत-स्पर्श की आशा से उसका अनुसरण करने वाला अर्थात् स्पर्श की आसक्ति में फँसा हुआ, **जीवे** - जीव, **णेगरूवे** - अनेक प्रकार के, **चराचर** - चराचर-त्रस और स्थावर प्राणियों की, **हिंसइ** - हिंसा करता है,

य - और, **बाले** - वह बाल-अज्ञानी जीव **ते** - उन जीवों को, **चित्तेहि** - चित्र-अनेक प्रकार से, **परितावेइ** - परिताप उपजाता है और, **अत्तट्ठगुरु** - अपने ही स्वार्थ में तल्लीन बना हुआ वह, **किलिट्ठे** - क्लिष्ट-कुटिल जीव, **पीलेइ** - अनेक जीवों को पीड़ित करता है ॥७९ ॥

फासाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खण-सण्णियोगे ।
वए वियोगे य कहं सुहं से,
संभोग-काले य अतित्तिलाभे ॥ ८०॥

- **फासाणुवाएण** - स्पर्शानुपात-स्पर्श के विषय में आसक्त एवं, **परिग्गहेण** - परिग्रह से मूर्च्छित बने हुए जीव को, **उप्पायणे**- उस स्पर्शादि युक्त पदार्थ को उत्पन्न करने में और, **रक्खण सण्णियोगे** - उसकी रक्षा करने में तथा सम्यक् प्रकार से उपयोग करने में, **य** - और, **वए** - व्यय-उसका विनाश हो जाने पर तथा, **वियोगे** - वियोग हो जाने पर, **कहं** - कैसे, **सुहं** - सुख प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् सुख प्राप्त नहीं हो सकता, प्रत्युत दुःख ही होता है, **य** - और, **संभोगकाले** - उसका उपभोग करने के समय भी, **से** - उसे, **अतित्तिलाभे** - तृप्ति न होने के कारण दुःख ही होता है ॥ ८० ॥

फासे अतित्ते य परिग्गहम्मि,
सत्तोवसत्तो ण उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठि दोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययइ अदत्तं ॥ ८१॥

- **फासे** - स्पर्श में, **अतित्ते** - अतृप्त बना हुआ, **य** - और,



परिग्गहम्मि - स्पर्श विषयक परिग्रह में, **सत्तोवसत्तो** - सक्त उपसक्त-आसक्त एवं विशेष आसक्त बना हुआ जीव, **तुट्ठिं** - तुष्टि-संतोष को, **ण उवेइ** - प्राप्त नहीं होता है, **अतुट्ठि दोसेण** - अतुष्टि-असंतोष रूपी दोष से, **दुही** - दुःखी बना हुआ तथा, **लोभाविले** - लोभ से मलिन चित्त वाला जीव, **परस्स** - दूसरों की, **अदत्तं** - बिना दी हुई वस्तु को, **आययइ** - ग्रहण करता है (चोरी करता) है ॥८१ ॥

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
फासे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्था वि दुक्खा ण विमुच्चइ से ॥ ८२॥

- **तण्हाभिभूयस्स** - तृष्णाभिभूत-तृष्णा के वशीभूत बने हुए **अदत्तहारिणो** - बिना दी हुई स्पर्शादि युक्त वस्तु को चुरा कर लेने वाले, **य** - और, **फासे** - स्पर्श विषयक, **परिग्गहे** - परिग्रह में, **अतित्तस्स** - अतृप्त प्राणी के, **लोभदोसा** - लोभ रूपी दोष से, **मायामुसं** - मायामृषा-कपट पूर्वक असत्य भाषण की, **वड्ढइ** - वृद्धि होती है, **तत्था वि** - तथापि, **से** - वह **दुक्खा** - दुःख से, **ण विमुच्चइ** - विप्रमुक्त नहीं होता अर्थात् नहीं छूटता है ॥८२ ॥

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओग-काले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो,
फासे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥ ८३ ॥

- **मोसस्स** - मृषा-झूठ बोलने के, **पुरत्थओ** - पहले, **य** - और, **पच्छा** - पीछे, **य** - तथा, **पओग काले** - प्रयोगकाल-झूठ

बोलते समय भी, **दुरंते** – दुरन्त–दुष्ट हृदय वाला वह जीव, **दुही** – दुःखी ही रहता है, **एवं**– इसी प्रकार, **फासे** – स्पर्श में, **अतित्तो** – अतृप्त जीव, **अदत्ताणि** – बिना दी हुई स्पर्शादि युक्त वस्तुओं को, **समाययंतो** – ग्रहण करता हुआ, **अणिस्सो** – अनिश्र-सहाय रहित, **य** – और, **दुहिओ** – दुःखी होता है ॥ ८३ ॥

फासाणुरत्तस्स णरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
तत्थोवभोगे वि किलेस-दुक्खं,
णिव्वत्तइ जस्स कएण दुक्खं ॥ ८४ ॥

– **एवं** – इस प्रकार, **फासाणुरत्तस्स** – स्पर्शानुरक्त-स्पर्श में आसक्त बने हुए, **णरस्स** – नर–मनुष्य को, **सुहं** – सुख, **कत्तो** – कुतो–कहां, **होज्ज** – हो सकता है उसे, **कयाइ** – कभी भी, **किंचि**- किञ्चित् मात्र भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता । **जस्स कएण** – जिस स्पर्शादि युक्त वस्तु को प्राप्त करने के लिए जीव ने, **दुक्खं** – दुःख–अपार कष्ट उठाया था, **तत्थोवभोगे वि** – उस स्पर्शादि युक्त पदार्थ के उपभोग में भी वह, **किलेस दुक्खं** – अत्यन्त क्लेश और दुःख, **णिव्वत्तइ** – पाता है अर्थात् तृप्ति न होने के कारण उसे दुःख होता है ॥ ८४ ॥

एमेव फासम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोह-परंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥ ८५ ॥

– **एमेव** – इसी प्रकार, **फासम्मि** – अप्रिय स्पर्श के विषय

☆☆

में, **पओसं गओ** - प्रद्वेषगत-द्वेष करने वाला जीव, **दुक्खोह परंपराओ** - दुःखोघपरम्परा-उत्तरोत्तर दुःख-समूह की, परम्परा को, **उवेइ** - प्राप्त होता है, **य** - और, **पदुट्ठचित्तो** - अतिशय द्वेष से दूषित चित्त वाला वह जीव, **कम्मं** - अशुभ कर्म, **चिणाइ** - चय करता है अर्थात् बांधता है, **जं** - जिससे, **से** - उसे, **पुणो**- फिर, **विवागे** - विपाक में अर्थात् उन कर्मों का फल भोगने के समय, **दुहं** - दुःख, **होइ** - होता है ॥ ८५ ॥

फासे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोह-परंपरेण ।
ण लिप्पइ भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥ ८६ ॥

- **वा** - जिस प्रकार, **पोक्खरिणीपलासं** - पुष्करिणीपलाश- जल में उत्पन्न हुआ कमल का पत्ता जल में रहता हुआ भी, **जलेण** - जल से, **ण लिप्पइ** - लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार, **फासे** - स्पर्श में, **विरत्तो**- विरक्त, **मणुओ** - मनुज-मनुष्य, **विसोगो** - विशोक-शोक-रहित होता है और, **भवमज्झे** - संसार में, **संतो वि** - रहता हुआ भी, **एएण** - इस स्पर्श विषयक, **दुक्खोह परंपरेण** - दुःखोघपरम्परा-उत्तरोत्तर दुःख-समूह की परम्परा से लिप्त नहीं होता ॥ ८६ ॥

मणस्स भावं गहणं वयंति,
तं रागहेउं तु मणुण्णमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुण्णमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो॥ ८७॥

- **भावं** - भाव को, **मणस्स** - मन का, **गहणं** - ग्राह्य, ग्रहण

करने योग्य, **वयंति** – कहते हैं, **तु** – और, **मणुण्णं** – जो भाव मनोज्ञ है, **तं** – उसे, **रागहेउं** – राग का कारण, **आहु** – कहते हैं, **य** – और, **अमणुण्णं** – जो भाव अमनोज्ञ है, **तं** – उसे, **दोसहेउं** – द्वेष का कारण, **आहु** – कहते हैं किन्तु, **जो** – जो, **तेसु** – उनमें अर्थात् मनोज्ञ और अमनोज्ञ दोनों प्रकार के भावों में, **समो** – समभाव रखता है, **स** – वह, **वीयरागो** – वीतराग है ॥ ८७ ॥

भावस्स मणं गहणं वयंति,
मणस्स भावं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुण्णमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुण्णमाहु ॥ ८८॥

– **मणं** – मन को, **भावस्स** – भाव का, **गहणं** – ग्राहक, ग्रहण करने वाला, **वयंति** – कहते हैं और, **भावं** – भाव को, **मणस्स** – मन का, **गहणं** – ग्राह्य, ग्रहण करने योग्य, **वयंति** – कहते हैं । ज्ञानी पुरुष, **समणुण्णं** – मनोज्ञ भाव को, **रागस्स** – राग का, **हेउं** – हेतु-कारण, **आहु** – कहते हैं और, **अमणुण्णं** – अमनोज्ञ भाव को, **दोसस्स** – द्वेष का, **हेउं** – हेतु-कारण, **आहु** – कहते हैं ॥ ८८ ॥

भावेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे,
करेणु-मग्गावहिए व णागे ॥ ८९॥

– **व** – जिस प्रकार, **कामगुणेसु** – कामगुणों में, **गिद्धे** –

गृद्ध-मूर्च्छित बना हुआ, **रागाउरे** - रागातुर, **णागे (गजे)**- णाग-हाथी, **करेणु - मग्गावहिए** - करेणुमार्गापहत-हथिनी के पीछे दौड़ता हुआ पथभ्रष्ट हो कर शिकारियों द्वारा पकड़ा जाने पर दुःख पाता है, उसी प्रकार **जो** - जो पुरुष, **भावेसु** - भावों में, **तिव्वं** - तीव्र, **गिद्धिं** - गृद्धि-आसक्ति, **उवेइ** - रखता है, **से** - वह, **अकालियं** - अकाल में ही, **विणासं**- विनाश को, **पावइ** - प्राप्त होता है ॥ ८९ ॥

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दंतदोसेण सएण जंतू,
ण किंचि भावं अवरुज्झइ से ॥ ९० ॥

- **जे** - जो जीव अमनोज्ञ भाव में, **तिव्वं** - तीव्र **दोसं** - द्वेष को, **समुवेइ** - प्राप्त होता है, **से** - वह, **जंतू** - प्राणी, **सएण** - अपने ही, **दुद्दंत दोसेण** - दुर्दान्त (तीव्र) दोष से, **तंसिक्खणे** - उसी क्षण में, **दुक्खं** - दुःख को, **उवेइ** - प्राप्त होता है, **से** - इसमें, **भावं** - भाव का, **किंचि** - कुछ भी, **ण अवरुज्झइ** - अपराध-दोष नहीं है, **यावि** - किन्तु वह जीव अपने ही दोष से स्वयं दुःखी होता है ॥ ९० ॥

एगंतरत्ते रुइरंसि भावे,
अतालिसे से कुणइ पओसं ।
दुक्खस्स संपील मुवेइ बाले,
ण लिप्पइ तेण मुणी विरागो ॥ ९१ ॥

- जो जीव, **रुइरंसि** - रुचिर-मनोज्ञ, **भावे** - भाव में,

एगंतरत्ते - एकान्तरक्त-अत्यन्त अनुरक्त होता है और, **अतालिसे** - अतादृश-अमनोज्ञ भाव में, **पओसं** - प्रद्वेष, **कुणइ** - करता है, **से** - वह, **बाले** - बाल-अज्ञानी जीव, **दुक्खस्स संपीलं** - अत्यन्त दुःख एवं पीड़ा को, **उवेइ** - प्राप्त होता है किन्तु, **विरागो**- विराग-वीतराग, **मुणी** - मुनि, **तेण** - उस दुःख से, **ण लिप्पइ** - लिप्त नहीं होता है ॥ ९१ ॥

भावाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥ ९२ ॥

- **भावाणुगासाणुगए** - भावानुगाशानुगत-भाव की आशा से उसका अनुसरण करने वाला अर्थात् भावों की आसक्ति में फँसा हुआ, **जीवे** - जीव, **णेगरूवे** - अनेक प्रकार के, **चराचरे** - चराचर-त्रस और स्थावर प्राणियों की, **हिंसइ** - हिंसा करता है, **य** - और **बाले** - वह बाल-अज्ञानी जीव, **ते** - उन जीवों को, **चित्तेहि** - चित्र-अनेक प्रकार से, **परितावेइ** - परिताप उत्पन्न करता है, **अत्तट्ठगुरू** - अपने ही स्वार्थ में तल्लीन बना हुआ वह, **किलिट्ठे** - क्लिष्ट - कुटिल जीव, **पीलेइ** - अनेक जीवों को पीड़ित करता है ॥ ९२ ॥

भावाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसण्णियोगे ।
वए वियोगे य कहं सुहं से,
संभोग काले य अतित्तिलाभे ॥ ९३ ॥

- **भावाणुवाएण** - भावानुपात-भावों के विषय में आसक्त



एवं, **परिग्गहेण** - मूर्च्छित बने हुए जीव को, **उप्पायणे** - उत्पादन-अपने भावानुकूल पदार्थ को उत्पन्न करने में और, **रक्खण सण्णियोगे** - उसकी रक्षा करने में तथा सम्यक् प्रकार से उपयोग करने में, **य** - और, **वए** - उसका विनाश हो जाने पर तथा, **वियोगे** - वियोग हो जाने पर, **कहं** - कैसे, **सुहं** - सुख प्राप्त हो सकता है ? **य** - और, **संभोग काले** - उसका उपभोग करने के समय भी, **से** - उसे, **अतित्तिलाभे** - तृप्ति न होने के कारण दुःख ही होता है ॥ ९३ ॥

भावे अतित्ते य परिग्गहम्मि,
सत्तोवसत्तो ण उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययइ अदत्तं ॥ ९४॥

- **भावे** - भाव में, **अतित्ते** - अतृप्त बना हुआ, **य** - और, **परिग्गहम्मि** - भाव विषयक परिग्रह में, **सत्तोवसत्तो** - सक्त उपासक्त-आसक्त एवं विशेष आसक्त बना हुआ जीव, **तुट्ठिं** - तुष्टि-संतोष को, **ण उवेइ** - प्राप्त नहीं होता, **अतुट्ठिदोसेण** - अतुष्टिदोष-असंतोष रूपी दोष से, **दुही** - दुःखी बना हुआ तथा, **लोभाविले** - लोभ से मलिन चित्त वाला जीव, **परस्स** - दूसरों की, **अदत्तं** - बिना दी हुई वस्तुओं को, **आययइ** - ग्रहण करता है ॥ ९४ ॥

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
भावे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा ण विमुच्चइ से ॥ ९५ ॥



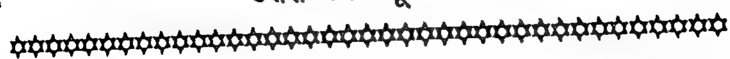
- **तण्हाभिभूयस्स** - तृष्णाभिभूत-तृष्णा के वशीभूत बने हुए, **अदत्तहारिणो** - बिना दी हुई अपने भावानुकूल वस्तु को चुरा कर लेने वाले, **य** - और, **भावे** - भाव विषयक, **परिग्गहे** - परिग्रह में, **अतित्तस्स** - अतृप्त प्राणी के, **लोभदोसा** - लोभ रूपी दोष से, **मायामुसं** - माया मृषावाद की, **वड्ढइ** - वृद्धि होती है, **तत्थावि** - तथापि, **से** - वह, **दुक्खा** - दुःख से, **ण विमुच्चइ** - विमुक्त-मुक्त नहीं होता है अर्थात् नहीं छूटता है ॥ ९५ ॥

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओग काले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो,
भावे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥ ९६ ॥

- **मोसस्स** - मृषा-झूठ बोलने के, **पुरत्थओ** - पहले, **य** - और, **पच्छा** - पीछे, **य** - तथा, **पओग काले** - प्रयोगकाल-झूठ बोलते समय भी, **दुरंते** - दुरंत-दुष्ट हृदय वाला वह जीव, **दुही** - दुःखी ही रहता है, **एवं** - इसी प्रकार, **भावे** - भाव में, **अतित्तो** - अतृप्त जीव, **अदत्ताणि** - बिना दी हुई अपने भावानुकूल वस्तुओं को, **समाययंतो** - ग्रहण करता हुआ, **अणिस्सो** - अनिश्र-सहाय रहित, **य** - और, **दुहिओ** - दुःखी होता है ॥ ९६ ॥

भावाणुरत्तस्स णरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
तत्थोवभोगे वि किलेस-दुक्खं,
णिव्वत्तइ जस्स कएण दुक्खं ॥ ९७ ॥

- **एवं** - इस प्रकार **भावाणुरत्तस्स** - भावानुरक्त-भाव में आसक्त बने हुए, **णरस्स** - नर-मनुष्य को, **सुहं** - सुख, **कत्तो** - ?, **होज्ज** - प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् उसे, **कयाइ** - कभी भी,



किंचि - किञ्चिन्मात्र सुख प्राप्त नहीं हो सकता । **जस्स कएण**- अपने भावानुकूल जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिए जीव ने, **दुक्खं** - दुःख-अपार कष्ट उठाया था, **तत्थोवभोगे वि** - उस वस्तु के उपभोग में भी वह, **किलेस दुक्खं** - अत्यन्त क्लेश और दुःख, **णिव्वत्तइ** - पाता है ।। ९७ ॥

एमेव भावम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोह-परंपराओ ।
पदुट्ठ चित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥ ९८ ॥

- **एमेव** - इसी प्रकार, **भावम्मि** - अमनोज्ञ भाव में, **पओसं**- प्रद्वेष को, **गओ** - प्राप्त हुआ जीव, **दुक्खोह परंपराओ** - दुःखौघपरम्परा-उत्तरोत्तर दुःख-समूह की परम्परा को, **उवेइ** - प्राप्त होता है, **य** - और **पदुट्ठचित्तो** - अतिशय द्वेष युक्त चित्त वाला जीव, **कम्मं** - अशुभ कर्म; **चिणाइ** - चय करता है अर्थात् बांधता है, **जं**- जिससे, **से** - उसे, **पुणो** - फिर, **विवागे** - विपाक-कर्म भोगने के समय, **दुहं** - दुःख, **होइ** - होता है ॥ ९८ ॥

भावे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोह-परंपरेण ।
ण लिप्पइ भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणी पलासं ॥ ९९ ॥

- **वा** - जिस प्रकार, **पोक्खरिणी पलासं** - पुष्करिणी पलाश-जल में उत्पन्न हुए कमल का पत्ता जल में रहता हुआ भी, **जलेण** - जल से, **ण लिप्पइ** - लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार,

भावे - भाव में, **विरत्तो** - विरक्त, **मणुओ** - मनुज-मनुष्य, **विसोगो** - विशोक-शोक रहित होता है और, **भवमज्झे** - संसार में, **संतो वि** - रहता हुआ भी, **एएण** - इस भाव विषयक, **दुक्खोहपरंपरेण** - दुःखौघपरम्परा-उत्तरोत्तर दुःख-समूह की परम्परा से लिप्त नहीं होता ॥ ९९ ॥

एविंदियत्था य मणस्स अत्था,
दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो ।
ते चेव थोवं वि कयाइ दुक्खं,
ण वीयरागस्स करेंति किंचि ॥ १०० ॥

- **एवं** - इस प्रकार, **इंदियत्था** - इन्द्रियार्थ-इन्द्रियों के विषय, **य** - और, **मणस्स** - मन के, **अत्था** - अर्थ-विषय (मानसिक संकल्प विकल्प), **रागिणो** - रागी, **मणुयस्स** - मनुष्य के लिए, **दुक्खस्स**- दुःख के, **हेउं** - हेतु-कारण होते हैं किन्तु, **ते चेव** - वे ही इन्द्रिय और मन के विषय, **वीयरागस्स** - वीतराग पुरुष के लिए, **थोवं** - थोड़ा-सा, **किंचि** - किञ्चिन्मात्र भी, **कयाइ** - कभी, **दुक्खं** - दुःख, **ण करेंति** - नहीं कर सकते हैं ॥ १०० ॥

ण कामभोगा समयं उवेंति,
ण यावि भोगा विगइं उवेंति ।
जे तप्पओसी य परिग्गही य,
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥ १०१ ॥

- **कामभोगा** - कामभोग स्वतः, **ण** - न तो, **समयं** - समता को, **उवेंति** - प्राप्त कराते हैं, **ण यावि** - और न, **भोगा** - कामभोग, **विगइं** - विकृति-विकार-भाव को, **उवेंति** - प्राप्त कराते **य** - किन्तु, **जे** - जो, **परिग्गही** - परिग्रही-मनोज्ञ विषयों को

ग्रहण करता है (उन पर राग करता है) **य** - और, **तप्पओसी** - तत्प्रद्वेषी-अमनोज्ञ विषयों पर द्वेष करता है, **सो** - वह, **तेसु** - उनमें, **मोहा** - मोह से, **विगइं** - विकृति-विकार भाव को, **उवेइ** - प्राप्त होता है ॥ १०१ ॥

कोहं च माणं च तहेव मायं,
लोभं दुगुच्छं अरइं रइं च ।
हासं भयं सोग-पुमित्थिवेयं,
णपुंसवेयं विविहे य भावे ॥ १०२ ॥

आवज्जइ एवमणेगरूवे,
एवंविहे कामगुणेसु सत्तो ।
अण्णे य एयप्पभवे विसेसे,
कारुण्ण-दीणे हिरिमे वइस्से ॥ १०३ ॥

- **कामगुणेसु** - काम-गुणों में, **सत्तो** - आसक्त जीव, **कोहं** - क्रोध, **माणं** - मान, **मायं** - माया, **लोभं** - लोभ, **दुगुच्छं** - जुगुप्सा (घृणा) **अरइं** - अरति, **रइं** - रति, **हासं** - हास्य, **भयं** - भय, **सोग** - शोक, **पुमित्थिवेयं** - पुरुष-वेद, स्त्रीवेद, **णपुंसवेयं** - नपुंसकवेद **च, च, तहेव, च** - और, **विविहे भावे**- विविध भाव-नाना प्रकार के हर्ष-विषादादि भावों को, **य** - और, **एवं** - वैसे ही, **एवंविहे** - इस प्रकार के, **अणेगरूवे** - अनेक रूपों को, **य** - तथा, **एयप्पभवे** - क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले, **अण्णे**- अन्य अनेक दुर्गतिदायक, **विसेसे** - संताप विशेषों को, **आवज्जइ** - प्राप्त होता है । इसी कारण वह कामासक्त जीव, **कारुण्णदीणे** - करुणापात्र, अत्यन्त दीन, **हिरिमे** - ह्रीमान्-लज्जित और, **वइस्से** - द्वेष्य-अप्रीतिपात्र बन जाता है ॥ १०२-१०३ ॥

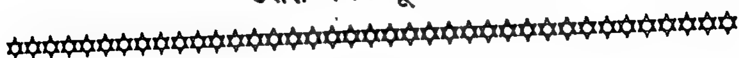


कप्पं ण इच्छिज्ज सहायलिच्छू,
पच्छाणुतावे ण तवप्पभावं ।
एवं वियारे अमियप्पयारे,
आवज्जइ इंदिय-चोर-वस्से ॥ १०४ ॥

- **सहायलिच्छू** - अपनी सेवादि कराने के लिए सहायक को चाहने वाला होकर, **कप्पं** - कल्प-शिष्य की भी, **ण इच्छिज्ज**- इच्छा न करे, **पच्छा** - व्रत तथा तप अंगीकार करने के बाद, **ण अणुतावे** - अनुताप (पश्चात्ताप) नहीं करे और न, **तवप्पभावे** - तप के प्रभाव की इच्छा करे क्योंकि, **एवं** - इस प्रकार, **इंदिय चोरवस्से** - इन्द्रियाँ रूपी चोरों के वशीभूत बना हुआ जीव, **अमियप्पयारे** - अमित प्रकार-अनेक प्रकार के, **वियारे** - विकारों को, **आवज्जइ** - प्राप्त होता है ॥ १०४ ॥

तओ से जायंति पओयणाइं,
णिमज्जिउं मोहमहण्णवम्मि ।
सुहेसिणो दुक्ख-विणोयणट्ठा,
तप्पच्चयं उज्जमए य रागी ॥ १०५ ॥

- **तओ** - विकारोत्पत्ति के बाद, **से** - उसे, **मोह-महण्णवम्मि** - मोह महार्णव - महामोह रूपी सागर में, **णिमज्जिउं**- डुबा देने के लिए, **पओयणाइं** - विषय सेवनादि प्रयोजन, **जायंति**- उत्पन्न होते हैं, **य** - तथा, **सुहेसिणो** - सुख को चाहने वाला, **रागी**- राग द्वेष वाला वह जीव, **दुक्खविणोयणट्ठा** - दुःखविनोदनर्थ- दुःखों को दूर करने के लिए, **तप्पच्चयं** - तत्प्रत्यय-विषय-संयोगों में ही, **उज्जमए** - उदयम-उद्योग करता है ॥ १०५ ॥



विरज्जमाणस्स य इंदियत्था,
सद्दाइया तावइयप्पगारा ।
ण तस्स सव्वे वि मणुण्णयं वा,
णिव्वत्तयंति अमणुण्णयं वा ॥ १०६ ॥

- **इंदियत्था** - इन्द्रियार्थ-पाँच इन्द्रियों के अर्थ, **सद्दाइया**- शब्दादि विषय, **तावइयप्पगारा** - जितने भी प्रकार के इस लोक में हैं वे, **सव्वे वि** - सभी, **तस्स** - उस, **विरज्जमाणस्स** - विरक्त जीव के लिए, **मणुण्णयं** - मनोज्ञता, **वा** - अथवा, **अमणुण्णयं** - अमनोज्ञता, **ण णिव्वत्तयंति** - उत्पन्न नहीं कर सकते हैं ॥ १०६ ॥

एवं ससंकप्प-विकप्पणासुं,
संजायइ समयमुवट्ठियस्स ।
अत्थे य संकप्पयओ तओ से,
पहीयए कामगुणेसु तण्हा ॥ १०७॥

- **एवं** - इस प्रकार, **ससंकप्प विकप्पणासुं** - संकल्प-विकल्पों में अर्थात् ये संकल्प-विकल्प अनर्थ के कारण हैं इस प्रकार, **उवट्ठियस्स** - उपस्थित-विचार करने वाले को, **समयं** - समता-समभाव की, **संजायइ** - प्राप्ति होती है, **तओ** - इसके पश्चात्, **अत्थे** - पदार्थों में, **संकप्पयओ** - सम्यक् विचार करते हुए, **से** - उस जीव की, **कामगुणेसु** - कामगुणों (कामभोगों) की, **तण्हा** - तृष्णा, **पहीयए**- नष्ट हो जाती है ॥ १०७ ॥

स वीयरागी कय-सव्वकिच्चो,
खवेइ णाणावरणं खणेणं ।
तहेव जं दंसणमावरेइ,
जं चंतरायं पकरेइ कम्मं ॥ १०८ ॥



– **कयसव्वकिच्चो** – कृतसर्वकृत्य–जिसने सभी कार्य कर लिये हैं अर्थात् जिसे अब संसार में कोई कार्य करना शेष नहीं रहा है ऐसा कृतकृत्य, **स** – वह, **वीयरागो** – वीतराग बना हुआ जीव, **णाणावरणं** – ज्ञानावरणीय कर्म को, **तहेव** – और, **जं** – जो, **दंसणं**– दर्शन को, **आवरेइ** – ढकता है उस कर्म (दर्शनावरणीय) को, **च** – और, **जं** – जो, **अंतरायं** – दानादि में अन्तराय, **पकरेइ** – करता है उस **कम्मं** – अन्तराय कर्म को, **खणेणं** – एक क्षण में, **खवेइ** – क्षय कर देता है अर्थात् मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने के बाद जीव ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय को अन्तर्मुहूर्त में एक साथ क्षय कर डालता है ॥ १०८ ॥

सव्वं तओ जाणइ पासइ य,
अमोहणे होइ णिरंतराए ।
अणासवे झाणसमाहि-जुत्ते,
आउक्खए मोक्ख मुवेइ सुद्धे ॥ १०९ ॥

– **तओ** – चार घाती–कर्मों के क्षय हो जाने के बाद वह जीव, **सव्वं** – सभी को, **जाणइ** – जानने लग जाता है, **य** – और, **पासइ** – देखने लग जाता है तथा, **अमोहणे** – मोह–रहित और, **णिरंतराए** – अन्तराय–रहित **होइ** – हो जाता है, **अणासवे** – आस्रव रहित और, **झाणसमाहि जुत्ते** – शुक्ल–ध्यान की समाधि से युक्त होकर, **आउक्खए** – आयु के क्षय होने पर, **सुद्धे** – कर्ममल से शुद्ध होकर, **मोक्खं** – मोक्ष को, **उवेइ** – प्राप्त हो जाता है ॥ १०९ ॥

सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को,
जं बाहइ सययं जंतुमेयं ।



दीहामयं विप्पमुक्को पसत्थो,

तो होइ अच्चंतसुही कयत्थो ॥ ११० ॥

- **जं** - जो दुःख, **एयं** - इस, **जंतुं** - जीव को, **सययं** - सतत-निरन्तर, **बाहइ** - बाधित-पीड़ित कर रहा है, **तस्स** - उस, **सव्वस्स** - सभी, **दुहस्स** - दुःख से, **सो** - वह जीव, **मुक्को** - मुक्त हो जाता है और, **पसत्थो** - ऐसा प्रशस्त जीव, **दीहामयं** - दीर्घ आमय-दीर्घकालीन स्थिति वाले कर्म रूपी रोग से, **विप्पमुक्को** - मुक्त हो जाता है, **तो** - इसके बाद, **कयत्थो** - कृतार्थ बना हुआ वह जीव, **अच्चंतसुही** - अत्यन्त सुखी, **होइ** - हो जाता है ॥ ११० ॥

अणाइकालप्पभवस्स एसो,

सव्वस्स दुक्खस्स पमोक्खमग्गो ।

वियाहिओ जं समुविच्च सत्ता,

कमेण अच्चंतसुही भवंति ॥ १११ ॥ त्तिबेमि ॥

- **एसो** - यह, **अणाइकालप्पभवस्स** - अनादिकालप्रभव-अनादि काल से उत्पन्न हुए, **सव्वस्स** - समस्त, **दुक्खस्स** - दुःखों से, **पमोक्खमग्गो** - प्रमोक्षमार्ग-छुटकारा पाने का मार्ग, **वियाहिओ** - कहा गया है, **जं** - जिस मार्ग को, **समुविच्च** - सम्यक् रूप से अंगीकार करके, **सत्ता** - सत्त्व जीव, **कमेण** - क्रम से, **अच्चंतसुही** - अत्यन्त सुखी, **भवंति** - हो जाते हैं (अनन्त आत्मिक सुख सम्पन्न मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं) ॥ १११ ॥ **त्ति बेमि** - ऐसा मैं कहता हूँ ॥

॥ बत्तीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

कर्म-प्रकृति तेतीसवाँ अध्ययन

अट्ठ कम्माइं वोच्छामि, आणुपुव्विं जहक्कमं ।
जेहिं बद्धो अयं जीवो, संसारे परिवट्टइ ॥ १ ॥

- श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू ! मैं, **अट्ठ** - आठ, **कम्माइं** - कर्मों का, **आणुपुव्विं** - आनुपूर्वी एवं, **जहक्कमं** - यथाक्रम से, **वोच्छामि**- वर्णन करूँगा, **जेहिं** - जिनसे, **बद्धो** - बंधा हुआ, **अयं** - यह, **जीवो** - जीव, **संसारे** - संसार में, **परिवट्टइ** - परिभ्रमण करता रहता है ॥ १ ॥

विवेचन - मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगों के द्वारा जीव जिनको करता है उन्हें कर्म कहते हैं । वे ज्ञानावरणीयादि आठ हैं । इनका उदय आने पर जीव नरक निगोद आदि के दुःखों का उपभोग करता है ।

णाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥ २ ॥
णामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य ।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥ ३ ॥

- **णाणस्सावरणिज्जं** - ज्ञान को आवृत्त करने वाला-ज्ञानावरणीय, **दंसणावरणं** - दर्शन को आवृत्त करने वाला-दर्शनावरणीय, **वेयणिज्जं** - वेदनीय, **मोहं** - मोहनीय, **आयुकम्मं** - आयु कर्म, **णामकम्मं** - नामकर्म, **गोयं** - गोत्र, तहा, तहा, तहेव, च, च, तहेव, य, उ - और, **अंतरायं** - अन्तराय, **एवं** -

दर्शनावरणीय ये चार और उपरोक्त पाँच निद्राएँ, **एवं तु** - इस प्रकार, **दंसणावरणं** - दर्शनावरणीय, **णवविगप्पं** - नौ प्रकार का, **णायव्वं** - जानना चाहिए ॥५-६ ॥

वेयणीयं पि य दुविहं, सायमसायं च आहियं ।
सायस्स उ बहू भेया, एमेव असायस्स वि ॥ ७ ॥

- **वेयणीयं** - वेदनीय कर्म, **सायं** - साता और **असायं** - असाता रूप से, **दुविहं** - दो प्रकार का, **आहियं** - कहा गया है, **सायस्स** - साता-वेदनीय के, **बहू भेया** - बहुत भेद हैं, **य, च, उ**- और, **एमेव** - इसी प्रकार, **असायस्स वि** - असातावेदनीय के भी बहुत भेद हैं ॥७ ॥

मोहणिज्जं पि दुविहं, दंसणे चरणे तहा ।
दंसणे तिविहं वुत्तं, चरणे दुविहं भवे ॥ ८ ॥

- **मोहणिज्जं पि** - मोहनीयकर्म भी, **दुविहं** - दो प्रकार का है, **दंसणे** - दर्शन-मोहनीय, **तहा** - तथा, **चरणे** - चारित्र मोहनीय **दंसणे** - दर्शनमोहनीय, **तिविहं** - तीन प्रकार का, **वुत्तं** - कहा गया है और, **चरणे** - चारित्र-मोहनीय, **दुविहं** - दो प्रकार का, **भवे** - होता है ॥ ८ ॥

सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छत्तमेव य ।
एयाओ तिण्णि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे ॥

- **सम्मत्तं** - सम्यक्त्वमोहनीय, **मिच्छत्तं** - मिथ्यात्व मोहनीय, **चेव, एव, य** - और, **सम्मामिच्छत्तं** - सम्यक्त्व-मिथ्यात्व (मिश्र-मोहनीय), **एयाओ** - ये, **तिण्णि** - तीन, **पयडीओ** - प्रकृतियां, **दंसणे** - दर्शन **मोहणिज्जस्स** - मोहनीय कर्म की हैं ॥ ९ ॥

इस प्रकार, **एयाइं** - ये, **समासओ** - संक्षेप से, **अट्ठेव** - आठ ही **कम्माइं** - कर्म कहे गये हैं ॥ २-३ ॥

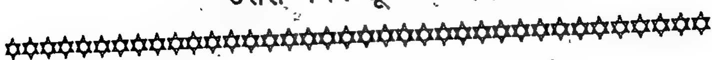
णाणावरणं पंचविहं, सुयं आभिणिबोहियं ।
ओहिणाणं च तइयं, मणणाणं च केवलं ॥ ४ ॥

- **णाणावरणं** - ज्ञानावरणीय कर्म, **पंचविहं** - पाँच प्रकार का है, **आभिणिबोहियं** - आभिनिबोधिक (मति) ज्ञानावरणीय, **सुयं** - श्रुत-ज्ञानावरणीय, **तइयं** - तीसरा, **ओहिणाणं** - अवधिज्ञानावरणीय, **मणणाणं** - मनःपर्यव-ज्ञानावरणीय, **च**, **च** - और, **केवलं** - केवल ज्ञानावरणीय ॥४॥

विवेचन - इनमें से पहले के चार ज्ञान क्षायोपशमिक भाव में जाते हैं और केवल ज्ञान क्षायिक भाव में है । मनः पर्यवज्ञान के दो पर्यायवाची शब्द हैं - मन पर्याय और मनपर्यव । इनमें से तीन ज्ञान तो चारों गति के जीवों को हो सकते हैं । मनपर्यव और केवलज्ञान मनुष्य को ही होते हैं ।

णिद्दा तहेव पयला, णिद्दाणिद्दा पयलपयला य ।
तत्तो य थीणगिद्धी उ, पंचमा होइ णायव्वा ॥ ५ ॥
चक्खुमचक्खु-ओहिस्स, दंसणे केवले य आवरणे
एवं तु णव-विगप्पं, णायव्वं दंसणावरणं ॥ ६ ॥

-**णिद्दा** - निद्रा, **णिद्दाणिद्दा** - निद्रानिद्रा, **पयला** - प्रचला, **पयलपयला** - प्रचलाप्रचला, **तहेव**, **य**, **य**, **उ**, - और, **तत्तो** - इसके बाद, **पंचमा** - पाँचवीं, **थीणगिद्धी** - स्त्यानगृद्धि, **होइ** - हैं । ये पाँच निद्राएँ, **णायव्वा** - जाननी चाहिए । **चक्खु** - चक्षुदर्शनावरणीय, **अचक्खु** - अचक्षुदर्शनावरणीय, **ओहिस्स** - धदर्शनावरणीय, **य** - और, **केवले दंसणे आवरणे** - केवल



चरित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तु वियाहियं ।

कसाय-मोहणिज्जं तु, णोकसायं तहेव य ॥ १० ॥

- **चरित्तमोहणं** - चारित्र-मोहनीय, **कम्मं** - कर्म, **दुविहं** - दो प्रकार का, **वियाहियं** - कहा गया है । यथा - **कसायमोहणिज्जं** - कषाय-मोहनीय, **य** - और, **णोकसायं** - नोकषाय-मोहनीय ॥ १० ॥

विवेचन - **"कष्यन्ते, पीड्यन्ते प्राणिनो अस्मिन् इति कषः-संसारः तस्य आयः लाभः इति कषायः ।"**

अर्थात् - जिसमें प्राणी दुःख को प्राप्त करते हैं उसे कष यानी संसार की प्राप्ति जिससे हो उसे कषाय कहते हैं ।

क्रोधादि प्रधान कषायों के साथ ही जो मानसिक विकार उत्पन्न करते हैं तथा उन्हीं के साथ फल देते हैं उन्हें नोकषाय कहते हैं ।

सोलसविहभेएणं, कम्मं तु कसायजं ।

सत्तविहं णवविहं वा, कम्मं च णोकसायजं ॥ ११ ॥

- **कसायजं** - कषायज-कषाय-मोहनीय, **कम्मं** - कर्म, **सोलसविहभेएणं** - सोलह प्रकार का है, **च** - और, **णोकसायजं** - नोकषाय-मोहनीय, **कम्मं** - कर्म, **सत्तविहं** - सात प्रकार का **वा** - अथवा, **णवविहं** - नौ प्रकार का है ॥ ११ ॥

विवेचन - क्रोध, मान, माया, और लोभ, ये चार कषाय हैं। इनमें से प्रत्येक के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन ये चार-चार भेद होते हैं । ये सब मिला कर १६ भेद हो जाते हैं । हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और वेद, इस प्रकार सात अथवा हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद, इस प्रकार नौ भेद नोकषाय-मोहनीय के हैं । ये नौ भेद क्रोध आदि कषाय को उत्पन्न करने में निमित्त कारण बनते हैं ।



णेरइय-तिरिक्खाउं, मणुस्साउं तहेव य ।
देवाउयं चउत्थं तु, आउं कम्मं च चउव्विहं ॥ १२ ॥

- **आउं कम्मं** - आयु-कर्म, **चउव्विहं** - चार प्रकार का है। यथा, **णेरइय** - नरक-आयु, **तिरिक्खाउं** - तिर्यंच-आयु, **य** - और, **मणुस्साउं** - मनुष्य-आयु **तहेव** - और, **चउत्थं** - चौथी, **देवाउयं** - देव-आयु ॥ १२ ॥

विवेचन - चार गति के आयुष्य बन्ध के चार-चार कारण ठाणाङ्ग सूत्र के चौथे ठाणे में बतलाये गये हैं जिनका हिन्दी अनुवाद श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह के पहले भाग में है ।

णामकम्मं तु दुविहं, सुहमसुहं च आहियं ।
सुहस्स उ बहूभेया, एमेव असुहस्स वि ॥ १३ ॥

- **णामकम्मं** - नाम-कर्म, **सुहं** - शुभ, **च** - और, **असुहं** - अशुभ के भेद से, **दुविहं** - दो प्रकार का, **आहियं** - कहा गया है। **सुहस्स** - शुभ नाम-कर्म के, **बहूभेया** - बहुत-से भेद हैं, **उ** - और, **एमेव** - इसी प्रकार, **असुहस्स वि** - अशुभ नाम-कर्म के भी बहुत-से भेद हैं ॥ १३ ॥

गोयं कम्मं दुविहं, उच्चं णीयं च आहियं ।
उच्चं अट्ठविहं होइ, एवं णीयं पि आहियं ॥ १४ ॥

- **गोयं कम्मं** - गोत्र-कर्म, **उच्चं** - उच्च, **च** - और, **णीयं** - नीच के भेद से, **दुविहं** - दो प्रकार का, **आहियं** - कहा गया है, **उच्चं** - उच्च-गोत्र के, **अट्ठविहं** - आठ भेद **होइ** - हैं, **एवं**- इसी प्रकार, **णीयं पि** - नीच-गोत्र भी आठ प्रकार का **आहियं**-कहा गया है अर्थात् जाति, कुल, बल, तप, ऐश्वर्य, श्रुत, लाभ और रूप, ये आठ भेद उच्च गोत्र के हैं और ये ही आठ भेद नीच-गोत्र के हैं

☆☆

इन आठ बातों का मद नहीं करने से उच्च गोत्र का बन्ध होता है और मद करने से नीच गोत्र का बन्ध होता है ॥१४॥

दाणे लाभे य भोगे य, उवभोगे वीरिए तहा ।
पंचविहमंतरायं, समासेण वियाहियं ॥ १५ ॥

- **अंतरायं** - अन्तराय कर्म, **समासेण** - संक्षेप से, **पंचविहं**- पाँच प्रकार का **वियाहियं** - कहा गया है। यथा, **दाणे** - दानान्तराय, **लाभे**- लाभान्तराय, **भोगे** - भोगान्तराय, **उवभोगे** - उपभोगान्तराय **य, य, तहा** - और, **वीरिए** - वीर्यान्तराय, ये पांच भेद हैं ॥ १५ ॥

एयाओ मूलपयडीओ, उत्तराओ य आहिया ।
पएसग्गं खित्त-काले य, भावं च उत्तरं सुण ॥१६ ॥

- **एयाओ** - ये, **मूलपयडीओ** - मूल प्रकृतियाँ हैं, **य** - और, **उत्तराओ** - उत्तर प्रकृतियाँ अर्थात् आठ कर्म और उनके भेद, **आहिया** - कहे गये हैं, **उत्तरं** - अब आगे इनके, **पएसग्गं** - प्रदेशाग्र, **खित्त** - क्षेत्र, **काले** - काल, **च** - और, **भावं** - भाव के स्वरूप का वर्णन किया जायगा जिसको, **सुण** - ध्यान-पूर्वक सुनो ॥ १६ ॥

सव्वेसिं चेव कम्माणं, पएसग्गमणंतगं ।
गंठिय-सत्ताइयं, अंतो सिद्धाण आहियं ॥ १७ ॥

- **सव्वेसिं** - एक समय में तथा अनेक समयों में बन्धने वाले ज्ञानावरणीय आदि सभी, **कम्माणं** - कर्मों के, **पएसग्गं** - प्रदेशाग्र (परमाणु) **अणंतगं** - अनन्त हैं, **गंठियसत्ताइयं** - वे अभव्य जीवों की अपेक्षा अनन्तगुणा अधिक हैं, **चेव** - और, **सिद्धाण** - सिद्ध भगवान् का, **अंतो** - अनन्तवाँ भाग, **आहियं** - कहे गये हैं अर्थात् वे सिद्ध भगवान् से अनन्तगुण कम हैं ॥ १७ ॥



विवेचन – इस गाथा में यह बतलाया गया है कि, ज्ञानावरणीय आदि आठों कर्मों के प्रदेशाग्र अर्थात् परमाणु-कर्म दलिक अनन्त हैं ।

प्रश्न – अनन्त के अनन्त भेद हैं यहाँ पर कौनसा अनन्त समझना चाहिए ?

उत्तर – शास्त्रकार इसी गाथा में उत्तर फरमाते हैं कि, **"गंठियसत्ताइयं"** – ग्रन्थिकसत्वातीत इसका अर्थ यह है कि - रागद्वेष अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ के वशीभूत बना हुआ यह जीव संसार में परिभ्रमण करता हुआ दुःख उठा रहा है । प्रत्येक कषाय की चार चौकडी है अर्थात् अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन । अनन्तानुबन्धी चौकडी समकित को रोकती है, अप्रत्याख्यानी चौकडी सर्वज्ञ कथित किसी भी प्रकार के प्रत्याख्यान को नहीं आने देती है ।

प्रत्याख्यानावरण चौकडी सर्व विरति रूप श्रमणता (साधुता) अर्थात् मुनिपने को रोकती है और संज्वलन चौकडी वीतरागता को रोकती है । इन चारों चौकडियों में अनन्तानुबन्धी चौकडी को समाप्त करना सबसे बड़ा कठिन है । इसका उपशम, क्षय या क्षयोपशम हुए बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है । समकित की प्राप्ति हुए विना मोक्ष प्राप्त नहीं होता है । यह सब से बड़ी गांठ है इसलिये शास्त्रकार ने शब्द दिया है ग्रन्थि (गांठ) । यह गांठ (अनन्तानुबन्धी चौकडी) जिन जीवों के कभी समाप्त नहीं होती किन्तु हमेशा सत्ता में बनी रहती है ऐसे जीव अभव्य जीव होते हैं अभव्य (अभवी-अभव सिद्धिक) जीव अनन्त हैं । कितने अनन्त हैं ? इसकी स्पष्टता करते हुये पन्नवणा सूत्र के तीसरे पद में महादण्डक में अर्थात् ९८ बोल के अल्पबहुत्व में बतलाया गया

है कि, अभवी जीवों की संख्या ७४ वें बोल में आती है वे अनन्त हैं। इसके आगे ७६ वें बोल में सिद्ध भगवन्तों की संख्या अनन्त बतलाई गयी है। यहां पर इस गाथा में बतलाया गया है कि, ग्रन्थि सत्ता वाले अभवी जीवों से अतीत अर्थात् अभवी जीवों की संख्या का उल्लंघन कर के और सिद्ध भगवन्तों के अनन्तवें भाग जितने सब कर्मों के प्रदेशाग्र (परमाणु-कर्मदलिक) होते हैं।

सव्व-जीवाण कम्मं तु, संगहे छद्दिसागयं।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्वं सव्वेण बद्धगं ॥ १८ ॥

सव्व जीवाण - सभी जीवों के, **सव्वं** - सभी, **कम्मं** - ज्ञानावरणीयादि कर्म, **संगहे** - संग्रह की अपेक्षा, **छद्दिसागयं** - षट्दिशागत-पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर और नीचे, इन छहों दिशाओं में स्थित हैं वे, **सव्वेसु वि पएसेसु** - सभी आत्मप्रदेशों के साथ, **सव्वेण** - प्रकृति, स्थिति आदि सभी प्रकार से, **बद्धगं** - बन्धे हुए हैं ॥ १८ ॥

विवेचन - इस गाथा में यह बतलाया गया है कि - संसारी समस्त जीव कषाय और योग के निमित्त से प्रतिसमय ज्ञानावरणीयादि आठ कर्म प्रकृति रूप कर्म पुद्गलों को ग्रहण करते रहते हैं। ये जीव आकाश के जितने प्रदेशों को रोके हुए हैं वहीं से कर्म पुद्गलों को खींचता है और दस ही दिशाओं से व्यवस्थित रूप से खींचता है। यद्यपि गाथा में छह दिशाओं का ही कथन किया है तथापि दिशा शब्द से विदिशा का भी ग्रहण कर लेना चाहिये।

गाथा में 'सव्वं सव्वेण बद्धगं' शब्द दिया है। इसका अर्थ दिया है कि - एक आत्मा के असंख्यात प्रदेश होते हैं वे असंख्यात प्रदेश ही उन कर्म पुद्गलों को खींचते हैं और वे कर्म पुद्गल भी आत्मा के असंख्यात प्रदेशों पर ही चिपक जाते हैं और चिपक कर क्षीर-नीर की तरह एकमेक हो जाते हैं।



विवेचन - इस गाथा में यह बतलाया गया है कि, ज्ञानावरणीय आदि आठों कर्मों के प्रदेशाग्र अर्थात् परमाणु-कर्म दलिक अनन्त हैं ।

प्रश्न - अनन्त के अनन्त भेद हैं यहाँ पर कौनसा अनन्त समझना चाहिए ?

उत्तर - शास्त्रकार इसी गाथा में उत्तर फरमाते हैं कि, **"गंठियसत्ताइयं"** - ग्रन्थिकसत्वातीत इसका अर्थ यह है कि - रागद्वेष अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ के वशीभूत बना हुआ यह जीव संसार में परिभ्रमण करता हुआ दुःख उठा रहा है । प्रत्येक कषाय की चार चौकडी है अर्थात् अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन । अनन्तानुबन्धी चौकडी समकित को रोकती है, अप्रत्याख्यानी चौकडी सर्वज्ञ कथित किसी भी प्रकार के प्रत्याख्यान को नहीं आने देती है ।

प्रत्याख्यानावरण चौकडी सर्व विरति रूप श्रमणता (साधुता) अर्थात् मुनिपने को रोकती है और संज्वलन चौकडी वीतरागता को रोकती है । इन चारों चौकडियों में अनन्तानुबन्धी चौकडी को समाप्त करना सबसे वड़ा कठिन है । इसका उपशम, क्षय या क्षयोपशम हुए बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है । समकित की प्राप्ति हुए बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता है । यह सब से बड़ी गांठ है इसलिये शास्त्रकार ने शब्द दिया है ग्रन्थि (गांठ) । यह गांठ (अनन्तानुबन्धी चौकडी) जिन जीवों के कभी समाप्त नहीं होती किन्तु हमेशा सत्ता में वनी रहती है ऐसे जीव अभव्य जीव होते हैं अभव्य (अभवी-अभव सिद्धिक) जीव अनन्त हैं । कितने अनन्त हैं ? इसकी स्पष्टता करते हुये पन्नवणा सूत्र के तीसरे पद में महादण्डक में अर्थात् ९८ वोल के अल्पवहुत्व में वतलाया गया



है कि, अभवी जीवों की संख्या ७४ वें बोल में आती है वे अनन्त हैं । इसके आगे ७६ वें बोल में सिद्ध भगवन्तों की संख्या अनन्त बतलाई गयी है । यहां पर इस गाथा में बतलाया गया है कि, ग्रन्थि सत्ता वाले अभवी जीवों से अतीत अर्थात् अभवी जीवों की संख्या का उल्लंघन कर के और सिद्ध भगवन्तों के अनन्तवें भाग जितने सब कर्मों के प्रदेशाग्र (परमाणु-कर्मदलिक) होते हैं ।

सव्व-जीवाण कम्मं तु, संगहे छद्दिसागयं ।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्वं सव्वेण बद्धगं ॥ १८ ॥

सव्व जीवाण - सभी जीवों के, **सव्वं** - सभी, **कम्मं** - ज्ञानावरणीयादि कर्म, **संगहे** - संग्रह की अपेक्षा, **छद्दिसागयं** - षट्दिशागत-पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर और नीचे, इन छहों दिशाओं में स्थित हैं वे, **सव्वेसु वि पएसेसु** - सभी आत्मप्रदेशों के साथ, **सव्वेण** - प्रकृति, स्थिति आदि सभी प्रकार से, **बद्धगं** - बन्धे हुए हैं ॥ १८ ॥

विवेचन - इस गाथा में यह बतलाया गया है कि - संसारी समस्त जीव कषाय और योग के निमित्त से प्रतिसमय ज्ञानावरणीयादि आठ कर्म प्रकृति रूप कर्म पुद्गलों को ग्रहण करते रहते हैं । ये जीव आकाश के जितने प्रदेशों को रोके हुए हैं वहीं से कर्म पुद्गलों को खींचता है और दस ही दिशाओं से व्यवस्थित रूप से खींचता है । यद्यपि गाथा में छह दिशाओं का ही कथन किया है तथापि दिशा शब्द से विदिशा का भी ग्रहण कर लेना चाहिये ।

गाथा में **'सव्वं सव्वेण बद्धगं'** शब्द दिया है । इसका अर्थ दिया है कि - एक आत्मा के असंख्यात प्रदेश होते हैं वे असंख्यात प्रदेश ही उन कर्म पुद्गलों को खींचते हैं और वे कर्म पुद्गल भी आत्मा के असंख्यात प्रदेशों पर ही चिपक जाते हैं और चिपक कर क्षीर-नीर की तरह एकमेक हो जाते हैं ।



जम्बूद्वीप का मेरु पर्वत सम्पूर्ण तिरछा लोक के मध्य में है। वह धरती पर १० हजार योजन का चौड़ा है। उसके ठीक बीचोबीच में आठ रुचक प्रदेश हैं वे गोस्तनाकार हैं। चार ऊपर की तरफ और चार नीचे की तरफ हैं इन्हीं से चार दिशा, चार विदिशा और अधोदिशा और ऊर्ध्व दिशा ये दस दिशायें निकलती हैं। इन रुचक प्रदेशों की उपमा से असंख्य प्रदेशात्मक प्रत्येक आत्मा के ठीक बीचोबीच (प्रायः नाभि प्रदेश के समीप) आठ रुचक प्रदेश हैं। कितनेक आचार्यों की मान्यता है कि - ये आठ रुचक प्रदेश कर्मों के लेप से रहित हैं। परन्तु यह मान्यता शास्त्र सम्मत्त नहीं है। यह बात इस गाथा में दिये हुए '**सव्वं सव्वेण बद्धगं**' पाठ से स्पष्ट हो जाता है कि - आत्मा के सभी प्रदेश सभी कर्म परमाणुओं से लिप्त हैं अर्थात् आत्मा का कोई भी प्रदेश कर्म लेप से रहित नहीं है। यही बात भगवती सूत्र शतक ६ उद्देशक ३ से स्पष्ट होती है।

उदहीसरिसणामाणं, तीसई कोडिकोडीओ।
उक्कोसिया ठिई होइ, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया॥
आवरणिज्जाण दुण्हं पि, वेयणिज्जे तहेव य।
अंतराए य कम्मम्मि, ठिई एसा वियाहिया॥२०॥

- **दुण्हं पि** - दोनों, **आवरणिज्जाण** - आवरणीय (ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय) कर्मों की, **तहेव य** - तथा, **वेयणिज्जे** - वेदनीय की, **य** - और, **अंतराए कम्मम्मि** - अन्तराय-कर्म की, **जहण्णिया** - जघन्य, **ठिई** - स्थिति, **अंतोमुहुत्तं**- अन्तर्मुहूर्त्त, **होइ** - होती है और, **एसा** - इनकी, **उक्को[illegible]** - उत्कृष्ट, **ठिई** - स्थिति, **तीसई** - तीस,

कोडिकोडीओ - कोडाकोड़ी, **उदहीसरिसणामाणं** - उदधि सदृश नाम-सागरोपम की, **वियाहिया** - कही गई है ॥ १९-२० ॥

विवेचन - पल्योपम और सागरोपम किसे कहते हैं ?

उत्तर - एक करोड़ पूर्व वर्ष की आयुष्य से अधिक हो, उसे असंख्यात वर्ष की आयुष्य कहते हैं । उसको बतलाने के लिये उपमा से बतलाया जाता है । पल्य (छबडा अथवा गहरा खड्डा) की उपमा से बतलाया जाय वह पल्योपम और सागर (समुद्र) की उपमा से जो बताया जाय, उसे सागरोपम कहते हैं । पल्योपम की व्याख्या पहले की जाती है ।

उत्सेधांगुल से एक योजन लंबा, एक योजन चौड़ा और एक योजन गहरा कोई कुआ हो उसमें एक दिन से लेकर सात दिन तक के देवकुरु - उत्तरकुरु के युगलिया के केशों से ठूंस-ठूंस कर भरा जांय केशों के असंख्यात टुकड़े किये जांय जो कि छद्मस्थ के दृष्टिगोचर न हों उनमें से प्रत्येक बालाग्र खंड को सौ-सौ वर्ष में निकाला जाय । इस प्रकार निकालते निकालते वह कुआ जितने काल में खाली हो जाय उसे सूक्ष्म अद्धा पल्योपम कहते हैं । इसमें असंख्यात वर्ष कोटी परिमाण काल होता है । ऐसे दस कोडाकोडी सूक्ष्म अद्धा पल्योपम का एक सूक्ष्म अद्धा सागरोपम होता है ।

जीवों की कर्म स्थिति, कायस्थिति, भव स्थिति, सूक्ष्म अद्धा पल्योपम और सूक्ष्म अद्धा सागरोपम से मापी जाती है ।

(दस करोड़ को एक करोड़ से गुणा करना दस कोडा कोडी कहते हैं जैसे कि - मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सित्तर कोडाकोडी सागरोपम है - यहाँ सित्तर करोड़ को एक करोड़ से गुणा करना चाहिए किन्तु सित्तर को सित्तर करोड़ से गुणा नहीं



करना चाहिए । किन्तु एक करोड़ से ही गुणा करना चाहिए ।) अनुयोगद्वार सूत्र में पल्योपम और सागरोपम के तीन तीन भेद बतलाये गये हैं यथा – उद्धार, अद्धा और क्षेत्र ।

उद्धार पल्योपम और सागरोपम से द्वीप समुद्रों की गिनती की जाती है । सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम और सागरोपम से दृष्टिवाद में द्रव्य मापे जाते हैं । सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम से पांच स्थावर और त्रस जीवों की गिनती की जाती हैं ।

"समुद्र" शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं यथा – सागर, उदधि, तोयधि नीरधि, पयोधि आदि । इनमें से इन गाथाओं में उदधि शब्द का प्रयोग किया है । जिसका प्राकृत में "उदही" शब्द बनता है । इन गाथाओं में शास्त्रकार ने "उदही" शब्द का प्रयोग किया है । किन्तु दूसरी जगह प्रायः बहुलता से सागरोपम शब्द का प्रयोग आता है ।

यहाँ पर जीवों की कर्म स्थिति का वर्णन किया गया है इसलिये अद्धा पल्योपम और अद्धा सागरोपम का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि यहाँ पर यही प्रकरण संगत है ।

नोट – गाथा नं. २० में ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की कही है वह यथार्थ है । किन्तु इसके साथ ही वेदनीय कर्म की भी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की कह दी है इस विषय में टीकाकार श्री शान्ताचार्य ने तो लिख दिया है कि – शास्त्रकार ने वेदनीय कर्म की भी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त की कह दी है इसका क्या अभिप्राय है यह हमारी समझ में नहीं आया है । प्रज्ञापना सूत्र तेइसवें पद में सातावेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त की बताई है । यही बात तत्त्वार्थ सूत्र के आठवें अध्ययन में भी कही है –

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१९॥

असातावेदनीय की जघन्यस्थिति एक सागरोपम के सात भागों में से तीन भाग उनमें भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम होती है।

शास्त्रकारों ने ऐर्यापथिकी की सातावेदनीय की अपेक्षा वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त (दो समय) की बताई है। दो समय को जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त कहा जाता है। उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त ४८ मिनट में एक समय कम का होता है।

उदही-सरिस-णामाण, सत्तरिं कोडिकोडीओ ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥

- **मोहणिज्जस्स** - मोहनीय कर्म की, **जहण्णिया** - जघन्य स्थिति, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त है और, **उक्कोसिया** - उत्कृष्ट स्थिति, **सत्तरी (सत्तरिं)** - सत्तर, **कोडिकोडीओ** - कोडाकोडी, **उदही सरिसणामाण** - उदधि सदृश नाम-सागरोपम की होती है ॥

तेतीस-सागरोवमा, उक्कोसेण वियाहिया ।
ठिई उ आउकम्मस्स, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥ २२ ॥

- **आउ कम्मस्स** - आयु-कर्म की, **जहण्णिया** - जघन्य, **ठिई** - स्थिति, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहुर्त **उ** - और, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट स्थिति **तेतीस** - तेतीस, **सागरोवमा** - सागरोपम, **वियाहिया** - कही गई है ॥ २२ ॥

उदही-सरिस-णामाण, बीसई कोडिकोडीओ ।
णामगोत्ताण उक्कोसा, अट्ठ मुहुत्तं जहण्णिया ॥

- **णामगोत्ताणं** - नाम-कर्म और गोत्र कर्म की, **जहण्णिया**- जघन्य स्थिति, **अट्ठ** - आठ, **मुहुत्तं** - महूर्त्त की और, **उक्कोसा** -

उत्कृष्ट स्थिति, **बीसई** - बीस, **कोडिकोडीओ** - कोडा-कोडी, **उदहीसरिसणामाण** - उदधि सदृश नाम-सागरोपम की होती है ॥ २३ ॥

सिद्धाणणंतभागो य अणुभागा हवंति उ ।
सव्वेसु वि पएसग्गं, सव्व जीवेसु अइच्छियं ॥ २४ ॥

- **अणुभागा** - सभी कर्मस्कन्धों के अनुभाग अर्थात् रस विशेष, **सिद्धाण** - सिद्ध भगवन्तों के, **अणंतभागो** - अनन्तवाँ भाग, **हवंति** - हैं, **य** - और, **सव्वेसु वि** - सब कर्मों के, **पएसग्गं** - प्रदेशाग्र (परमाणु) **सव्व जीवे** - सब जीवों से, **अइच्छियं** - अनन्तगुणा अधिक हैं ॥

विवेचन - सभी कर्मों के अनुभाग (रस विशेष) सिद्ध भगवान् के अनन्तवें भाग हैं किन्तु यह अनन्तवाँ भाग भी अनंत संख्यावाला ही समझना चाहिये । इन अनुभागों के प्रदेशाग्र (परमाणु) भवी अभवी सभी जीवों से अनन्त गुणा अधिक है ।

तम्हा एएसिं कम्माणं, अणुभागा वियाणिया ।
एएसिं संवरे चेव, खवणे य जए बुहो ॥ २५ ॥

॥ त्तिबेमि ॥

- **तम्हा** - इसलिए, **एएसिं** - इन, **कम्माण** - कर्मों के, **अणुभागा** - अनुभाग बन्ध प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, रस बन्ध और प्रदेश बन्ध को, **वियाणिया** - जान कर, **बुहो** - बुध-पण्डित पुरुष, **एएसिं** - इनका, **संवरे** - संवर करने (आते हुए कर्मों को रोकने) में, **य** - और, **खवणे** - पूर्व संचित कर्मों का क्षय करने में, **जए** - यत्न करे ॥ २५ ॥ **त्तिबेमि** - ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ तेतीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

लेश्या नाम चौतीसवाँ अध्ययन

लेसज्झयणं पवक्खामि, आणुपुव्विं जहक्कमं ।
छण्हं पि कम्म-लेसाणं,अणुभावे सुणेह मे ॥ १ ॥

– श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि – हे आयुष्मन् जम्बू ! मैं, **आणुपुव्विं** – आनुपूर्वी–अनुक्रम एवं, **जहक्कमं** – यथाक्रम से, **लेसज्झयणं** – लेश्या अध्ययन का, **पवक्खामि** – वर्णन करूँगा । इसलिए, **छण्हं पि** – छहों, **कम्मलेसाणं** – कर्म लेश्याओं के, **अणुभावे** – अनुभाव (तीव्र-मंद आदि रस) को, **मे** – मुझ से, **सुणेह** – सुनो ॥ १ ॥

विवेचन – **प्रश्न** – लेश्या किसे कहते हैं ?

उत्तर – **कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः ।**
स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रवर्त्तते ॥ १ ॥

स्फटिक मणि सफेद होती है, उसमें जिस रंग का डोरा पिरोया जाय वह उसी रंग की दिखाई देती है । इसी प्रकार शुद्ध आत्मा के साथ जिससे कर्मों का सम्बन्ध हो उसे लेश्या कहते हैं । द्रव्य और भाव की अपेक्षा लेश्या दो प्रकार की है । द्रव्य लेश्या कर्म वर्गणा रूप तथा कर्म निष्यन्द रूप एवं योग परिणाम रूप हैं । तत्त्वार्थ सूत्र में तो बतलाया गया है कि – **"कषायानुरञ्जित योग परिणामो लेश्या"** आत्मा में रहे हुए क्रोधादि कषाय को लेश्या बढ़ाती है । योगान्तर्गत पुद्गलों में कषाय को बढाने की शक्ति रहती है । जैसे पित्त के प्रकोप से क्रोध की वृद्धि होती है । द्रव्य लेश्या के छह भेद हैं । क्योंकि इन लेश्याओं के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि का विस्तार पूर्वक वर्णन इस अध्ययन में दिया गया है । मनुष्य और तिर्यञ्च में द्रव्यलेश्या का परिवर्तन होता रहता है । देवता और नैरयिक में द्रव्य लेश्या अवस्थित होती है ।



भावलेश्या - योगान्तर्गत कृष्णादि द्रव्य लेश्या के संयोग से होने वाला आत्मा का परिणाम विशेष भाव लेश्या कहलाती है। इसके दो भेद हैं - १. विशुद्ध भावलेश्या और २. अविशुद्ध भाव लेश्या। अकलुषित द्रव्य लेश्या के सम्बन्ध होने पर कषाय के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से होने वाला आत्मा का शुभ परिणाम अविशुद्ध भाव लेश्या है। इनके छह भेद हैं। इनमें से कृष्ण, नील और कापोत अविशुद्ध भावलेश्या है और तेजो, पद्म और शुक्ल, यह विशुद्ध भावलेश्या है।

णामाइं वण्ण-रस-गंध-फास-परिणामलक्खणं।
ठाणं ठिइं गइं चाउं, लेसाणं तु सुणेह मे॥ २॥

- **लेसाणं** - लेश्याओं के, **णामाइं** - नाम, **वण्ण** - वर्ण, **रस** - रस, **गंधं** - गन्ध, **फास** - स्पर्श, **परिणाम** - परिणाम, **लक्खणं** - लक्षण, **ठाणं** - स्थान, **ठिइं** - स्थिति, **गइं** - गति, **च** - और, **आउं** - आयु, इन ग्यारह द्वारों से लेश्याओं का वर्णन किया जायगा। अतः **मे** - मुझ से, **सुणेह** - सुनो॥ २॥

किण्हा णीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य।
सुक्कलेसा य छट्ठा य, णामाइं तु जहक्कमं॥३॥

- छहों लेश्याओं के, **णामाइं** - नाम, **जहक्कमं** - यथाक्रम इस प्रकार हैं यथा, **किण्हा** - कृष्ण-लेश्या, **णीला** - नील-लेश्या, **काऊ** - कापोत-लेश्या, **तेऊ** - तेजोलेश्या, **पम्हा** - पद्म-लेश्या, **य** - और, **छट्ठा** - छठी, **सुक्क लेस्सा** - शुक्ल लेश्या है॥ ३॥

जीमूय-णिद्धसंकासा, गवलरिट्ठग-सण्णिभा।
खंजांजणणयणणिभा, किण्ह-लेसा उ वण्णओ॥

- **वण्णओ** - वर्ण (रूप) की अपेक्षा, **किण्ह लेस्सा** -

कृष्ण-लेश्या, जीमूयणिद्धसंकासा - जीमूतस्निग्ध संकाशा-जल से भरे मेघ के समान, गवलरिट्ठगसण्णिभा - गवलरिष्टकसंनिभा-भेंसे के सींग रिष्ट-द्रोणकाक तथा अरीठा नाम का फल विशेष के रंग के समान, उ - और, खंजांजण णयणणिभा - खञ्जननयननिभा-गाड़ी के औंघण, काजल और आँख की पुतली के समान काली होती है ॥४॥

णीलासोग-संकासा, चासपिच्छ-समप्पभा ।
वेरुलियणिद्धसंकासा, णीललेसा उ वण्णओ ॥

- **णीलासोग संकासा** - नील अशोक संकाशा-नीले अशोक वृक्ष के समान, **चासपिच्छसमप्पभा** - चासपिच्छसमप्रभा-चाष पक्षी की पंख की कान्ति के समान, उ - और, **वेरुलियणिद्ध संकासा**-वैडूर्यस्निग्धसंकाशा-दीप्त वैडूर्य मणि के समान, **णीललेसा** - नील-लेश्या का, **वण्णओ** - वर्ण (रंग) होता है ॥५॥

अयसीपुप्फ-संकासा, कोइलच्छद-सण्णिभा ।
पारेवयगीवणिभा, काऊलेसा उ वण्णओ ॥ ६ ॥

- **अयसीपुप्फ संकासा** - अतसीपुष्प संकाशा-अलसी के फूल के समान, **कोइलच्छदसण्णिभा** - कोकिलच्छदसंनिभा-कोयल के पांख के समान, उ - और, **पारेवयगीवणिभा** - पारावतग्रीवनीभा-कबूतर की गर्दन के समान, **काऊलेसा** - कापोत-लेश्या का, **वण्णओ** - वर्ण होता है ॥ ६ ॥

हिंगुलयधाउ-संकासा, तरुणाइच्चसण्णिभा ।
सुयतुंडपईवणिभा, तेऊलेसा उ वण्णओ ॥ ७ ॥

- **हिंगुलयधाउ संकासा** - हिङ्गुलकधातुसंकाशा-हिंगलु तथा गैरिक धातु के समान, **तरुणा-इच्चसण्णिभा** - उगते हुये **तरुण**

सूर्य के समान, **उ** - और, **सुयतुंड पईवणिभा** - शुकतुण्डप्रदीपनिभा तोते की चोंच के समान तथा दीपक की शिखा के समान, **तेऊ लेसा** - तेजो-लेश्या का, **वण्णओ** - वर्ण होता है ॥ ७ ॥

हरियालभेयसंकासा, हलिद्दाभेयसमप्पभा ।
सणासण-कुसुमणिभा, पम्हलेसा उ वण्णओ ॥८ ॥

- **हरियालभेय संकासा** - हरितालभेदसंकाशा-हरताल के टुकड़े के समान, **हलिद्दाभेयसमप्पभा** - हरिद्राभेदसमप्रभा-हल्दी के टुकड़े के समान, **उ** - और, **सणासणकुसुमणिभा** - सण और असण नामक वनस्पति के फूल के समान, **पम्हलेसा** - पद्म-लेश्या का, **वण्णओ** - वर्ण होता है ॥ ८ ॥

संखंककुंद-संकासा, खीरपूरसमप्पभा ।
रययहारसंकासा, सुक्कलेसा उ वण्णओ ॥ ९ ॥

- **संखंककुंद संकासा** - शङ्खाऽङ्ककुन्दसंकाशा-शंख और अंक नामक रत्न विशेष तथा कुन्द-फूल के समान, **खीरपूर-समप्पभा** - क्षीरपूरसमप्रभा-दूध की धारा की प्रभा के समान, **उ** - और, **रययहार संकासा** - रजतहारसंकाशा-चाँदी के हार के समान, **सुक्क लेसा** - शुक्ल-लेश्या का, **वण्णओ** - वर्ण होता है ॥९ ॥

जह कडुय-तुंबगरसो,
णिंबरसो कडुयरोहिणिरसो वा ।
एत्तो वि अणंतगुणो,
रसो य किण्हाए णायव्वो ॥ १० ॥

- **जह** - जैसा, **कडुय तुंबगरसो** - कडुवे तुम्बे का रस, **णिंबरसो** - नीम का रस, **वा** - अथवा, **कडुयरोहिणी रसो** - कटु-रोहिणी का रस होता है, **एत्तो वि** - उससे भी, **अणंतगुणो** -



अनन्त गुण कडुआ, **किण्हाए** - कृष्ण-लेश्या का, **रसो** - रस, **णायव्वो** - जानना चाहिए ॥ १० ॥

जह तिगडुयस्स य रसो,
तिक्खो जह हत्थिपिप्पलीए वा ।
एत्तो वि अणंतगुणो,
रसो उ णीलाए णायव्वो ॥ ११ ॥

- **जह** - जैसा, **तिगडुयस्स** - त्रिकटुक (सौंठ, मिर्च और पीपर) का, **य** - और, **जह** - जिस प्रकार, **हत्थिपिप्पलीए** - हस्तिपीपल (गज-पीपल) का, **रसो** - रस, **तिक्खो** - तीक्ष्ण होता है, **एत्तो वि** - इससे भी, **अणंतगुणो** - अनन्त गुण तीक्ष्ण, **णीलाए** - नील लेश्या का, **रसो** - रस, **णायव्वो** - जानना चाहिए ॥ ११ ॥

जह तरुण-अंबगरसो,
तुवर-कविट्ठस्स वावि जारिसओ ।
एत्तो वि अणंतगुणो,
रसो उ काऊए णायव्वो ॥ १२ ॥

- **जह** - जैसा, **तरुण अंबग रसो** - कच्चे आम का रस, **वावि** - अथवा, **जारिसओ** - जैसा, **तुवर कविट्ठस्स** - कच्चे तुवर का और कच्चे कविठ का रस होता है, **एत्तो वि** - उससे भी, **अणंतगुणो** - अनन्त गुण खट्टा, **काऊए** - कापोत-लेश्या का, **रसो**- रस, **णायव्वो** - जानना चाहिए ॥ १२ ॥

जह परिणयंबग रसो,
पक्ककविट्ठस्स वावि जारिसओ ।
एत्तो वि अणंतगुणो,
रसो उ तेऊए णायव्वो ॥ १३ ॥

– **जह** – जैसा, **परिणयंबग रसो** – परिणत आम्रक रस-पके हुए आम का रस होता है, **वावि** – अथवा, **जारिसओ** – जैसा, **पक्क कविट्ठस्स** – पक्वकपित्थ-पके हुए कविठ का रस (खटमीठा) होता है, **एत्तो वि** – उससे भी, **अणंतगुणो** – अनन्त गुण खट-मीठा, **तेऊए** – तेजो लेश्या का, **रसो** – रस, **णायव्वो** – जानना चाहिए ॥ १३ ॥

वरवारुणीए व रसो
विविहाण व आसवाण जारिसओ ।
महुमेरयस्स व रसो,
एत्तो पम्हाए परएणं ॥ १४ ॥

– **वरवारुणीए** – वरवारुणी रस-उच्च कोटि की मदिरा, **व** – अथवा, **विविहाण** – अनेक प्रकार के, **आसवाण** – आसवों का **व** – अथवा, **महुमेरयस्स** – मधु और मेरक का, **जारिसओ** – जैसा, **रसो** – रस होता है, **एत्तो** – उससे भी, **परएणं** – बढ़ कर, **पम्हाए**– पद्म-लेश्या का, **रसो** – रस होता है ॥ १४ ॥

खज्जूर-मुद्दियरसो, खीररसो खंड सक्कररसो वा।
एत्तो वि अणंतगुणो, रसो उ सुक्काए णायव्वो ॥

– जैसा, **खज्जूर मुद्दियरसो** – पिंडखजूर और मृद्विका अर्थात् दाख का रस, **खीररसो** – दूध, **वा**– अथवा, **खंडसक्कर रसो** – खांड और मिश्री का रस मधुर होता है, **एत्तो वि** – उससे भी, **अणंतगुणो** – अनन्त गुण, **रसो** – मधुर रस, **सुक्काए** – शुक्ल-लेश्या का, **णायव्वो** – जानना चाहिए ॥ १५ ॥

जह गोमडस्स गंधो,
सुणगमडस्स व जहा अहिमडस्स ।



एत्तो वि अणंतगुणो,
लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥ १६॥

– **जह** – जिस प्रकार, **गोमडस्स** – गोमृत–गाय के मृतक–कलेवर की, **व** – अथवा, **जहा** – जैसी, **सुणगमडस्स** – शुनकमृत–कुत्ते के मृतक–शरीर की और, **अहिमडस्स** – अहिमृत–साँप के मृतक–शरीर की, **गंधो** – दुर्गन्ध होती है, **एत्तो वि** – उससे भी, **अणंतगुणो** – अनन्तगुण दुर्गन्ध, **अप्पसत्थाणं** – अप्रशस्त, **लेसाणं** – लेश्याओं (क्रमशः कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या) की होती है ॥ १६ ॥

जह सुरहिकुसुमगंधो, गंधवासाण पिस्समाणाणं ।
एत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थ-लेसाण तिण्हं पि ॥

– **जह** – जैसी, **सुरहि** – सुगन्धित, **कुसुम**– फूलों की, **गंधो**–सुगन्ध होती है अथवा, **पिस्समाणाणं** – पीसे जाते हुए, **गंधवासाण** – चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों की जैसी सुगन्ध होती है, **एत्तो वि** – उससे भी, **अणंतगुणो** – अनन्त गुण सुगन्ध, **तिण्हं पि** – तीनों, **पसत्थ लेसाण** – प्रशस्त लेश्याओं (तेजो लेश्या पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या) की होती है ॥ १७ ॥

जह करगयस्स फासो, गोजिब्भाए व सागपत्ताणं।
एत्तो वि अणंतगुणो, लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥ १८॥

– **जह** – जिस प्रकार, **करगयस्स** – करवत नामक शस्त्र का, **व** – अथवा, **गोजिब्भाए** – गाय की जिह्वा का और, **सागपत्ताणं** – शाक नाम की वनस्पति के पत्तों का, **फासो** – स्पर्श कर्कश (खुरदरा) होता है, **एत्तो वि** – उससे भी, **अणंतगुणो** – अनन्त गुण कर्कश स्पर्श **अप्पसत्थाणं** – अप्रशस्त, **लेसाणं** – लेश्याओं (कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्याओं) का होता है ॥ १८ ॥



जह बूरस्स व फासो,
णवणीयस्स व सिरीसकुसुमाणं ।
एत्तो वि अणंतगुणो,
पसत्थ-लेसाण तिण्हं पि ॥ १९ ॥

- **जह** - जैसा, **बूरस्स** - बूर नामक वनस्पति का, **व** - अथवा, **णवणीयस्स** - नवनीत (मक्खन) का, **व** - अथवा, **सिरीसकुसुमाणं** - शिरीष के फूलों का, **फासो** - कोमल स्पर्श होता है, **एत्तो वि** - उससे भी, **अणंतगुणो** - अनन्तगुण कोमल स्पर्श, **तिण्हं पि** - तीनों, **पसत्थ लेसाणं** - प्रशस्त लेश्याओं (तेजो लेश्या, पद्म लेश्या शुक्ल लेश्याओं) का होता है ॥ १९ ॥

तिविहो व णवविहो वा,
सत्तावीसइविहेक्कसिओ वा ।
दुसओ तेयालो वा,
लेसाणं होइ परिणामो ॥ २० ॥

- **लेसाणं** - इन छहों लेश्याओं के, **तिविहो** - तीन, **व** - अथवा **णवविहो** - नव, **वा** - अथवा, **सत्तावीसइविह** - सत्ताईस, **वा** - अथवा, **इक्कसीओ** - इक्यासी, **वा** - अथवा, **दुसओ तेयालो** - दो सौ तयालीस प्रकार के, **परिणामो** - परिणाम, **होइ** - होते हैं ॥ २० ॥

विवेचन - इस गाथा में लेश्याओं का परिणाम बतलाया गया है । प्रत्येक लेश्या के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे तीन भेद होते हैं । इन तीन भेदों में भी अपने अपने स्थानों में जब तरतमता का विचार किया जाता है तब यह जघन्य आदि प्रत्येक भी अपने अपने में जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद वाले



हो जाते हैं । इस प्रकार तीन को तीन से गुणा करने पर ९ भेद हो जाते हैं । इन नौ में फिर जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद करने पर २७ भेद हो जाते हैं । इन २७ को फिर जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट तीन से गुणा करने पर ८१ भेद हो जाते हैं और इन ८१ को फिर इन जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट से गुणा करने पर २४३ भेद हो जाते हैं । इसीलिये पण्णवणा सूत्र में कहा है -

"तिविहं वा नवविहं वा सत्तावीसइविहं वा इक्कासीइविहं वावि तेयालदुसयविहं वा बहुं वा बहुविहं वा परिणामं परिणमइ, एवं कण्हलेसा जाव सुक्कलेसा ।"

इस प्रकार प्रत्येक लेश्या के परिणाम बहुत भेदों वाले हो जाते हैं ।

पंचासवप्पवत्तो, तीहिं अगुत्तो छसु अविरओ य ।
तिव्वारंभपरिणओ, खुद्दो साहस्सिओ णरो ॥ २१ ॥
णिद्धंस परिणामो, णिस्संसो अजिइंदिओ ।
एयजोगसमाउत्तो, किण्हलेसं तु परिणमे ॥ २२ ॥

- **पंचासवप्पवत्तो** - पाँच आस्रवों में प्रवृत्ति करने वाला, **तीहिं** - तीन गुप्तियों से, **अगुत्तो** - अगुप्त (आत्मा का गोपन न करने वाला) **छसु** - छह काया में, **अविरओ** - अविरत (छह काया की विराधना करने वाला) **तिव्वारंभ परिणओ** - तीव्र भावों से आरम्भादि करने वाला, **खुद्दो** - क्षुद्र (तुच्छ), **साहसिओ** - साहसिक (बिना विचारे काम करने वाला), **णिद्धंस** - णिद्धंस (निर्दय), **परिणामो** - निर्दयता के परिणाम वाला, **णिस्संसो**- नृशंस (क्रूर), **अजिइंदिओ** - अजितेन्द्रिय (इन्द्रियों को वश में न करने वाला) **एयजोगसमाउत्तो** - इन उपरोक्त परिणामों से

युक्त, **णरो** - नर-मनुष्य, **किण्हलेसं** - कृष्णलेश्या के, **परिणमे** - परिणाम वाला होता है ॥ २१-२२ ॥

इस्सा अमरिस अतवो,
अविज्जमाया अहीरिया ।
गेही पओसे य सढे,
पमत्ते रस-लोलुए सायगवेसए य ॥ २३ ॥
आरंभाओ अविरओ, खुद्दो साहस्सिओ णरो ।
एयजोग-समाउत्तो, णील-लेसं तु परिणमे ॥ २४ ॥

- **इस्सा** - ईर्षालु, **अमरिस** - अमर्ष-कदाग्रही, **अतवो** - तपस्या न करने वाला, **अविज्ज** - अविद्या वाला (अज्ञानी), **माया**- मायावी, **अहीरिया** - अह्रीकता-निर्लज्ज, **गिद्धी** - विषय-कषाय में गृद्धि भाव रखने वाला, **पओसे** - प्रद्वेष करने वाला, **सढे** - शठ-धूर्त, ठग, **पमत्ते** - प्रमादी, **रसलोलुए** - रसलोलुपी, **सायगवेसए** - सातगवेषक-सुख की गवेषणा करने वाला, **आरंभाओ अविरओ**- आरम्भ से निवृत्त न होने वाला, **य** - और, **खुद्दो** - क्षुद्र (तुच्छ) **य**- तथा, **साहस्सिओ** - साहसिक (बिना विचारे काम करने वाला), **एयजोग समाउत्तो** - इन उपरोक्त परिणामों से युक्त, **णरो** - नर-मनुष्य, **णीललेसं** - नीललेश्या के, **परिणमे** - परिणाम वाला होता है ॥ २३-२४ ॥

वंके वंकसमायरे, णियडिल्ले अणुज्जुए ।
पलिउंचग ओवहिए, मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥ २५ ॥
उप्फालग दुट्ठवाई य, तेणे यावि य मच्छरी ।
एयजोगसमाउत्तो, काऊलेसं तु परिणमे ॥ २६ ॥



- **वंके** - वक्र कुटिल-वचन बोलने वाला, **वंकसमायरे** - वक्र आचरण करने वाला, **णियडिल्ले** - निकृतिमान्-मायावी (मन की अपेक्षा वक्र) **अणुज्जुए** - अन् ऋजुक-सरलता से रहित, **पलिउंचग** - प्रतिकुञ्चक-अपने दोषों को छिपाने वाला, **ओवहिए**- औपधिक-छल-पूर्वक बर्ताव करने वाला, **मिच्छदिट्ठी** - मिथ्यादृष्टि, **अणारिए** - अनार्य, **उप्फालगदुट्ठवाई** - उत्प्रासक-दुष्टवादी-मर्म-भेदी वचन बोलने वाला, **तेणे** - चोर, **य** - और, **मच्छरी** - मत्सरी (दूसरों की उन्नति को सहन न करने वाला) **एयजोग-समाउत्तो** - एतद्योग समायुक-उपरोक्त परिणामों से युक्त प्राणी, **काऊलेसं** - कापोत-लेश्या के, **परिणमे**- परिणाम वाला होता है ॥ २५-२६ ॥

णीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ।
विणीयविणए दंते, जोगवं उवहाणवं ॥ २७ ॥
पियधम्मे दढधम्मे, अवज्ज-भीरू हिएसए ।
एयजोग-समाउत्तो, तेऊलेसं तु परिणमे ॥ २८ ॥

- **णीयावित्ती** - नीचैर्वृत्ति-नम्र वृत्ति वाला (अहंकार रहित) **अचवले**- अचपल-चपलता-रहित, **अमाई** - अमायी-माया-रहित, **अकुऊहले** - अकुतूहल-कुतूहल आदि न करने वाला, **विणीयविणए** - विनीतविनय-परम विनय भक्ति करने वाला, **दंते** - दान्त-इन्द्रियों का दमन करने वाला, **जोगवं** - योगवान्-स्वाध्यायादि में रत रहने वाला, **उवहाणवं** - उपधानवान्-उपधानादि तप करने वाला, **पियधम्मे** - प्रियधर्मा-धर्म में प्रेम रखने वाला, **दढधम्मे** - दृढधर्मा-धर्म में दृढ़ रहने वाला, **अवज्ज भीरू** - अवद्यभीरु-पाप से डरने वाला, **हिएसए** - हितैषक-सभी प्राणियों का हित चाहने वाला, **एयजोग समाउत्तो** - इन उपरोक्त परिणामों

से युक्त प्राणी, **तेऊलेसं** – तेजो-लेश्या के, **परिणमे** – परिणाम वाला होता है ॥ २८ ॥

पयणुकोहमाणे य, मायालोभे य पयणुए ।
पसंतचित्ते दंतप्पा, जोगवं उवहाणवं ॥ २९ ॥
तहा पयणुवाई य, उवसंते जिइंदिए ।
एयजोग समाउत्तो, पम्हलेसं तु परिणमे ॥ ३० ॥

– **पयणुकोहमाणे** – प्रतनु क्रोध मान-अल्प क्रोध वाला, अल्प मान वाला, **य** – और, **पयणुए माया लोभे** – प्रतनु माया लोभ-अल्प माया वाला, अल्प लोभ वाला, **पसंतचित्ते** – प्रशान्तचित्त-शान्त चित्त वाला, **दंतप्पा** – दान्तात्मा-अपनी आत्मा का दमन करने वाला, **जोगवं** – योगवान्-स्वाध्यायादि करने वाला, **उवहाणवं**– उपधानादि तप करने वाला, **पयणुवाई** – प्रतनुवादी-परिमित बोलने वाला, **उवसंते** – उपशांत **य** – और, **जिइंदिए** – जितेंद्रिय, **एयजोग समाउत्तो** – इन उपरोक्त गुणों से युक्त प्राणी, **पम्हलेसं** – पद्मलेश्या के, **परिणमे** – परिणाम वाला होता है ॥

अट्ट-रुद्दाणि वज्जित्ता, धम्म-सुक्काणि झायए ।
पसंतचित्ते दंतप्पा, समिए गुत्ते य गुत्तिसु ॥३१ ॥
सरागे वीयरागे वा, उवसंते जिइंदिए ।
एयजोग समाउत्तो, सुक्कलेसं तु परिणमे ॥ ३२ ॥

– जो पुरुष, **अट्टरुद्दाणि** – आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान, **वज्जित्ता** – छोड़ कर, **धम्मसुक्काणि** – धर्मध्यान और शुक्ल-ध्यान, **झायए** – ध्याता है, **पसंतचित्ते** – प्रशान्त चित्त वाला, **दंतप्पा** – दान्तात्मा-अपनी आत्मा को दमन करने वाला, **समिए** – पाँच

समितियों से युक्त, **गुत्तिसु** - तीन गुप्तियों से, **गुत्ते** - गुप्त, **सरागे**- सराग-अल्प राग वाला, **वा** - अथवा, **वीयरागे** - वीतरागी, **उवसंते** - उपशांत, **य** - और, **जिइंदिए** - जितेन्द्रिय, **एयजोग-समाउत्तो** - इन परिणामों से युक्त जीव, **सुक्कलेसं** - विशिष्ट शुक्ललेश्या के, **परिणमे** - परिणाम वाला होता है (ये सब लक्षण विशिष्ट शुक्ललेश्या वाले मनुष्य में पाये जाते हैं) ॥

असंखिज्जाणोसप्पिणीण, उस्सप्पिणीण जे समया।
संखाईया लोगा, लेसाण हवंति ठाणाइं ॥ ३३ ॥

- **असंखिज्जाण** - असंख्यात, **ओसप्पिणीण** - अवसर्पिणी काल के और, **उस्सप्पिणीण** - उत्सर्पिणी काल के, **जे** - जितने, **समया** - समय हैं और, **संखाईया लोगा** - संख्यातीत (असंख्य) लोक के जितने प्रदेश हैं उतने, **लेसाण** - लेश्याओं के, **ठाणाइं** - स्थान, **हवंति** - होते हैं ॥ ३३ ॥

विवेचन - दस कोडाकोडी सागरोपम का एक अवसर्पिणी काल होता है । इसी तरह दस कोडाकोडी सागरोपम का एक उत्सर्पिणी काल होता है । दोनों मिलाकर २० कोडाकोडी सागरोपम का एक कालचक्र होता है । असंख्यात उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी काल के जितने समय होते हैं शुभ और अशुभ दोनों लेश्याओं के उतने स्थान होते हैं । यह काल की अपेक्षा परिमाण कहा गया है। इसी तरह असंख्यात लोकों के जितने प्रदेश होते हैं उतने ही लेश्याओं के स्थान होते हैं । यह क्षेत्र की अपेक्षा लेश्याओं के स्थान का परिमाण जानना चाहिए ।

मुहुत्तद्धं तु जहण्णा, तेत्तीसा सागरा मुहुत्तऽहिया।
उक्कोसा होइ ठिई, णायव्वा किण्हलेसाए ॥ ३४॥



- **किण्हलेसाए** - कृष्ण-लेश्या की, **जहण्णा** - जघन्य, **ठिई** - स्थिति, **मुहुत्तद्धं** - अन्तर्मुहूर्त्त, **तु** - और, **उक्कोसा** - उत्कृष्ट, **मुहुत्तऽहिया** - अन्तर्मुहूर्त्त अधिक, **तेत्तीसा** - तेतीस, **सागरा** - सागरोपम की, **होइ** - होती है ऐसा, **णायव्वा** - जानना चाहिए ॥ ३४ ॥

विवेचन - गाथा में "**मुहुत्तद्धं**" शब्द दिया है जिसका शब्दार्थ होता है, आधा मुहूर्त्त किन्तु शास्त्र में आधा मुहूर्त की विवक्षा नहीं की गयी है इसलिये टीकाकार ने "मुहुत्तद्धं" का अर्थ अन्तर्मुहूर्त्त किया है वह यथार्थ है । उत्कृष्ट स्थिति में "**तेत्तीसा सागरा मुहुत्तऽहिया**" का अर्थ - तेतीस सागर और मुहूर्त्त अधिक। यहाँ और आगे सब जगह मुहूर्त्त शब्द से मुहूर्त्त का एक देश समझना चाहिए । जिसका अर्थ - शास्त्रीय भाषा में अन्तर्मुहूर्त्त होता है । अन्तर्मुहूर्त्त के भी असंख्यात भेद होते हैं इसलिये यहाँ पर तथा आगे भी यथा स्थान पूर्वभव सम्बन्धी एक अन्तर्मुहूर्त्त तथा अगले भव का जन्म के समय का अन्तर्मुहूर्त्त इस प्रकार दो अन्तर्मुहूर्त्त लेना चाहिए । परन्तु दोनों अन्तर्मुहूर्त्तों को मिलाकर भी एक अन्तर्मुहूर्त्त ही समझना चाहिए । अन्तर्मुहूतर्त अधिक ३३ सागर की कृष्णलेश्या की उत्कृष्ट स्थिति सातवीं नरक सम्बन्धी समझनी चाहिये । क्योंकि कृष्ण लेश्या की इतनी लम्बी स्थिति सातवीं नरक में ही पायी जाती है, दूसरी जगह नहीं ।

मुहुत्तद्धं तु जहण्णा,
दस उदहि पलियमसंखभाग मब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई,
णायव्वा णीललेसाए ॥ ३५ ॥

- **णील लेसाए** - नील लेश्या की, **जहण्णा** - जघन्य,



ठिई - स्थिति, **मुहुत्तद्धं** - अन्तर्मुहूर्त्त, **तु** - और, **उक्कोसा** - उत्कृष्ट, **पलियमसंख भागमब्भहिया** - पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक, **दस** - दस, **उदहि** - उदधि-सागरोपम की, **होइ** - होती है ऐसा, **णायव्वा** - जानना चाहिए ॥ ३५ ॥

मुहुत्तद्धं तु जहण्णा,
तिण्णुदही पलियमसंखभागमब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई,
णायव्वा काउलेसाए ॥ ३६ ॥

- **काउलेसाए** - कापोत-लेश्या की, **जहण्णा** - जघन्य, **ठिई** - स्थिति, **मुहुत्तद्धं** - अन्तर्मुहूर्त, **तु** - और, **उक्कोसा** - उत्कृष्ट, **पलियमसंखभागमब्भहिया** - पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक, **तिण्णुदही** - तीन सागरोपम की, **होइ** - होती है ऐसा, **णायव्वा** - जानना चाहिए ॥ ३६ ॥

मुहुत्तद्धं तु जहण्णा,
दोण्णुदही पलियमसंखभागमब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई,
णायव्वा तेउलेसाए ॥ ३७ ॥

- **तेउलेसाए** - तेजो-लेश्या की, **जहण्णा** - जघन्य, **ठिई** - स्थिति, **मुहुत्तद्धं** - अन्तर्मुहूर्त्त, **तु** - और, **उक्कोसा** - उत्कृष्ट, **पलियमसंखभागमब्भहिया** - पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक, **दोण्णुदही** - दो सागरोपम की, **होइ** - होती है ऐसा, **णायव्वा** - जानना चाहिए ॥ ३७ ॥

मुहुत्तद्धं तु जहण्णा, दस उदही होइ मुहुत्तमब्भहिया।
उक्कोसा होइ ठिई, णायव्वा पम्हलेसाए॥ ३८॥

☆☆

- **पम्हलेसाए** - पद्म-लेश्या की, **जहण्णा** - जघन्य, **ठिई** - स्थिति, **मुहुत्तद्धं** - अन्तर्मुहूर्त्त, **होइ** - होती है, **तु** - और, **उक्कोसा** - उत्कृष्ट, **मुहुत्तमब्भहिया** - अन्तर्मुहूर्त्त अधिक, **दस** - दस, **उदही** - सागरोपम की, **होइ** - होती है ऐसा, **णायव्वा** - जानना चाहिए॥ ३८॥

मुहुत्तद्धं तु जहण्णा, तेत्तीसं सागरा मुहुत्तहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई, णायव्वा सुक्कलेसाए ॥ ३९॥

- **सुक्कलेसाए** - शुक्ल-लेश्या की, **जहण्णा** - जघन्य, **ठिई** - स्थिति, **मुहुत्तद्धं** - अन्तर्मुहूर्त्त, **तु** - और, **उक्कोसा** - उत्कृष्ट, **मुहुत्तहिया** - अन्तर्मुहूर्त्त अधिक, **तेत्तीसं** - तेतीस, **सागरा** - सागरोपम की, **होइ** - होती है ऐसा, **णायव्वा** - जानना चाहिए ॥ ३९ ॥

विवेचन - यहाँ पर शुक्ल लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागरोपम की कही है । वह पांच अनुत्तर विमान सम्बन्धी समझनी चाहिए क्योंकि शुक्ल लेश्या की इतनी लम्बी स्थिति अनुत्तर विमानों में ही पाई जा सकती है, दूसरी जगह नहीं।

एसा खलु लेसाणं, ओहेण ठिई वण्णिया होइ ।
चउसु वि गइसु एत्तो, लेसाण ठिइं तु वोच्छामि ॥

- **ओहेण** - ओघ-अर्थात् सामान्य रूप से, **लेसाण** - लेश्याओं की, **एसा** - यह, **ठिई** - स्थिति, **वण्णिया होइ** - कही गई है, **एत्तो** - यहाँ से आगे, **चउसु वि** - चारों, **गइसु** - गतियों में, **लेसाण** - लेश्याओं की, **ठिइं** - स्थिति, **वोच्छामि** - कहूँगा ॥ ४० ॥

दसवास सहस्साइं, काऊए ठिई जहण्णिया होइ ।
तिण्णुदही पलिओवम, असंखभागं च्च उक्कोसा ॥

✡✡✡

- **काऊए** - कापोत-लेश्या की, **जहण्णया** - जघन्य **ठिई** - स्थिति, **दसवास सहस्साइं** - दस हजार वर्ष की, **च** - और, **उक्कोसा** - उत्कृष्ट, **तिण्णुदही** - तीन सागरोपम और, **पलिओवम असंखभागं** - पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग अधिक **होइ** - होती है ॥४१ ॥

तिण्णुदही पलिओवम,
असंखभागो जहण्णेण णीलठिई ।
दस उदही पलिओवम,
असंखभागं च उक्कोसा ॥ ४२ ॥

- **णील ठिई** - नील-लेश्या की स्थिति, **जहण्णेण** - जघन्य, **तिण्णुदही**- तीन सागरोपम और, **पलिओवम असंखभागो** - पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग अधिक, **च** - और, **उक्कोसा** - उत्कृष्ट, **दस उदही** - दस सागरोपम और, **पलिओवम असंखभागं** - पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग अधिक होती है ॥४२ ॥

दस-उदही-पलिओवम,
असंखभागं जहण्णया होइ ।
तेत्तीस-सागराइं,
उक्कोसा होइ किण्हाए ॥ ४३ ॥

- **किण्हाए (लेसाए)** - कृष्ण-लेश्या की, **जहण्णया** - जघन्य स्थिति, **दस उदही** - दस सागरोपम और, **पलिओवम असंखभागं** - पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग अधिक, **होइ** - होती है और, **उक्कोसा** - उत्कृष्ट, **तेतीस सागराइं** - तेतीस सागरोपम की, **होइ** - होती है ॥४३ ॥

☆☆

एसा णेरइयाणं, लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ ।
तेण परं वुच्छामि, तिरिय-मणुस्साण देवाणं ॥

- **एसा** - यह **णेरइयाण** - नैरयिक जीवों की, **लेसाण** - लेश्याओं की, **ठिई** - स्थिति, **वण्णिया होइ** - वर्णन की गई है, **तेण परं** - इसके आगे, **तिरियमणुस्साण देवाणं** - तिर्यञ्च, मनुष्य और देवों की लेश्याओं को स्थिति का, **वुच्छामि** - वर्णन करूँगा ॥ ४४ ॥

अंतोमुहुत्तमद्धं, लेसाण ठिई जहिं जहिं जा उ ।
तिरियाण णराणं वा, वज्जित्ता केवलं लेसं ॥ ४५ ॥

- **केवलं लेसं** - केवली की शुक्ल-लेश्या को, **वज्जित्ता** - छोड़ कर, **तिरियाण** - तिर्यञ्च, **वा** - और, **णराणं** - मनुष्यों में, **जहिं जहिं** - जहाँ जहाँ, **जा उ** - जो-जो लेश्या हैं, **लेसाण** - उन लेश्याओं की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति, **अंतोमुहुत्तमद्धं** - अन्तर्मुहूर्त्त है ॥ ४५ ॥

मुहुत्तद्धं तु जहण्णा, उक्कोसा होइ पुव्वकोडी उ ।
णवहिं वरिसेहिं ऊणा, णायव्वा सुक्कलेसाए ॥

- **सुक्कलेसाए** - केवली की शुक्ल-लेश्या की, **जहण्णा** - जघन्य स्थिति, **मुहुत्तद्धं** - अन्तर्मुहूर्त्त, **तु** - और, **उक्कोसा** - उत्कृष्ट स्थिति, **णवहिं वरिसेहिं ऊणा** - नौ वर्ष कम, **पुव्वकोडी** - एक करोड़ पूर्व की, **होइ** - होती है ऐसा, **णायव्वा** - जानना चाहिए ॥ ४६ ॥

विवेचन - एक करोड़ पूर्व वर्ष की उम्र वाला कोई व्यक्ति वर्ष की उम्र में दीक्षा ले और उसी दिन उसे केवलज्ञान हो जाय अपेक्षा से शुक्ललेश्या की यह स्थिति समझनी चाहिये ।



एसा तिरिय-णराणं, लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ।
तेण परं वोच्छामि, लेसाण ठिई उ देवाणं॥ ४७॥

- **एसा** - यह **तिरिय णराणं** - तिर्यंच और मनुष्यों की, **लेसाण** - लेश्याओं की, **ठिई** - स्थिति का, **वण्णिया होइ** - वर्णन हुआ, **तेण परं** - इसके आगे, **देवाणं** - देवताओं की, **लेसाण** - लेश्याओं की, **ठिई** - स्थिति का, **वोच्छामि** - वर्णन करूँगा ॥ ४७ ॥

दसवास-सहस्साइं, किण्हाए ठिई जहण्णिया होइ।
पलियमसंखिज्जइमो, उक्कोसा होइ किण्हाए ॥

- **किण्हाए, किण्हाए** - कृष्णलेश्या की, **जहण्णिया** - जघन्य, **ठिई** - स्थिति, **दसवास सहस्साइं** - दस हजार वर्ष की, **होइ** - होती है और, **उक्कोसा** - उत्कृष्ट स्थिति, **पलियमसंखिज्जइमो** - पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग, **होइ** - होती है ।।। ४८ ॥

जा किण्हाए ठिई खलु,
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ।
जहण्णेणं णीलाए,
पलियमसंखं च उक्कोसा ॥ ४९ ॥

- **किण्हाए** - कृष्ण-लेश्या की, **जा** - जो, **उक्कोसा** - उत्कृष्ट, **ठिई** - स्थिति है, **सा** - उससे, **समयमब्भहिया** - एक समय अधिक, **णीलाए** - नील-लेश्या की, **जहण्णेणं** - जघन्य स्थिति है, **च** - और, **पलियमसंखं** - पल्योपम का असंख्यातवां भाग अधिक, **उक्कोसा** - उत्कृष्ट स्थिति है ॥ ४९ ॥



जा णीलाए ठिई खलु,
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ।
जहण्णेणं काऊए,
पलियमसंखं च उक्कोसा ॥५० ॥

– **णीलाए** – नील लेश्या की, **जा** – जो, **उक्कोसा** – उत्कृष्ट, **ठिई** – स्थिति है, **सा** – उससे, **समयमब्भहिया** – एक समय अधिक, **काऊए** – कापोत-लेश्या की, **जहण्णेणं** – जघन्य स्थिति है, **च** – और, **पलियमसंखं** – पल्योपम का असंख्यातवां भाग अधिक, **उक्कोसा** – उत्कृष्ट स्थिति है ॥५० ॥

तेण परं वोच्छामि, तेऊ लेसा जहा सुरगणाणं ।
भवणवइ-वाणमंतर, जोइस-वेमाणियाणं च ॥

– **तेण परं** – इसके आगे, **भवणवइ वाणमंतर जोइस वेमाणियाणं च** – भवनपति वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक, **सुरगणाणं** – देवताओं के समूह में, **तेऊ लेसा** – तेजो-लेश्या की स्थिति, **जहा** – जिस प्रकार होती है उसे, **वोच्छामि** – कहूँगा ।

पलिओवमं जहण्णा,
उक्कोसा सागरा उ दुण्णहिया ।
पलियमसंखेज्जेणं,
होइ भागेण तेऊए ॥ ५२ ॥

– **तेऊए** – तेजो-लेश्या की, **जहण्णा** – जघन्य स्थिति, **पलिओवमं** – एक पल्योपम, **उ** – और, **उक्कोसा** – उत्कृष्ट स्थिति, **पलियमसंखेज्जेणं** – पल्योपम के असंख्यातवें, **भागेण** – भाग सहित, **दुण्णहिया** – द्वि अधिक-दो, **सागरा** – सागरोपम, **होइ** – है ॥५२॥



विवेचन - यह स्थिति वैमानिक देवों में समझनी चाहिए। क्योंकि सौधर्म देवलोक के देवों की जघन्य स्थिति एक पल्योपम की तथा ईशान् देवलोक के देवों की जघन्य स्थिति एक पल्योपम से कुछ अधिक है तथा पहले और दूसरे इन दोनों देवलोकों के देवों में क्रमशः उत्कृष्ट स्थिति दो सागरोपम तथा दो सागरोपम से कुछ अधिक की होती है।

इस प्रकार वैमानिक देवों की अपेक्षा ही तेजो लेश्या की यह स्थिति घटित हो सकती है।

दसवास-सहस्साइं, तेऊए ठिई जहण्णिया होइ।
दुण्णुदही पलिओवम, असंखभागं च उक्कोस्सा॥

- भवनपति और वाणव्यन्तर देवों की अपेक्षा से, **तेऊए** - तेजोलेश्या की, **जहण्णिया** - जघन्य, **ठिई** - स्थिति, **दसवास सहस्साइं** - दस हजार वर्ष की है, **च** - और ईशान देवलोक की अपेक्षा से, **उक्कोसा** - उत्कृष्ट स्थिति, **पलिओवम असंखभागं**- पल्योपम के असंख्यातवें भाग सहित, **दुण्णुदही** - दो सागरोपम की है ॥५३॥

जा तेऊए ठिई खलु,
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहण्णेणं पम्हाए,
दस उ मुहुत्ताहियाइ उक्कोसा ॥ ५४ ॥

- **तेऊए** - तेजोलेश्या की, **जा** - जो, **उक्कोसा** - उत्कृष्ट, **ठिई** - स्थिति है, **सा** - उससे, **समयमब्भहिया** - एक समय अधिक, **पम्हाए** - पद्मलेश्या की, **जहण्णेणं** - जघन्य स्थिति जाननी चाहिए, **उ** - और, **उक्कोसा** - उत्कृष्ट स्थिति, **मुहुत्ताहियाइ** - एक मुहूर्त्त अधिक, **दस** - दस सागरोपम है ॥५४॥



जा पम्हाए ठिई खलु,
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ।
जहण्णेणं सुक्काए,
तेत्तीस-मुहुत्तमब्भहिया ॥ ५५ ॥

– **जा** – जो, **पम्हाए** – पद्मलेश्या की, **उक्कोसा** – उत्कृष्ट, **ठिई** – स्थिति है, **सा** – उससे, **समयमब्भहिया** – एक समय अधिक, **सुक्काए** – शुक्ललेश्या की, **जहण्णेणं** – जघन्य स्थिति होती है, **उ** – और उत्कृष्ट स्थिति, **मुहुत्तमब्भहिया** – एंक मुहूर्त अधिक, **तेत्तीस** – तेतीस सागरोपम की है ॥ ५५ ॥

किण्हा णीला काऊ,
तिण्णि वि एयाओ अहम्मलेस्साओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो,
दुग्गइं उववज्जइ ॥ ५६ ॥

– **किण्हा** – कृष्ण लेश्या, **णीला** – नील लेश्या और **काऊ** – कापोत लेश्या, **एयाओ** – ये, **तिण्णि वि** – तीन, **अहम्मलेस्साओ** – अधर्म (अप्रशस्त) लेश्याएँ हैं, **एयाहि** – इन, **तिहि वि** – तीन लेश्याओं से, **जीवे** – जीव, **दुग्गइं** – दुर्गति में, **उववज्जइ** – उत्पन्न होता है।

तेऊ पम्हा सुक्का, तिण्णि वि एयाओ धम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइं उववज्जइ ॥ ५७ ॥

– **तेऊ** – तेजोलेश्या, **पम्हा** – पद्मलेश्या और, **सुक्का** – शुक्ललेश्या, **एयाओ** – ये, **तिण्णि वि** – तीनों, **धम्मलेस्साओ** – धर्म (प्रशस्त) लेश्याएँ हैं, **एयाहि** – इन, **तिहि वि** – तीनों लेश्याओं से, **जीवो** – जीव, **सुग्गइं** – सुगति में, **उववज्जइ** – उत्पन्न होता है ॥



लेस्साहिं सव्वाहिं, पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु।
ण हु कस्सइ उववत्ति, परे भवे अत्थि जीवस्स।५८।

– मरण समय के, **पढमे** – पहले, **समयम्मि** – समय में, **परिणयाहिं** – परिणत हुई, **सव्वाहिं** – सभी, **लेस्साहिं** – लेश्याओं से, **हु** – निश्चय ही, **कस्सइ** – किसी भी, **जीवस्स** – जीव की **परे भवे** – पर-भव में, **उववत्ति (उववाओ)** – उत्पत्ति, **ण अत्थि**– नहीं होती है (छहों लेश्याओं में से किसी भी लेश्या को आये हुए केवल एक समय हुआ हो तो उस समय कोई भी जीव मृत्यु को प्राप्त नहीं होता है ।) ॥ ५८ ॥

लेस्साहिं सव्वाहिं,
चरिमे समयम्मि परिणयाहिं तु ।
ण हु कस्सइ उववत्ति,
परे भवे अत्थि जीवस्स ॥ ५९ ॥

– मरण काल के, **चरिमे** – अन्तिम, **समयम्मि** – समय में, **परिणयाहिं** – परिणत हुई, **सव्वाहिं** – सभी, **लेस्साहिं** – लेश्याओं से, **हु** – निश्चय ही, **कस्सइ** – किसी भी, **जीवस्स** – जीव की, **परे भवे** – पर-भव में, **उववत्ति (उववाओ)** – उत्पत्ति, **ण अत्थि**– नहीं होती (मृत्यु के समय पर आगामी जन्म के लिए जब इस आत्मा का लेश्याओं में परिवर्तन होता है उस समय किसी भी लेश्या के प्रथम और अन्तिम समय में किसी भी जीव की उत्पत्ति नहीं होती है) ॥ ५९ ॥

अंतमुहुत्तम्मि गए, अंतमुहुत्तम्मि सेसए चेव ।
लेस्साहिं परिणयाहिं, जीवा गच्छंति परलोयं ॥



- **अंतमुहुत्तम्मि** - अन्तर्मुहूर्त्त, **गए** - बीत जाने पर, **चेव** - और, **अंतमुहुत्तम्मि** - अन्तर्मुहूर्त्त, **सेसए** - शेष रहने पर, **परिणयाहिं** - परिणत हुई, **लेस्साहिं** - लेश्याओं से सहित हो कर, **जीवा** - जीव, **परलोयं** - परलोक में, **गच्छंति** - जाते हैं ॥ ६० ॥

विवेचन - जब जीव की अन्तर्मुहूर्त्त परिमाण आयु शेष रह जाती है तब आगामी जन्म में प्राप्त होने वाली लेश्या का परिणाम उस जीव में अवश्य आ जाता है, फिर उसी लेश्या के साथ जीव परभव में उत्पन्न होता है और उत्पन्न होने के अन्तर्मुहूर्त्त तक उसी लेश्या के परिणाम रहते हैं ॥ ६० ॥

तम्हा एयासिं लेसाणं, आणुभावे वियाणिया ।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता, पसत्थाओऽहिट्ठिए मुणी॥
- त्ति बेमि ॥

- **तम्हा** - इसलिए, **एयासिं** - इन, **लेस्साणं** - लेश्याओं के, **आणुभावे** - अनुभावों (रस विशेष) को, **वियाणिया** - जान कर, **मुणी** - मुनि-साधु, **अप्पसत्थाओ** - अप्रशस्त लेश्याओं को, **वज्जित्ता** - छोड़ कर, **पसत्थाओ** - प्रशस्त लेश्याओं को, **अहिट्ठिए** - धारण करे ॥ ६१ ॥ **त्ति बेमि** - ऐसा मैं कहता हूँ ॥

विवेचन - कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या ये तीन अप्रशस्त लेश्याएँ हैं क्योंकि ये दुर्गति का कारण हैं । तेजो लेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या ये तीन शुभ लेश्याएँ हैं क्योंकि ये सुगति का कारण हैं । इन लेश्याओं के उक्त स्वरूप को जान कर अप्रशस्त (अधर्म) लेश्याओं का त्याग करें और प्रशस्त (धर्म) लेश्याओं को धारण करे ।

॥ चोत्तीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

अनगार मार्ग गति नामक पैंतीसवाँ अध्ययन

सुणेह मे एगग्गमणा, मग्गं बुद्धेहिं देसियं ।
जमायरंतो भिक्खू, दुक्खाणंतकरे भवे ॥ १ ॥

– **बुद्धेहिं** – सर्वज्ञ भगवान् द्वारा, **देसियं** – देशित-कहे हुए, **मग्गं** – मार्ग को, **मे** – मुझ से, **एगग्गमणा** – एकाग्र चित्त हो कर, **सुणेह** – सुनो, **जं** – जिसका, **आयरंतो** – आचरण करता हुआ, **भिक्खू** – भिक्षु-साधु, **दुक्खाणं** – दुःखों का, **अंतकरे** – अन्त करने वाला, **भवे** – होता है ॥ १ ॥

विवेचन – इस अध्ययन का नाम '**अनगार मार्ग गति**' है इस में 'अनगार' शब्द की टीका करते हुए लिखा है कि – अनगार शब्द को जानने के लिये पहले 'अगार' शब्द को जानना आवश्यक है ।

"अगैर्द्रुमद्दषदादिभिर्निर्वृत्तमगारम् (अगारं-गृहं) अगारं द्विविधं द्रव्यभावभेदात् । द्रव्यागारं पूर्वोक्तम्, भावागारं पुनः अगैः विपाक कालेऽपि जीवविपाकितया शरीर पुद्गलादिषु बहिः प्रवृत्तिरहितैः अनन्तानुबन्धादिभिर्निवृत्तं कषायमोहनीयम् ।"

अर्थात् – चूना, ईंट, पत्थर, लकड़ी आदि से बनाया हुआ घर द्रव्य अगार कहलाता है । अनन्तानुबन्धी आदि कषाय मोहनीय को भाव अगार कहते हैं ।

जिसने द्रव्य अगार (घर) और भाव अगार दोनों को छोड़ दिया है और दोनों की लालसा का भी त्याग कर दिया है, उसे अनगार कहते हैं । मुनिवृत्ति अंगीकार करने के बाद भी घरों की लालसा बनी रहे कि – अमुक गांव में अमुक नगर में 'अमुक शहर में मेरी मान्यता के इतने घर हैं' तो एक कवि ने कहा है –



घर एक को छोड़ कर घर घेरे चहुँ ओर ।

उठ्यो थो हरि भजन को, कीधी नरक में ठोर ॥

गृहस्थ में तो अपने एक घर की ही चिन्ता थी मुनि बनने के बाद अनेक घरों की चिन्ता मोल ले ली । अनेक घरों पर ममता और मूर्च्छा होना महापरिग्रह है । महापरिग्रह नरक का कारण है । मुनि को इस प्रकार चिन्ता नहीं करनी चाहिये ।

ठाणाङ्ग सूत्र के दूसरे ठाणे में दो प्रकार का धर्म कहा है - **अगार धम्मे चेव अणगार धम्मे चेव** । अगार अर्थात् घर में रहते हुए श्रावक व्रतों का पालन करना अगार धर्म है । कुछ लोग इसे 'आगार' धर्म कह देते हैं वह आगमानुकूल नहीं है इसलिए 'अगार धर्म' ही कहना चाहिये तब ही अनगार शब्द शुद्ध बन सकता है । जिन्होंने द्रव्य अगार और भाव अगार दोनों का त्याग कर दिया है वे अनगार कहलाते हैं । अर्थात् पांच महाव्रत पांच समिति तीन गुप्ति रूप तेरह प्रकार के चारित्र का पालन करने वाले मुनि महात्मा 'अनगार' कहलाते हैं ।

गिहवासं परिच्चज्ज, पव्वज्जामस्सिए मुणी ।

इमे संगे वियाणिज्जा, जेहिं सज्जंति माणवा ॥२॥

- **गिहवासं** - गृहस्थवास का, **परिच्चज्ज** - त्याग कर के **पव्वज्जां** - प्रव्रज्या का, **अस्सिए** - आश्रित-आश्रय लेने वाला, **मुणी** - मुनि, **इमे** - इन, **संगे** - माता-पिता पुत्र-कलत्र (स्त्री) आदि के संगों की, **जेहिं** - जिनसे, **माणवा** - मानव-मनुष्य, **सज्जंति** - आसक्तियों में फँस कर कर्म-बन्धन को प्राप्त होते हैं उन्हें, **वियाणिज्जा** - जान कर छोड़ देवे ॥ २ ॥

विवेचन - मूल में **'गिहवास'** शब्द दिया है जिसकी संस्कृत छाया 'गृहवास' करके अर्थ ऊपर दिया है । किन्तु टीकाकार ने



'गिहवास' की संस्कृत छाय 'गृहपाश' भी की है । पाश का अर्थ है - जाल, बन्धन । जाल या बन्धन में पड़ा हुआ व्यक्ति परवश हो जाता है, इसी प्रकार गृहस्थावास में रहा हुआ जीव भी परवश हो जाता है । इसलिए गृहस्थ अवस्था को 'पाश' कहा गया है ।

तहेव हिंसं अलियं, चोज्जं अबंभ-सेवणं ।
इच्छाकामं च लोभं च, संजओ परिवज्जए ॥ ३ ॥

- **हिंसं** - हिंसा, **अलियं** - अलीक-झूठ, **चोज्जं** - चौर्य-चोरी, **अबंभसेवणं**- अब्रह्मचर्य (मैथुन) सेवन, **इच्छाकामं** - अप्राप्त वस्तु की इच्छा, **तहेव, च** - और, **लोभं** - लोभ इन सभी का, **संजओ**- संयत पुरुष, **परिवज्जए** - त्याग कर देवे ॥ ३ ॥

मणोहरं चित्तघरं, मल्लधूवेण वासियं ।
सकवाडं पंडुरुल्लोयं, मणसा वि ण पत्थए ॥ ४ ॥
इंदियाणि उ भिक्खुस्स, तारिसम्मि उवस्सए ।
दुक्कराइं णिवारेउं, कामराग-विवड्ढणे ॥ ५ ॥

- **मणोहरं** - मनोहर (चित्त को आकर्षित करने वाला), **मल्लधूवेण वासियं** - माल्य और अगर-चन्दनादि धूप से वासित (सुगन्धित), **सकवाडं** - कपाट युक्त, **पंडुरुल्लोयं** - श्वेत वस्त्रों से विभूषित या चन्दवा आदि लगा कर सुसज्जित किये हुए, **चित्तघरं** - चित्रों से युक्त मकान की साधु, **मणसा वि** - मन से भी, **ण पत्थए** - इच्छा न करे क्योंकि, **कामरागविवड्ढणे** - काम-राग को बढ़ाने वाले, **तारिसम्मि** - तादृश-उपरोक्त प्रकार के, **उवसए** - उपाश्रय में, **भिक्खुस्स** - साधु के लिए, **इंदियाणि** - इन्द्रियों को, **णिवारेउं** - निवारण करना अर्थात् रोकना, **दुक्कराइं** - बड़ा कठिन है ॥ ४-५ ॥



विवेचन - मनोहर चित्रों से सुशोभित, पुष्प और अगर-चन्दनादि सुगन्धित पदार्थों से सुवासित, सुन्दर श्वेत वस्त्रों तथा चन्दवों द्वारा सुसज्जित स्थान में साधु न रहे, क्योंकि उपरोक्त प्रकार से सुसज्जित मकान में साधु को अपना इन्द्रिय-संयम रखना कठिन हो जाता है, क्योंकि उपरोक्त प्रकार का स्थान काम-राग को बढ़ाने वाला होता है। इसलिए साधु को ऐसे घर में न रहना चाहिए। कामराग की वृद्धि का कारण होने से ऐसे स्थान में रहने का साधु के लिए निषेध किया गया है, किन्तु किंवाड़ खोलने और बन्द करने का निषेध नहीं किया गया है।

बृहत्कल्प सूत्र के पहले और दूसरे उद्देशक में बतलाया गया है कि - कपाट सहित मकान न मिलने पर साधु तो खुले मकान में अथवा खुली जगह में भी रात्रि निवास कर सकता है। किन्तु साध्वियों को तो कपाट सहित बन्द मकान में ही ठहरना चाहिये। बन्द मकान में ठहरने पर रात्रि में लघुनीत आदि परठने के लिये किंवाड खोलने और बन्द करने ही पड़ते हैं इसलिये किसी एक जैन सम्प्रदाय विशेष का यह कहना कि - 'जैन साधु साध्वियों को किंवाड खोलना और बन्द करना नहीं कल्पता है' यह कहना आगम विरुद्ध है। तथा इस गाथा में किंवाड सहित मकान में उतरने का और किंवाड को खोलने और बन्द करने का निषेध नहीं किया गया है।

सुसाणे सुण्णगारे वा, रुक्खमूले व इक्कओ।
पइरिक्के परकडे वा, वासं तत्थाभिरोयए॥६॥

- **सुसाणे** - श्मशान में, **वा** - अथवा, **सुण्णगारे** - सूने घर में, **वा** - अथवा **रुक्खमूले** - वृक्ष के नीचे, **वा** - अथवा **परकडे** - परकृत (गृहस्थ ने जो अपने निज के लिए बनाया है),

✡✡

तत्थ - ऐसे, **पइरिक्के** - प्रतिरिक्त-स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित एकान्त स्थान में, **इक्कओ** - एकक-राग-द्वेष रहित हो कर साधु, **वासं अभिरोयए** - रहने की इच्छा करे अर्थात् रहे ॥ ६ ॥

फासुयम्मि अणावाहे, इत्थीहिं अणभिद्दुए ।
तत्थ संकप्पए वासं, भिक्खू परमसंजए ॥ ७ ॥

- **फासुयम्मि** - प्रासुक अर्थात् जीव रहित, **अणावाहे** - बाधा-रहित (जहाँ अपने संयम में और दूसरे लोगों को किसी प्रकार की बाधा न हो) और जो, **इत्थीहिं** - स्त्री आदि के, **अणभिद्दुए** - अनभिद्रुत-उपद्रव से रहित हो, **तत्थ** - ऐसे स्थान में, **परमसंजए** - परम संयत-श्रेष्ठ संयम वाला, **भिक्खू** - भिक्षु-साधु, **वासं संकप्पए**- रहने का संकल्प करे (ऐसे स्थान में साधु रहे) ॥ ७ ॥

ण सयं गिहाइं कुव्विज्जा, णेव अण्णेहिं कारए ।
गिह कम्मसमारंभे, भूयाणं दिस्सए वहो ॥ ८ ॥

- **सयं** - साधु स्वयं, **गिहाइं** - घर, **ण कुव्विज्जा** - न बनावे और, **णेव** - न, **अण्णेहिं** - दूसरों से, **कारए** - बनवावे और बनाने वालों की अनुमोदना भी न करे क्योंकि, **गिहकम्मसमारंभे** - घर बनाने के समारम्भ में, **भूयाणं** - भूत-प्राणियों का, **वहो** - वध (हिंसा), **दिस्सए** - दिखाई देता है ॥ ८ ॥

तसाणं थावराणं च, सुहुमाणं बादराण य ।
तम्हा गिहसमारंभं, संजओ परिवज्जए ॥ ९ ॥

- घर बनाने में, **तसाणं** - त्रस, **च** - और, **थावराणं** - स्थावर, **सुहुमाणं** - सूक्ष्म, **य** - और, **बादराण** - बादर जीवों की हिंसा होती है, **तम्हा** - इसलिए, **संजओ** - संयमी साधु, **गिहसमारंभं** - घर बनाने के समारम्भ को, **परिवज्जए** - त्याग दे ॥ ९ ॥

विवेचन - गाथा में सूक्ष्म जीवों की हिंसा का भी कथन

किया है किन्तु सूक्ष्म नामकर्म के उदय से जो जीव सूक्ष्म हैं उनकी हिंसा होती नहीं है इसलिये जिनका शरीर अत्यन्त छोटा है ऐसे कुंथुआ, लालचींटी आदि की हिंसा समझनी चाहिये अथवा भाव की अपेक्षा उन सूक्ष्म नामकर्म वाले जीवों की हिंसा समझनी चाहिये । द्रव्य से तो उन जीवों की हिंसा नहीं होती है किन्तु भाव से तो उनकी भी हिंसा हो सकती है ।

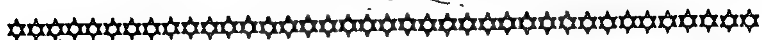
तहेव भत्तपाणेसु, पयणे पयावणेसु य ।
पाणभूयदयट्ठाए, ण पये ण पयावए ॥ १० ॥

– **तहेव** – इसी प्रकार, **भत्तपाणेसु** – भक्तपान-आहार-पानी को, **पयणे** – स्वयं पकाने में, **य** – और, **पयावणेसु** – दूसरों से पकवाने में प्राणियों की हिंसा होती है इसलिए, **पाणभूयदयट्ठाए** – प्राणी (द्वीन्द्रियादि) भूत (पृथिव्यादि जीवों की रक्षा के लिए) साधु, **ण पए** – न स्वयं पकावे, **ण पयावए** – न दूसरों से पकवावे और पकाने वालों की अनुमोदना भी न करे ॥ १० ॥

विवेचन – गाथा में प्राण, भूत ये दो शब्द दिये हैं । ये उपलक्षण है । इससे प्राण, भूत, जीव, सत्त्व इन चारों का ग्रहण हो जाता है अर्थात् यहाँ एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सभी जीवों का ग्रहण किया गया है ।

जलधण्णणिस्सिया जीवा, पुढवी-कट्ठणिस्सिया ।
हम्मंति भत्तपाणेसु, तम्हा भिक्खू ण पयावए ॥

– **भत्तपाणेसु** – भक्तपान-आहार पानी को स्वयं पकाने और पकवाने में, **जलधण्णणिस्सिया** – जल और धान्य के आश्रित और **पुढवीकट्ठणिस्सिया** – पृथ्वी और काष्ठ (ईन्धन) के आश्रित, **जीवा** – अनेक जीव, **हम्मंति** – मारे जाते हैं, **तम्हा** – इसलिए, **भिक्खू** – साधु स्वयं न पकावे, **ण पयावए** – न दूसरों से पकवावे पकवाने वालों की अनुमोदना भी न करे ॥ ११ ॥



विसप्पे सव्वओ धारे, बहुपाणि-विणासणे ।
णत्थि जोइसमे सत्थे, तम्हा जोइं ण दीवए॥ १२॥

- **सव्वओ** - सब दिशाओं में, **धारे** - शस्त्र की धारा के समान, **विसप्पे** - फैलने वाली और, **बहुपाणि विणासणे** - बहुत प्राणियों का नाश करने वाली, **जोइसमे** - ज्योति सम-अग्नि के समान, **सत्थे** - शस्त्र, **णत्थि** - दूसरा कोई नहीं है, **तम्हा** - इसलिए साधु कभी भी, **जोइं** - ज्योति-अग्नि को, **ण दीवए** - न जलावे, न दूसरों से जलवावे और जलाने वालों की अनुमोदना भी न करे ॥ १२ ॥

हिरण्णं जायरूवं च, मणसा वि ण पत्थए ।
समलेट्ठु कंचणे भिक्खू, विरए कय-विक्कए ॥

- **समलेट्ठुकंचणे** - समलोष्टकाञ्चन-मिट्टी के ढेले को और सोने को समान समझने वाला, **कयविक्कए** - क्रयविक्रय (खरीदने और बेचने) की क्रियाओं से, **विरए** - विरक्त (निवृत्त) हुआ, **भिक्खू** - भिक्षु-साधु, **हिरण्णं** - हिरण्य-सोना, **जायरूवं** - जात रूप-चाँदी, **च** - और धनधान्यादि परिग्रह को, **मणसा वि** - मन से भी, **ण पत्थए** - न चाहे ॥ १३ ॥

किणंतो कइओ होइ, विक्किणंतो य वाणिओ ।
कयविक्कयम्मि वट्टंतो, भिक्खू ण भवइ तारिसो॥

- **किणंतो** - खरीदता हुआ, **कइओ** - खरीदने वाला (ग्राहक) **होइ** - होता है, **य** - और, **विक्किणंतो** - बेचता हुआ, **वाणिओ** - वणिक् होता है, **कयविक्कयम्मि** - खरीदने और बेचने के कार्य में, **वट्टंतो** - प्रवृत्ति करता हुआ, **भिक्खू** - साधु, **तारिसो**- तादृश अर्थात् जैसा सूत्र में कहा है वैसा साधु, **ण भवइ** - नहीं होता



है अर्थात् क्रयविक्रय करने वाला साधु, भाव-साधु नहीं हो सकता, वह गृहस्थ के समान हो जाता है ॥ १४ ॥

भिक्खियव्वं ण केयव्वं,
भिक्खुणा भिक्खवित्तिणा।
कयविक्कओ महादोसो,
भिक्खावित्ती सुहावहा ॥१५॥

- **भिक्खवित्तिणा** - भिक्षावृत्ति से निर्वाह करने वाले, **भिक्खुणा** - भिक्षु को, **भिक्खियव्वं** - भिक्षा माँग कर ही अपना निर्वाह करना चाहिए किन्तु, **ण केयव्वं** - खरीद कर कोई वस्तु न लेनी चाहिए क्योंकि, **कयविक्कओ** - क्रयविक्रय करना, **महादोसो** - महादोष है और, **भिक्खावित्ती** - भिक्षावृत्ति, **सुहावहा** - इस लोक और परलोक में सुखकारी (कल्याणकारी) है ॥ १५ ॥

विवेचन - क्रय विक्रय करने में संयम की विराधना और तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा की विराधना रूप महादोष लगता है ।

समुयाणं उंछमेसिज्जा, जहासुत्तमणिंदियं ।
लाभालाभम्मि संतुट्ठे, पिंडवायं चरे मुणी ॥ १६ ॥

- **जहासुत्तं** - यथासूत्र-सूत्र के अनुसार, **अणिंदियं** - अनिन्दित घरों से, **उंछं** - थोड़ा-थोड़ा आहार लेते हुए, **समुयाणं** - समुदानी भिक्षा की, **एसिज्जा** - एषणा करे और, **लाभालाभम्मि** - लाभ और अलाभ में, **संतुट्ठे** - संतुष्ट रहता हुआ, **मुणी** - मुनि, **पिंडवायं** - पिंडपात-आहार के लिए, **चरे** - विचरे ॥ १६ ॥

विवेचन- आहारादि का लाभ होने पर हर्षित न होवे और आहारादि की प्राप्ति न होने पर खेद भी न करें । दोनों स्थितियों में समभाव पूर्वक सन्तोष करे ।



अलोले ण रसे गिद्धे, जिब्भादंते अमुच्छिए ।
ण रसट्ठाए भुंजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी ॥ १७ ॥

- **अलोले** - सरस भोजन में लोलुपता-रहित, **रसे** - रसों में, **ण गिद्धे** - गृद्धि-रहित, **जिब्भादंते** - जिह्वाइन्द्रिय को वश में रखने वाला और, **अमुच्छिए** - मूर्च्छा (आसक्ति) रहित, **महामुणी** - महामुनि, **रसट्ठाए** - रसार्थ-स्वाद के लिए अथवा शारीरिक धातुओं की वृद्धि के लिए, **ण भुंजिज्जा** - आहार न करे किन्तु, **जवणट्ठाए** - संयम रूप यात्रा के निर्वाह के लिए ही आहार करे ॥ १७ ॥

अच्चणं रयणं चेव, वंदणं पूयणं तहा ।
इड्ढिसक्कार-सम्माणं, मणसा वि ण पत्थए ॥

- **अच्चणं** - अर्चा (चन्दनादि से पूजा), **चेव** - और **रयणं** - रचना (स्वस्तिकादि की रचना) **वंदणं** - वन्दना, **तहा** - तथा, **पूयणं** - विशिष्ट वस्त्रादि देने रूप पूजा, **इड्ढिसक्कार सम्माणं** - आमर्श औषधि आदि लब्धियों की ऋद्धि, सत्कार और सम्मान को साधु, **मणसा वि** - मन से भी, **ण पत्थए** - न चाहे अर्थात् मन वचन और काया तीनों योगों से सत्कारादि की प्रार्थना (चाहना) नहीं करे ॥ १८ ॥

सुक्कज्झाणं झियाएज्जा, अणियाणे अकिंचणे ।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा, जाव कालस्स पज्जओ ॥

- **जाव** - जब तक, **कालस्स** - मृत्यु का, **पज्जओ** - पर्याय- अवसर-समय प्राप्त हो तब तक (यावज्जीवन), **अणियाणे**- अनिदान-नियाणा रहित, **अकिंचणे** - अकिञ्चन परिग्रह-रहित तथा, **वोसट्ठकाए** - व्युत्सृष्टकाय-शरीर के ममत्व भाव से भी रहित हो

कर, **सुक्कज्झाणं** - शुक्ल-ध्यान, **झियाएज्जा**- ध्यावे और, **विहरेज्जा** - अप्रतिबद्ध विहार करे ॥ १९ ॥

णिज्जूहिऊण आहारं, कालधम्मे उवट्ठिए ।
जहिऊण माणुसं बोंदिं, पहू दुक्खा विमुच्चइ ॥

- **कालधम्मे** - कालधर्म अर्थात् मृत्यु का समय, **उवट्ठिए** - उपस्थित होने पर, **आहारं** - चारों प्रकार के आहार का, **णिज्जूहिऊण** - त्याग कर के, **माणुसं** - इस मनुष्य सम्बन्धी, **बोंदिं** - बोंदि - औदारिक शरीर को, **जहिऊण** - छोड़ कर, **पहू** - प्रभु अर्थात् समर्थ मुनि, **दुक्खे** - सब दुःखों से, **विमुच्चइ** - विमुक्त हो जाता है अर्थात् छूट जाता है ॥ २० ॥

णिम्ममे णिरहंकारे, वीयरागो अणासवो ।
संपत्तो केवलं णाणं, सासयं परिणिव्वुए ॥ २१ ॥

- **णिम्ममे** - निर्मम-ममत्व-रहित, **णिरहंकारे** - निरहंकार-अहंकार-रहित, **वीयरागो** - वीतराग, **अणासवो** - अनास्रव-आस्रव रहित बना हुआ मुनि, **केवलं णाणं** - केवलज्ञान को, **संपत्तो** - प्राप्त कर के, **सासयं** - सदा के लिए, **परिणिव्वुए** - परिनिर्वृत-सुखी हो जाता (मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेता) है ॥ २१ ॥
त्ति बेमि - ऐसा मैं कहता हूँ ।

विवेचन - गाथा में सिर्फ केवलज्ञान शब्द दिया है किन्तु केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं । इसलिये यहाँ 'केवलज्ञान' शब्द से केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों का ग्रहण कर लिया गया है ।

॥ पैंतीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

जीवाजीव-विभक्ति छत्तीसवाँ अध्ययन

जीवाजीवविभत्तिं, सुणेह मे एगमणा इओ ।
जं जाणिऊण भिक्खू, सम्मं जयइ संजमे ॥ १ ॥

– श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू !, **इओ** – अब इसके आगे, **जीवा-जीवविभत्तिं**- जीवाजीवविभक्ति-जीव और अजीव के भेदों को, **मे** – मुझ से, **एगमणा**- एकाग्र चित्त हो कर, **सुणेह** – सुनो, **जं** – जिसे, **जाणिऊण** – जान कर, **भिक्खू** – भिक्षु-साधु, **सम्मं** – सम्यक् प्रकार से, **संजमे** – संयम में, **जयइ** – यतना करता है ॥ १ ॥

जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए ।
अजीव देसमागासे, अलोए से वियाहिए ॥ २ ॥

– **जीवा** – जीव, **चेव** – और, **अजीवा** – अजीव रूप, **एस** – यह, **लोए** – लोक, **वियाहिए** – कहा गया है, **य** – और **अजीवदेसं** – अजीव का एक देश, **आगासे** – आकाश (जहाँ केवल आकाश ही हो) **से** – वह, **अलोए** – अलोक, **वियाहिए** – कहा गया है ॥ २ ॥

विवेचन – अजीव का अंश, अजीव देश कहलाता है और यह अजीव देश धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों से रहित सिर्फ आकाश स्वरूप है इसी को ज्ञानी पुरुष अलोक कहते हैं । क्योंकि अलोक में सिर्फ आकाश द्रव्य ही है ।

दव्वओ खेत्तओ चेव, कालओ भावओ तहा ।
परूवणा तेसिं भवे, जीवाणमजीवाण य ॥ ३ ॥



- **तेसिं** - उन, **जीवाणं** - जीव, **य** - और, **अजीवाण** - अजीवों की, **परूवणा** - प्ररूपणा, **दव्वओ** - द्रव्य से, **खेत्तओ**- क्षेत्र से, **कालओ** - काल से, **चेव, तहा** - और, **भावओ** - भाव से, **भवे** - होती है ॥ ३ ॥

रूविणो चेव अरूवी य, अजीवा दुविहा भवे ।
अरूवी दसहा वुत्ता, रूविणो य चउव्विहा ॥ ४ ॥

- **अजीवा** - अजीव के, **दुविहा** - दो भेद हैं, **रूविणो** - रूपी, **चेव** - और, **अरूवी** - अरूपी । **अरूवी** - अरूपी, **दसहा**- दस प्रकार का कहा गया है, **य, य** - और, **रूविणो** - रूपी, **चउव्विहा** - चार प्रकार का कहा गया है ॥ ४ ॥

विवेचन - जिनमें वर्ण गन्ध रस स्पर्श पाये जाते हैं उन्हें 'रूपी' कहा जाता है और जिनमें वर्ण गंध रस स्पर्श नहीं पाये जाते उनको 'अरूपी' कहा जाता है ।

धम्मत्थिकाए तद्देसे, तप्पएसे य आहिए ।
अहम्मे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ॥ ५ ॥
आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ।
अद्धासमए चेव, अरूवी दसहा भवे ॥ ६ ॥

- **धम्मत्थिकाए** - धर्मास्तिकाय का स्कन्ध, **तद्देसे** - उसका देश, **य** - और, **तप्पएसे** - उसका प्रदेश (ये तीन भेद धर्मास्तिकाय के) **आहिए** - कहे गये हैं । **अहम्मे** - अधर्मास्तिकाय का स्कन्ध, **तस्स** - उसका, **देसे** - देश, **य, य** - और, **तप्पएसे** - उसका प्रदेश (ये तीन भेद अधर्मास्तिकाय के) **आहिए** - कहे गये हैं । **आगासे** - आकाशास्तिकाय का स्कन्ध, **तस्स** - उसका, **देसे** -



देश, **य, य** - और, **तप्पएसे** - उसका प्रदेश (ये तीन भेद आकाशास्तिकाय के) **आहिए** - कहे गये हैं, **चेव** - और, **अद्धासमए** - अद्धा समय-काल, इस प्रकार, **अरूवी** - अरूपी के, **दसहा** - दस भेद, **भवे** - होते हैं ॥५-६॥

विवेचन - १. पुद्गल और जीवों की गति में सहायक हो उसे धर्मास्तिकाय कहते हैं । जैसे मछली की गति करने में पानी सहायक होता है और रेलगाड़ी के चलने में पटरी सहायक होती है । इसी तरह जीव और पुद्गल दोनों धर्मास्तिकाय के (सहायता) आधार से चलते हैं ।

२. जो जीव और पुद्गलों को ठहरने में सहायक हो उसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं । जैसे - थके हुए मुसाफिर को छाया सहायक होती है ।

३. जो जीव और पुद्गलों को स्थान देता है उसे आकाशास्तिकाय कहते हैं । जैसे आकाश में विकास, भीत में खूँटी, दूध में पताशा का दृष्टान्त ।

४. जो जीव और पुद्गलों में नवीन नवीन पर्यायों की प्राप्ति रूप परिणमन करता है उसे काल द्रव्य कहते हैं । नये को पुराना करना और पुराने को नष्ट करना यह काल का गुण है ।

५. जिसमें ज्ञान, दर्शन रूप उपयोग हो उसे जीव द्रव्य कहते हैं । **'जीवो उवओग लक्खणो' 'उपयोगः जीवस्य लक्षणम्'**

६. जिसमें वर्ण (रूप), रस, गंध और स्पर्श पाये जाते हों । उसे पुद्गल द्रव्य कहते हैं ।

ये छह द्रव्य शाश्वत हैं । अनादि अनन्त हैं । इनमें से पांच अजीव हैं और एक जीव है । जीव द्रव्य का लक्षण चेतना है वह उपादेय है । बाकी के पांचों अजीव द्रव्य हेय-छोड़ने योग्य है।



धम्माधम्मे य दो चेव, लोगमित्ता वियाहिया ।
लोगालोगे य आगासे, समए समयखेत्तिए ॥ ७ ॥

- **धम्माधम्मे** - धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय, **दो चेव**- ये दोनों **लोगमित्ता** - लोक-परिमाण, **वियाहिया** - कहे गये हैं, **य** - और **आगासे** - आकाशास्तिकाय, **लोगालोगे** - लोकालोक (लोक और अलोक) परिमाण है और, **समए** - समय-कालद्रव्य, **समयखेत्तिए** - समयक्षेत्र (ढाई द्वीप) परिमाण है ॥ ७ ॥

विवेचन - यह जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड द्वीप और पुष्करवरद्वीप का आधा भाग इन को अढाई द्वीप कहते हैं । जम्बूद्वीप को चारों तरफ घेरे हुए लवण समुद्र है । धातकी खण्ड को चारों तरफ से घेरा हुआ कालोदधि समुद्र है । इस प्रकार दो समुद्र और अढाई द्वीप में समय की प्रवृत्ति होती है इसलिये इसे समय क्षेत्र कहते हैं । पुष्करवरद्वीप १६ लाख योजन का लम्बा और चौडा है । उसके ठीक बीचों बीच में एक पर्वत है, जिसको मानुष्योत्तर पर्वत कहते हैं । वह चारों तरफ घिरा हुआ है । उससे पुष्करवर द्वीप के दो विभाग हो गये हैं । इस प्रकार अढाई द्वीप हो गये हैं । वहीं तक मनुष्य है । मानुष्योत्तर पर्वत के आगे मनुष्य नहीं है । इसलिये दो समुद्र और अढाई द्वीप को मनुष्य क्षेत्र भी कहते हैं । इसके आगे न समय है न मनुष्य हैं ।

धम्माधम्मागासा, तिण्णि वि एए अणाइया ।
अपज्जवस्सिया चेव, सव्वद्धं तु वियाहिया ॥ ८ ॥

- **धम्माधम्मागासा** - धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, **एए** - ये, **तिण्णि वि** - तीनों, **अणाइया** - अनादि, **चेव** - और, **अपज्जवसिया** - अपर्यवसित-अनन्त हैं, **तु** -

✡✡

और, **सव्वद्धं** - सब काल में रहने वाले (शाश्वत) **वियाहिया** - कहे गये हैं (काल की अपेक्षा ये तीनों अनादि अनन्त हैं) ॥८॥

विवेचन - जिसकी आदि (प्रारम्भ) नहीं, उसे अनादि कहते हैं और जिनका कभी अन्त (समाप्ति) नहीं, उन्हें अनन्त कहते हैं।

समए वि संतइं पप्प, एवमेव वियाहिए ।
आएसं पप्प साइए, सपज्जवसिए वि य ॥ ९ ॥

- **समए** - समय-काल-द्रव्य, **वि** - भी, **संतइं** - सन्तति (प्रवाह) की, **पप्प** - अपेक्षा, **एवमेव** - इसी प्रकार (अनादि अनन्त) **वियाहिए**- कहा गया है, **य** - और **आएसं** - आदेश (किसी अमुक कार्य) की, **पप्प** - अपेक्षा, **साइए** - सादि और, **सपज्जवसिए वि** - सपर्यवसित (सान्त), **वि** - भी है ॥ ९ ॥

विवेचन - जिसकी आदि (प्रारम्भ) हो उसको सादि कहते हैं और जिसका अन्त समाप्ति भी हो उसे सान्त कहते हैं ।

खंधा य खंधदेसा य,
तप्पएसा तहेव य ।
परमाणुणो य बोद्धव्वा,
रूविणो य चउव्विहा ॥ १० ॥

- **खंधा** - स्कन्ध, **खंधदेसा** - स्कन्ध के देश, **तप्पएसा** - स्कन्ध का प्रदेश, **य, य, तहेव य, य, य,** - और, **परमाणुणो** - परमाणु पुद्गल, **चउव्विहा** - ये चार भेद, **रूविणो** - रूपी द्रव्य के, **बोद्धव्वा** - जानने चाहिए ॥ १० ॥

एगत्तेण पुहुत्तेण, खंधा य परमाणु य ।
लोएगदेसे लोए य, भइयव्वा ते उ खेत्तओ ॥ ११ ॥



- **एगत्तेण** - एकत्व-परमाणुओं के परस्पर मिलने से, **खंधा**-स्कन्ध बनता है, **य, य** - और, **पुहुत्तेण** - पृथक्-पृथक् रहने पर **परमाणु** - परमाणु कहलाता है, **खेत्तओ** - क्षेत्र की अपेक्षा, **ते** - वे, **लोएगदेसे** - लोक के एक देश में हैं, **य** - और, **लोए** - समस्त लोकव्यापी हैं, **भइयव्वा** - यहाँ भजना समझनी चाहिए ॥ ११ ॥

विवेचन - प्रश्न - परमाणु किसे कहते हैं ?

उत्तर -

'सत्थेण सुतिक्खेण वि, छित्तुं भेत्तुं च जं किर न सक्का।
तं परमाणुं सिद्धा वयंति आइम पमाणाणं ॥ १ ॥

(अनुयोगद्वार)

- अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र से भी जिसका छेदन भेदन नहीं किया जा सके उसको सिद्ध (केवलज्ञानी) परमाणु कहते हैं । वह सब प्रमाणों का आदि (प्रारम्भ) कारण है । जैसा कि कहा है -

कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्म नित्यश्च भवति परमाणुः ।
एकरसवर्णगन्धो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥ १ ॥

अर्थ - परमाणु सब स्कन्धों का अन्तिम कारण है । यह सूक्ष्म और नित्य है । इसमें एक रस, एक वर्ण, एक गंध एवं दो स्पर्श पाये जाते हैं । परमाणुओं से स्कन्ध बनते हैं । परमाणु स्कन्धों का कारण है और स्कन्ध परमाणुओं का कार्य है । इस स्कन्ध रूप कार्य से परमाणु का ज्ञान होता है । इसलिए सब स्कन्धों का अन्तिम कारण परमाणु है ।

सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा ।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥१२॥

- **सुहुमा** - सूक्ष्म, **सव्वलोगम्मि** - समस्त लोक में है, **य** -

और, **बायरा** - बादर, **लोगदेसे** - लोक के एक देश में हैं, **इत्तो** - इसके आगे, **तेसिं** - उनका, **चउव्विहं** - चार प्रकार का, **कालविभागं** - कालविभाग, **वुच्छं** - कहूँगा ॥ १२ ॥

नोट - टीकावाली प्रति में तथा जम्बूविजयजी वाली प्रति में ग्यारहवीं गाथा के छह चरण दिये हैं अर्थात् डेढ गाथा दी है, वह इस प्रकार है -

एगत्तेण पुहुत्तेणं, खंधा य परमाणु य ।
लोएगदेसे लोए य, भइयव्वा ते उ खित्तओ ।
एत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥ ११ ॥

स्वाध्याय माला में -

'सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा ।'

लिखा है किन्तु इतना अंश उपरोक्त दोनों प्रतियों में तथा श्री मधुकर जी वाली तथा पूज्य घासीलालजी म. सा. वाली प्रति में भी उपरोक्त पाठ नहीं है । तथा टीकाकार ने भी इसका अर्थ नहीं किया क्योंकि जब मूल ही नहीं दिया है तो अर्थ देवे ही कैसे ?

संतइं पप्प तेऽणाइ, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य ॥ १३ ॥

- **ते** - वे स्कन्ध और परमाणु, **संतइं** - सन्तति (प्रवाह) की, **पप्प** - प्राप्य-अपेक्षा, **अणाइ** - अनादि, **य** - और, **अपज्जवसिया** - अपर्यवसित (अनन्त) हैं, **य** - और, **ठिइं** - स्थिति की, **पडुच्च** - प्रतीत्य-अपेक्षा, **साइया** - सादि-आदि सहित-और, **सपज्जवसिया** - सपर्यवसित (सान्त-अन्त सहित) हैं ॥ १३ ॥

असंखकालमुक्कोसं, इक्कं समयं जहण्णयं ।
अजीवाण य रूवीणं, ठिई एसा वियाहिया ॥ १४ ॥



- **रूवीणं** - रूपी, **अजीवाण** - अजीवों की, **जहण्णयं** - जघन्य, **ठिई** - स्थिति, **एक्कं** - एक, **समयं** - समय, **य** - और, **उक्कोसं** - उत्कृष्ट, **असंखकालं** - असंख्यात काल है, **एसा** - यह स्थिति, **वियाहिया** - कही गई है ॥ १४ ॥

अणंतकालमुक्कोसं, इक्कं समयं जहण्णयं ।
अजीवाण य रूवीणं, अंतरेयं वियाहियं ॥ १५ ॥

- **रूवीणं** - रूपी, **अजीवाण** - अजीवों का, **जहण्णयं** - जघन्य, **अंतरेयं** - अन्तर, **इक्कं** - एक **समयं** - समय है, **य** - और, **उक्कोसं** - उत्कृष्ट, **अणंतकालं** - अनन्त काल, **वियाहियं** - कहा गया है ॥ १५ ॥

वण्णओ गंधओ चेव,
रसओ फासओ तहा ।
संठाणओ य विण्णेओ,
परिणामो तेसिं पंचहा॥ १६॥

- **वण्णओ** - वर्ण से, **गंधओ** - गन्ध से, **रसओ** - रस से, **फासओ**- स्पर्श से, **चेव, तह, य** - और, **संठाणओ** - संस्थान की अपेक्षा से, **तेसिं** - उन रूपी अजीव द्रव्यों के, **पंचहा** - पाँच प्रकार का, **परिणामो** - परिणाम, **विण्णेओ** - जानना चाहिए ॥ १६ ॥

वण्णओ परिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया ।
किण्हा णीला य लोहिया, हालिद्दा सुक्किला तहा॥

- **वण्णओ** - वर्ण से, **परिणया** - परिणत हुए, **जे** - जो रूपी अजीव हैं, **ते** - वे, **पंचहा** - पाँच प्रकार के, **पकित्तिया** - कहे गये हैं, **किण्हा** - कृष्ण-काला, **णीला** - नीला, **लोहिया** - लोहित-



लाल, **हालिद्दा** - हरिद्रा-पीला, **उ, य** - **तहा** - और, **सुक्किला** - शुक्ल-श्वेत ॥ १७ ॥

विवेचन - कृष्ण-काला-काजल की तरह । नीला - मोर की गर्दन की तरह । लोहित - लाल-हिंगलु की तरह । पीत - पीला-हल्दी के समान । शुक्ल - सफेद-शंख की तरह ।

गंधओ परिणया जे उ, दुविहा ते वियाहिया ।
सुब्भिगंध परिणामा, दुब्भिगंधा तहेव य ॥ १८ ॥

- **गंधओ** - गन्ध रूप से, **परिणया** - परिणत हुए, **जे** - जो रूपी अजीव हैं, **ते** - वे, **दुविहा** - दो प्रकार के, **वियाहिया** - कहे गये हैं, **सुब्भिगंधपरिणामा** - सुरभिगन्ध परिणाम वाले (सुगन्ध रूप) **उ, तहेव, य** - और, **दुब्भिगंधा** - दुरभिगन्ध परिणाम वाले (दुर्गन्ध रूप) ॥ १८ ॥

विवेचन - सुरभिगन्ध - चन्दन की तरह । दुरभिगन्ध - दुर्गन्ध-लहसुन कांदे की तरह ।

रसओ परिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया ।
तित्त-कडुय-कसाया, अंबिला महुरा तहा ॥ १९ ॥

- **रसओ** - रस रूप से, **परिणया** - परिणत हुए, **जे** - जो रूपी अजीव हैं, **ते** - वे, **पंचहा** - पाँच प्रकार के, **पकित्तिया**- कहे गये हैं, **तित्त** - तीखा, **कडुय** - कडुआ, **कसाया** - कषैला, **अंबिला**- आम्ल (खट्टा) **उ, तहा** - और, **महुरा** - मधुर (मीठा) ॥ १९ ॥

विवेचन - तीखा - जैसे त्रिकटुक (सुंठ, पीपर और काली-मिर्च) । कटुक - कडुआ-कडुआ तुम्बा, रोहिणी की कडवी छाल । कसाया - कषैला-आंवला-कच्चा आम-कविठ । आम्ल-खट्टा-इमली आदि । मधुर - मीठा-गुड, शक्कर आदि की तरह ।



देश विशेष की अपेक्षा इन रसों के उदाहरणों में फरक भी हो जाता है । जैसे कि - आयुर्वेद में काली मिर्च आदि को कटु तथा नीम आदि रस को तीखा कहा है ।

फासओ परिणया जे उ, अट्ठहा ते पकित्तिया ।
कक्खडा मउया चेव, गुरुया लहुया तहा ॥ २० ॥
सीया उण्हा य णिद्धा य, तहा लुक्खा य आहिया ।
इय फास-परिणया एए, पुग्गला समुदाहिया ॥२१॥

- **फासओ** - स्पर्श रूप से, **परिणया** - परिणत हुए, **जे** - जो रूपी अजीव हैं, **ते** - वे, **अट्ठहा** - आठ प्रकार के, **पकित्तिया**- कहे गये हैं, **कक्खड़ा** - कर्कश (खुरदरा) **मउया** - मृदु-कोमल (सुंआला) **गुरुया** - गुरु-भारी, **लहुया** - लघु-हलका, **सीया** - शीत-ठंडा **उण्हा** - उष्ण-गरम, **णिद्धा** - स्निग्ध (चिकना) उ, **चेव, तहा, य, य, तहा, य** - और, **लुक्खा** - रूक्ष (रूखा) **इय**- इस प्रकार, **फासपरिणया** - स्पर्श रूप से परिणत हुए, **एए** - ये, **पुग्गला** - पुद्गल, **समुदाहिया** - कहे गये हैं ॥ २०-२१ ॥

विवेचन - कर्कश - पत्थर की तरह कठोर । मृदु - फूल की तरह कोमल । गुरु - हीरे की तरह भारी । लघु - आकडा की रुई (अर्कतूल) की तरह हलका । शीत - पानी या बर्फ की तरह ठण्डा । उष्ण - अग्नि की तरह गरम । स्निग्ध - घी की तरह चिकना । रूक्ष - राख की तरह लुखा ।

संठाणओ परिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया ।
परिमंडला य वट्टा य, तंसा चउरंसमायया ॥ २२ ॥

- **संठाणओ** - संस्थान रूप से, **परिणया** - परिणत हुए, **जे** - जो रूपी अजीव हैं, **ते** - वे, **पंचहा** - पाँच प्रकार के,



पकित्तिया - कहे गये हैं । यथा, **परिमंडला** - परिमण्डल, **वट्टा** - वृत्त, **तंसा** - त्र्यस्र, **चउरंस** - चतुरस्र, **उ, य, य** - और, **आयया**- आयत (लम्बा) संस्थान वाले ॥ २२ ॥

विवेचन - अजीव के पांच संस्थान कहे गये हैं । यथा - परिमण्डल - चूडी की तरह गोल जिसके बीच में छेद हो । वृत्त- लड्डु या झालर की तरह गोल । त्र्यस्र - सिंघाडे की तरह तीन कोन वाला । चतुरस्र - चार कोने वाला बाजोट की तरह । आयत - दण्डे की तरह लम्बा । ये अजीव के पांच संस्थान हैं । जीव के तो छह संस्थान होते हैं वे इनसे भिन्न हैं ।

वण्णओ जे भवे किण्हे, भइए से उ गंधओ ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥ २३ ॥

- **वण्णओ** - वर्ण की अपेक्षा, **जे** - जो, **किण्हे** - कृष्ण- काला, **भवे** - होता है, **से** - उसकी, **गंधओ** - गन्ध की अपेक्षा, **भइए** - भजना समझनी चाहिए, **चेव** - और इसी प्रकार, **रसो** - रस की अपेक्षा, **फासओ** - स्पर्श की अपेक्षा, **उ, य** - और, **संठाणओ** - संस्थान की अपेक्षा, **वि** - भी, **भइए** - भजना समझनी चाहिए ॥ २३ ॥

विवेचन - जहाँ वर्ण है वहाँ गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की भजना है अर्थात् समुच्चय रूप से कृष्ण वर्ण के पुद्गल स्कन्ध में - २ गन्ध ५ रस, ८ स्पर्श और ५ संस्थान, इस प्रकार २० बोलों की भजना (अपेक्षित स्थिति) समझनी चाहिए ।

वण्णओ जे भवे णीले, भइए से उ गंधओ ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥ २४ ॥

- **वण्णओ** - वर्ण की अपेक्षा, **जे** - जो पुद्गल, **णीले** -

नीला, **भवे** – होता है, **से** – उसकी, **गंधओ** – गन्ध से, **रसओ** – रस से, **फासओ** – स्पर्श से, **उ, चेव, य** – और, **संठाणओ** – संस्थान से, **वि** – भी, **भइए, भइए** – भजना समझनी चाहिए (उसमें २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ संस्थान इस प्रकार २० बोलों की भजना समझनी चाहिए) ॥ २४ ॥

वण्णओ लोहिए जे उ, भइए से उ गंधओ ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥ २५ ॥

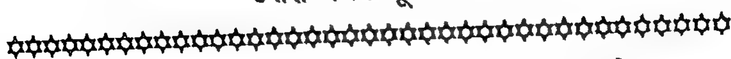
– **वण्णओ** – वर्ण की अपेक्षा, **जे** – जो पुद्‍गल, **लोहिए** – लोहित–लाल है, **से** – उसकी, **गंधओ** – गन्ध से, **रसओ** – रस से, **फासओ** – स्पर्श से, **उ, उ, चेव, य** – और, **संठाणओ** – संस्थान से, **वि** – भी, **भइए, भइए** – भजना समझनी चाहिए ॥२५॥

वण्णओ पीयए जे उ, भइए से उ गंधओ ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥ २६ ॥

– **वण्णओ** – वर्ण की अपेक्षा, **जे** – जो पुद्‍गल, **पीयए** – पीला है, **से** – उसकी, **गंधओ** – गन्ध से, **रसओ** – रस से, **फासओ** – स्पर्श से, **उ, उ, चेव, य** – और, **संठाणओ** – संस्थान से, **वि** – भी **भइए, भइए** – भजना समझनी चाहिए ॥ २६ ॥

वण्णओ सुक्किले जे उ, भइए से उ गंधओ ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥ २७ ॥

– **वण्णओ** – वर्ण की अपेक्षा, **जे** – जो पुद्‍गल, **सुक्किले**– शुक्ल (श्वेत) है, **से** – उसकी, **गंधओ** – गन्ध से, **रसओ** – रस से, **ओ** – स्पर्श से, **उ, उ, चेव, य** – और, **संटाणओ** – संस्थान से, **वि** – भी, **भइए, भइए** – भजना समझनी चाहिए ॥ २७ ॥



गंधओ जे भवे सुब्भी, भइए से उ वण्णओ ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥ २८ ॥

- **गंधओ** - गन्ध की अपेक्षा, **जे** - जो पुद्गल, **सुब्भी** - सुरभि-सुगन्ध वाला, **भवे** - होता है, **से** - उसकी, **वण्णओ** - वर्ण से, **रसओ** - रस से, **फासओ** - स्पर्श से, **उ**, **चेव**, **य** - और, **संठाणओ** - संस्थान से, **वि** - भी, **भइए**, **भइए** - भजना समझनी चाहिए अर्थात् सुगन्ध वाले पुद्गल में पाँच वर्ण, पाँच रस, आठ स्पर्श और ५ संस्थान इन २३ बोलों की भजना है ॥ २८ ॥

गंधओ जे भवे दुब्भी, भइए से उ वण्णओ ।
रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥ २९ ॥

- **गंधओ** - गन्ध की अपेक्षा, **जे** - जो पुद्गल, **दुब्भी** - दुरभि-दुर्गन्ध वाला, **भवे** - होता है, **से** - उसकी, **वण्णओ** - वर्ण से, **रसओ** - रस, **फासओ** - स्पर्श, **उ**, **चेव**, **य** - और **संठाणओ** - संस्थान से, **वि** - भी, **भइए**, **भइए** - भजना समझनी चाहिए अर्थात् दुर्गन्ध वाले पुद्गल में पाँच रस, आठ स्पर्श और पाँच संस्थान इन २३ बोलों की भजना है ॥ २९ ॥

रसओ तित्तए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥ ३० ॥

- **रसओ** - रस की अपेक्षा, **जे** - जो पुद्गल **तित्तए** - तिक्त-तीखा है, **से** - उसकी, **वण्णओ** - वर्ण से, **गंधओ** - गन्ध से, **फासओ**- स्पर्श से, **उ**, **उ**, **चेव**, **य** - और, **संठाणओ** - संस्थान से, **वि** - भी, **भइए भइए** - भजना समझनी चाएि अर्थात् पाँच वर्ण दो गन्ध आठ स्पर्श और पाँच संस्थान, इन २० बोलों की भजना है ॥ ३० ॥



रसओ कडुए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥३१॥

– **रसओ** – रस की अपेक्षा, **जे** – जो पुद्गल, **कडुए** – कटुक-कडुआ है, **से** – उसकी, **वण्णओ** – वर्ण से, **गंधओ** – गन्ध से, **फासओ** – स्पर्श से, **उ, उ, चेव, य** – और, **संठाणओ** – संस्थान से, **वि** – भी, **भइए भइए** – भजना समझनी चाहिए ॥ ३१ ॥

रसओ कसाए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥३२॥

– **रसओ** – रस की अपेक्षा, **जे** – जो पुद्गल, **कसाए** – कषैला है, **से** – उसकी, **वण्णओ** – वर्ण से, **गंधओ** – गन्ध से, **फासओ**– स्पर्श से, **उ, उ, चेव, य** – और, **संठाणओ** – संस्थान से, **वि** – भी, **भइए भइए** – भजना समझनी चाहिए ॥ ३२ ॥

रसओ अंबिले जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥३३॥

– **रसओ** – रस की अपेक्षा, **जे** – जो पुद्गल, **अंबिले** – अम्ल (खट्टा) है, **से** – उसकी, **वण्णओ** – वर्ण से, **गंधओ** – गन्ध से, **फासओ** – स्पर्श से, **उ, उ, चेव, य** – और, **संठाणओ** – संस्थान से, **वि** – भी, **भइए, भइए** – भजना समझनी चाहिए ॥ ३३ ॥

रसओ महुरए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥३४॥

– **रसओ** – रस की अपेक्षा, **जे** – जो पुद्गल, **महुरए** – मधुर है, **से** – उसकी, **वण्णओ** – वर्ण से, **गंधओ** – गन्ध से, **फासओ** – स्पर्श से, **उ, उ, चेव, य** – और, **संठाणओ** – संस्थान से, **वि** – भी. **भइए, भइए** – भजना समझनी चाहिए ॥ ३४ ॥



फासओ कक्खडे जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥ ३५ ॥

- **फासओ** - स्पर्श की अपेक्षा, **जे** - जो पुद्‌गल, **कक्खडे**- कर्कश (कठोर) स्पर्श वाला है, **से** - उसकी, **वण्णओ** - वर्ण से, **गंधओ** - गन्ध से, **रसओ** - रस से, **उ, उ, चेव, य** - और, **संठाणओ** - संस्थान से, **वि** - भी, **भइए, भइए** - भजना समझनी चाहिए अर्थात् पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस और पाँच संस्थान, इन १७ बोलों की भजना समझनी चाहिए । जहाँ ६ स्पर्शों की विवक्षा की गई है वहाँ २३ बोलों की भजना समझनी चाहिए ॥ ३५ ॥

फासओ मउए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥ ३६ ॥

- **फासओ** - स्पर्श की अपेक्षा, **जे** - जो पुद्‌गल, **मउए** - मृदु (कोमल) स्पर्श वाला है, **से** - उसकी, **वण्णओ** - वर्ण से, **गंधओ**- गन्ध से, **रसओ** - रस से, **उ, उ, चेव, य** - और, **संठाणओ** - संस्थान से, **वि** - भी, **भइए** - भजना समझनी चाहिए ॥ ३६ ॥

फासओ गुरुए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥ ३७ ॥

- **फासओ** - स्पर्श की अपेक्षा, **जे** - जो पुद्‌गल, **गुरुए** - गुरु (भारी) स्पर्श वाला है, **से** - उसकी, **वण्णओ** - वर्ण से, **गंधओ**- गन्ध से, **रसओ** - रस से, **उ, उ, चेव, य** - और, **संठाणओ** - संस्थान से, **वि** - भी, **भइए भइए** - भजना समझनी चाहिए ॥ ३७ ॥

फासओ लहुए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥ ३८ ॥

☆☆

– **फासओ** – स्पर्श की अपेक्षा, **जे** – जो पुद्गल, **लहुए** – लघु हलका है, **से** – उसकी, **वण्णओ** – वर्ण से, **गंधओ** – गंध से, **रसओ** – रस से, **उ**, **उ**, **चेव**, **य** – और, **संठाणओ** – संस्थान से, **वि** – भी, **भइए भइए** – भजना समझनी चाहिए ॥ ३८ ॥

फासओ सीयए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥ ३९ ॥

– **फासओ** – स्पर्श की अपेक्षा, **जे** – जो पुद्गल **सीयए** – शीतल है, **से** – उसकी, **वण्णओ** – वर्ण से, **गंधओ** – गन्ध से, **रसओ** – रस, **उ**, **उ**, **चेव**, **य** – और, **संठाणओ**– संस्थान से, **वि** – भी, **भइए भइए** – भजना समझनी चाहिए ॥ ३९ ॥

फासओ उण्हए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥ ४० ॥

– **फासओ** – स्पर्श की अपेक्षा, **जे** – जो पुद्गल, **उण्हए** – उष्ण है, **से** – उसकी, **वण्णओ** – वर्ण से, **गंधओ** – गन्ध से, **रसओ** – रस से, **उ**, **उ**, **चेव**, **य** – और, **संठाणओ** – संस्थान से, **वि** – भी, **भइए भइए** – भजना समझनी चाहिए ॥ ४० ॥

फासओ णिद्धए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओ वि य ॥ ४१ ॥

– **फासओ** – स्पर्श की अपेक्षा, **जे** – जो पुद्गल, **णिद्धए** – स्निग्ध (चिकना) है, **से** – उसकी, **वण्णओ** – वर्ण से, **गंधओ** – गन्ध से, **रसओ** – रस से, **उ**, **उ**, **चेव**, **य** – और, **संठाणओ** – संस्थान से, **वि** – भी, **भइए, भइए** – भजना समझनी चाहिए ॥ ४१ ॥

फासओ लुक्खए जे उ, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसो चेव, भइए संठाणओ वि य ॥ ४२ ॥



– **फासओ** – स्पर्श की अपेक्षा, **जे** – जो पुद्गल, **लुक्खए** – रूक्ष स्पर्श वाला है, **से** – उसकी, **वण्णओ** – वर्ण से, **गंधओ** – गन्ध से, **रसओ** – रस से, **उ, उ, चेव, य** – और, **संठाणओ** – संस्थान से, **वि** – भी, **भइए, भइए** – भजना समझनी चाहिए, इस प्रकार स्पर्श के कुल १३६ भेद होते हैं ॥ ४२ ॥

विवेचन – यहाँ पर स्पर्श के १३६ भेद ही दिये हैं किन्तु आठ स्पर्श में से दो स्पर्श ही विरोधी होते हैं । इस अपेक्षा से एक स्पर्श के २३ भेद लेना चाहिये । वैसा लेने से स्पर्श के २३×८ = १८४ भेद होते हैं ।

परिमंडल-संठाणे, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओ वि य ॥ ४३ ॥

– **परिमंडल संठाणे** – परिमण्डल संस्थान वाले, **से** – पुद्गल-स्कन्ध में, **वण्णओ** – वर्ण से, **गंधओ** – गन्ध से, **रसओ** – रस से, **उ, उ, चेव, य** – और, **फासओ** – स्पर्श से, **वि** – भी, **भइए, भइए**- भजना समझनी चाहिए अर्थात् पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस और आठ स्पर्श-इन बीस बोलों की भजना होती है ॥ ४३ ॥

संठाणओ भवे वट्टे, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओ वि य ॥ ४४ ॥

– **संठाणओ** – संस्थान की अपेक्षा जो पुद्गल, **वट्टे** – वृत्ताकार (गोलाकार) **भवे** – होता है, **से** – उसकी, **वण्णओ** – वर्ण से, **गंधओ** – गन्ध से, **रसओ** – रस से, **उ, उ, चेव, य** – और, **फासओ** – स्पर्श से, **वि** – भी, **भइए, भइए** – भजना समझनी चाहिए ॥ ४४ ॥

संठाणओ भवे तंसे, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओ वि य ॥ ४५ ॥



- **संठाणओ** - संस्थान की अपेक्षा जो पुद्गल, **तंसे** - त्र्यस्र (त्रिकोण) **भवे** - होता है, **से** - उसकी, **वण्णओ** - वर्ण से, **गंधओ** - गंध से, **रसओ** - रस से, **उ, उ, चेव, य** - और, **फासओ**- स्पर्श से, **वि** - भी, **भइए, भइए** - भजना समझनी चाहिए ॥४५ ॥

संठाणओ जे चउरंसे, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओ वि य ॥ ४६ ॥

- **संठाणओ** - संस्थान की अपेक्षा, **जे** - जो पुद्गल, **चउरंसे** - चतुरस्र (चतुष्कोण) होता है, **से** - उसकी, **वण्णओ** - वर्ण से, **गंधओ** - गन्ध से, **रसओ** - रस से, **उ, उ, चेव, य** - और, **फासओ** - स्पर्श से, **वि** - भी, **भइए, भइए** - भजना समझनी चाहिए ॥ ४६ ॥

जे आययसंठाणे, भइए से उ वण्णओ ।
गंधओ रसओ चेव, भइए फासओ वि य ॥ ४७ ॥

- **जे** - जो पुद्गल-स्कन्ध, **आययसंठाणे** - आयत संस्थान वाला है, **से** - उसकी, **वण्णओ** - वर्ण से, **गंधओ** - गन्ध से, **रसओ** - रस से, **उ, उ, चेव, य** - और, **फासओ** - स्पर्श से, **वि** - भी, **भइए, भइए** - भजना समझनी चाहिए ॥ ४७ ॥

विवेचन - वर्ण के १००, गन्ध के ४६, रस के १००, स्पर्श के १३६ और संस्थान के १००, कुल मिलाकर ४८२ भेद होते हैं । किन्तु पन्नवणा सूत्र की वृत्ति में ५३० भेद बतलाये हैं । वहाँ पर प्रत्येक स्पर्श के २३ भेद माने गये हैं, तब आठ स्पर्शों के १८४ भेद होते हैं । इस प्रकार ५३० भेद बन जाते हैं ।

एसा अजीव-विभत्ती, समासेण वियाहिया ।
इत्तो जीवविभत्तिं, वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥ ४८ ॥



– **एसा** – यह, **अजीवविभत्ती** – अजीव-विभक्ति (विभाग) **समासेण** – संक्षेप से, **वियाहिया** – कहा गया है, **इत्तो** – इसके आगे, **अणुपुव्वसो** – अनुपूर्व-क्रमपूर्वक, **जीवविभत्तिं** – जीव-विभक्ति (जीव द्रव्य का विभाग) **वुच्छामि** – कहूँगा ॥ ४८ ॥

संसारत्था य सिद्धा य, दुविहा जीवा वियाहिया ।
सिद्धा णेगविहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण ॥४९॥

– **जीवा** – जीव, **दुविहा** – दो प्रकार के, **वियाहिया** – कहे गये हैं, **संसारत्था** – संसारस्थ-संसारी, **य, य** – और, **सिद्धा**-सिद्ध। **सिद्धा** – सिद्ध, **अणेगविहा** – अनेक प्रकार के, **वुत्ता** – कहे गये हैं । **तं** – उनका, **कित्तयओ** – कीर्तन-वर्णन किया जाता है, अतः तुम, **मे** – मुझ से, **सुण** – सुनो ॥ ४९ ॥

इत्थी-पुरिस-सिद्धा य, तहेव य णपुंसगा ।
सलिंगे अण्णलिंगे य, गिहिलिंगे तहेव य ॥५०॥

– **इत्थीपुरिस सिद्धा** – स्त्रीलिंग-सिद्ध, पुरुषलिंग-सिद्ध, **णपुंसगा** – नपुंसकलिंग सिद्ध, **सलिंगे** – स्वलिंगसिद्ध, **अण्णलिंगे** – अन्यलिंग-सिद्ध, **गिहिलिंगे** – गृहस्थ-लिंग सिद्ध, **य, तहेव, य, य, तहेव य** – और तीर्थसिद्ध अतीर्थसिद्ध आदि सिद्धों के भेद हैं ॥ ५० ॥

विवेचन – दिगम्बर सम्प्रदाय स्त्री को मुक्ति नहीं मानती किन्तु श्वेताम्बर आगमों में स्त्री को मुक्ति होने का स्पष्ट वर्णन है । जैसा कि यहाँ बतलाया गया है । गृहस्थ वेश में रहते हुए या अन्य मतावलम्बियों के वेश में रहते हुए किसी साधु साध्वी का सम्पर्क होने पर या जातिस्मरण ज्ञान होने से पूर्वभव को देखने पर केवली प्ररूपित धर्म पर श्रद्धा दृढ होकर भाव चारित्र की प्राप्ति हो

जाय और क्षपक श्रेणि पर चढ कर केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाय और उसी समय आयुष्य भी समाप्त हो जाय, वेश परिवर्तन करने जितना समय न रहे तो उसी वेश में सिद्ध हो सकता है । जैसे कि - मरुदेवी माता तथा वल्कल चीरी (अन्यलिंग सिद्ध) । गृहस्थ लिंग या अन्य लिंग में केवलज्ञान हो जाय और आयुष्य शेष रहे तो उस वेश को छोड़ कर स्वलिंग अवश्य धारण करते हैं जैसे - भरत चक्रवर्ती ।

उक्कोसोगाहणाए य, जहण्णमज्झिमाइ य ।
उड्ढं अहे य तिरियं च, समुद्दम्मि जलम्मि य ॥५१॥

- **जहण्णमज्झिमाइ** - जघन्य, मध्यम, **य** - और, **उक्कोसोगाहणाए** - उत्कृष्ट प्रकार की अवगाहना में सिद्ध हो सकते हैं । **उड्ढं** - ऊर्ध्वलोक में (मेरु चूलिका आदि पर) **अहे** - अधोलोक, **य** - और, **तिरियं** - तिर्यग्लोक में, **य** - तथा, **समुद्दम्मि** - समुद्र में, **च, य** - और, **जलम्मि** - जलाशय में सिद्ध हो सकते हैं ॥५१ ॥

विवेचन - प्रतिक्रमण की पुस्तक में सिद्धों के पन्द्रह भेद और चौदह प्रकार का कथन आता है । पन्द्रह भेदों के नाम तो (तीर्थसिद्ध आदि) गिना दिये हैं किन्तु वहाँ १४ प्रकार नहीं बताये गये हैं । वे चौदह प्रकार यहाँ दो गाथाओं में बतलाये गये हैं ।

छह प्रकार पचासवीं गाथा में बतलाये गये हैं, शेष आठ प्रकार ५१ वीं गाथा में बतलाये गये हैं - व्यक्तिशः विभाग को भेद कहते हैं । त्तरीका, रीति को प्रकार कहते हैं ।

दस य णपुंसएसुं, बीसं इत्थियासु य ।
पुरिसेसु य अट्ठसयं, समएणेगेण सिज्झइ ॥५२॥



– **णपुंसएसुं** – नपुंसक–लिंग में, **दस** – दस, **इत्थियासु** स्त्रीलिंग में, **बीसं** – बीस, **य, य, य** – और, **पुरिसेसु** पुरुषलिंग में, **अट्ठसयं** – एक सौ आठ, **एगेण** – एक, **समएण** समय में, **सिज्झइ** – सिद्ध हो सकते हैं ॥५२ ॥

चत्तारि य गिहिलिंगे, अण्णलिंगे दसेव य ।
सलिंगेण अट्ठसयं, समएणेगेण सिज्झइ ॥५३ ॥

– **गिहिलिंगे** – गृहस्थ–लिंग में, **चत्तारि** – चार, **अण्णलिंगे**– अन्य–लिंग में, **दसेव** – दस, **य, य** – और, **सलिंगेण** – स्वलिंग से, **अट्ठसयं** – एक सौ आठ, **एगेण** – एक, **समएण** – समय में, **सिज्झइ** – सिद्ध हो सकते हैं ॥५३ ॥

उक्कोस्सोगाहणाए य, सिज्झंते जुगवं दुवे ।
चत्तारि जहण्णाए, जवमज्झट्ठुत्तरं सयं ॥५४ ॥

– **उक्कोसोगाहणाए** – उत्कृष्ट अवगाहना से, **दुवे** – दो, **जहण्णाए** – जघन्य अवगाहना से, **चत्तारि** – चार, **य** – और, **जवमज्झ** – जवमध्य (मध्यम) अवगाहना में, **अट्ठुत्तरंसयं** – एक सौ आठ, **जुगवं** – युगपत–एक समय में एक साथ, **सिज्झंते (सिज्झंति)** – सिद्ध हो सकते हैं ॥५४ ॥

चउरुड्ढलोए य दुवे समुद्दे,
तओ जले वीसमहे तहेव य ।
सयं च अट्ठुत्तरं तिरिय लोए,
समएणेगेण सिज्झइ धुवं ॥ ५५ ॥

– **उड्ढलोए** – ऊर्ध्वलोक में (मेरु चूलिका आदि पर) **चउर**– चार, **समुद्दे** – समुद्र से, **दुवे** – दो, **जले** – नदी जलाशय आदि के

जल में, **तओ** - तीन, **अहे** - अधोलोक में, **वीसं** - बीस, **य, तहेव य, च** - और, **तिरियलोए** - तिर्यग्लोक में, **अट्ठुत्तरं सयं** - एक सौ आठ, **एगेण** - एक, **समएण** - समय में, **धुवं** - निश्चय ही, **सिज्झइ (सिज्झंति)** - सिद्ध हो सकते हैं ॥ ५५ ॥

कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया ।
कहिं बोंदिं चइत्ताणं, कत्थ गंतूण सिज्झइ ॥ ५६ ॥

- **सिद्धा** - सिद्ध ऊपर जा कर, **कहिं** - कहाँ, **पडिहया** - प्रतिहत-रुके हैं ? **सिद्धा** - सिद्ध, **कहिं** - कहाँ, **पइट्ठिया** - प्रतिष्ठित-स्थित हैं और, **कहिं** - कहाँ, **बोंदिं** - शरीर को, **चइत्ताणं**- छोड़ कर, **कत्थ** - कहाँ जा कर, **सिज्झइ** - सिद्ध होते हैं ? ॥ ५६ ॥

अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया ।
इहं बोंदिं चइत्ताणं, तत्थ गंतूण सिज्झइ ॥ ५७ ॥

- **सिद्धा** - सिद्ध, **अलोए** - अलोक में (लोक के अन्त तक) पहुँच कर, **पडिहया** - प्रतिहत-रुके हैं, **य** - और, **लोयग्गे**- लोक के अग्रभाग में, **पइठिया** - प्रतिष्ठित-स्थित हैं, **इहं** - इस तिर्यग्लोक में, **बोंदिं**- शरीर को, **चइत्ताणं** - छोड़ कर, **तत्थ** - लोक के अग्रभाग में, **गंतूण** - जा कर, **सिज्झइ** - सिद्ध होते हैं ॥ ५७ ॥

विवेचन - अलोक में सिर्फ आकाशास्तिकाय है । गति सहायक धर्मास्तिकाय नहीं है । इसलिये सिद्ध भगवन्तों की गति अलोक में नहीं हो सकती है ।

बारसहिं जोयणेहिं, सव्वट्ठस्सुवरिं भवे ।
ईसिपब्भार-णामा उ, पुढवी छत्त-संठिया ॥ ५८ ॥

- **सव्वट्ठस्स** - सर्वार्थसिद्ध विमान के, **बारसहिं** - बारह,



जोयणेहिं - योजन, **उवरिं** - ऊपर, **छत्तसंठिया** - उत्तान छत्र के आकार की, **ईसिपब्भार णामा** - ईषत्प्राग्भारा नाम वाली, **पुढवी** - पृथ्वी, **भवे** - है ॥५८ ॥

पणयालसयसहस्सा, जोयणाणं तु आयया ।
तावइयं चेव वित्थिण्णा, तिगुणो साहिय परिरओ ॥

- वह ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी, **जोयणाणं पणयालसयसहस्सा**- पैंतालीस लाख योजन, **आयया** - लम्बी है, **तु, चेव** - और, **तावइयं** - उतनी ही अर्थात् पैंतालीस लाख योजन ही, **वित्थिण्णा** - विस्तीर्ण (चौड़ी) है और, **परिरओ** - उसकी परिधि, **तिगुणोसाहिय** - कुछ अधिक तीन गुणी है अर्थात् एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनपचास (१४२३०२४९) योजन की परिधि है । जैसा कि कहा है - ॥५९ ॥

एगा जोयण कोडी, बायालीसं भवे सयसहस्सा ।
तीसा चेव सहस्सा, दो चेव सया अउणपन्ना ॥ १ ॥

थोकड़े वाले प्रश्न करते हैं कि - "चार पेंताला और चार लक्खा कौन से हैं ?"

उत्तर - इस लोक में चार वस्तुयें पैंतालीस लाख योजन लम्बी और ४५ लाख योजन चौड़ी हैं । यथा - १. पहली नरक का पहला पाथडा (प्रस्तट) सीमन्तक नाम वाला । २. समय क्षेत्र (मनुष्य लोक, ढाई द्वीप दो समुद्र) ३. पहले सुधर्म देवलोक का उडु विमान ४. ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी (सिद्ध शिला) । इस लोक में एक लाख लम्बा और एक लाख ही चौड़ा ऐसे चार पदार्थ हैं यथा - १. सातवीं नरक का अप्रतिष्ठान नामक नरकावास २. जम्बूद्वीप ३. पहले सुधर्मनामक देवलोक का पालक यान विमान ४. सर्वार्थ सिद्ध देवलोक ।



अट्ठजोयण-बाहल्ला, सा मज्झम्मि वियाहिया।
परिहायंती चरिमंते, मच्छिपत्ताउ तणुयरी ॥६०॥

- **सा** - वह सिद्धशिला, **मज्झम्मि** - मध्य में, **अट्ठजोयण बाहल्ला** - आठ योजन मोटी **वियाहिया** - कही गई है और, **परिहायंती** - चारों ओर से कम होती हुई, **चरिमंते** - अन्त में, **मच्छिपत्ताउ** - मक्खी के पंख से भी, **तणुयरी** - तनुतरी-पतली हो गई है ॥६० ॥

अज्जुणसुवण्णगमई, सा पुढवी णिम्मला सहावेणं।
उत्ताणगच्छत्तयसंठिया य, भणिया जिणवरेहिं ॥

-**सा** - वह, **पुढवी** - ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी, **अज्जुण-सुवण्णगमई** - अर्जुनसुवर्णकमयी-श्वेत सोनेमयी है और, **सहावेणं** - स्वभाव से ही, **णिम्मला** - निर्मल हैं, **य** - और, **उत्ताणगच्छत्तयसंठिया** - उत्तान (ऊपर मुख वाले) छत्र के समान है । इस प्रकार, **जिणवरेहिं**- जिनेन्द्रों द्वारा **भणिया** - कही गई है ॥६१ ॥

विवेचन - सोने का रंग प्रायः पीला होता है किन्तु अर्जुन सोना चांदी से भी विशेष सफेद और चमकदार होता है । वह पीले सोने की अपेक्षा दुगुनी तिगुनी कीमत वाला होता है । उसके आभूषणों में हीरा पन्ना माणक आदि जड़े जाते हैं ।

संखंककुंदसंकासा, पंडुरा णिम्मला सुहा ।
सीयाए जोयणे तत्तो, लोयंतो उ वियाहिओ ॥६२॥

- वह, **संखंककुंदसंकासा** - शंख, अंकरत्न और कुन्द फूल के समान, **पंडुरा** - पाण्डुरा-श्वेत, **णिम्मला** - निर्मल और शुभ्र है । **तत्तो** - उस, **सीयाए** - सीता (ईषत्प्राग्भारा) पृथ्वी से, **जोयणे**-



एक योजन ऊपर, **लोयंतो** - लोक का अन्त, **वियाहिओ** - कहा गया है ॥ ६२ ॥

विवेचन - ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के बारह पर्यायवाची नाम हैं यथा-१. ईषत् २. ईषत्प्राग्भारा ३. तन्वी ४. तनुतरा ५. सिद्धि ६. सिद्धालय ७. मुक्ति ८. मुक्तालय ९. ब्रह्म १०. ब्रह्मावतंसक ११. लोक प्रतिपूर्ण १२. लोकाग्र चूलिका (समवायाङ्ग १२)। गाथा में 'सीता' शब्द दिया है। सीता (सित) का अर्थ सफेद होता है। ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी का रंग सफेद है। इसलिये उसको 'सीता' कह दिया है ।

जोयणस्स उ जो तत्थ, कोसो उवरिमो भवे ।
तस्स कोसस्स छब्भाए, सिद्धाणोगाहणा भवे ॥६३ ॥

- **तत्थ** - वहाँ, **जोयणस्स** - योजन का, **जो** - जो, **उवरिमो**- ऊपर वाला, **कोसो** - कोस, **भवे** - है, **तस्स** - उस, **कोसस्स** - कोस के, **छब्भाए** - छठे भाग में, **सिद्धाणोगाहणा** - सिद्धों की अवगाहना (अवस्थिति) **भवे** - है ॥ ६३ ॥

विवेचन - सब शाश्वत वस्तुओं का परिमाण प्रमाण अंगुल से बतलाया गया है । किन्तु जो यहाँ पर बतलाया गया है कि - ईषतप्राग्भारा पृथ्वी से एक योजन ऊपर लोक का अन्त होता है । यह ऊपर का एक योजन उत्सेधांगुल से लेना चाहिये । उस योजन के (चार कोस का एक योजन) ऊपर के कोस के छठे भाग में सिद्ध भगवन्तों का अवस्थान है । चार गति के जीवों की अवगाहना उत्सेधांगुल से बताई गई है । मनुष्यों की उत्कृष्ट अवगाहना वाले अर्थात् ५०० धनुष्य वाले सिद्ध हो सकते हैं । उन ५०० धनुष्य वालों की अवगाहना सिद्ध अवस्था में ३३३ धनुष्य और ३२ अङ्गुल (एक हाथ आठ अङ्गुल) ही होती है । यह सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना है । इसलिये ऊपर के एक योजन का परिमाण

उत्सेध अङ्गुल से लेने पर यह सिद्धों की अवगाहना ठीक बैठ सकती है । उत्सेध अङ्गुल से प्रमाण अङ्गुल १००० गुणा बड़ा होता है । चौबीस अंगुलों का एक हाथ होता है । चार हाथ का एक धनुष होता है । दो हजार धनुष का एक कोस होता है । इसका छठा भाग ३२ अंगुल युक्त ३३३ धनुष होता है । इतनी जगह में सिद्धों का निवास है ।

तत्थ सिद्धा महाभागा, लोगग्गम्मि पइट्ठिया ।
भवप्पपंचओ मुक्का, सिद्धिं वरगइं गया ॥६४॥

- **भवप्पपंचओ** - संसार के प्रपंच से, **मुक्का** - मुक्त, **सिद्धिं** - सिद्धिरूप, **वरगइं** - वरगति-श्रेष्ठ गति को, **गया** - प्राप्त हुए, **महाभागा** - महा भाग्यशाली, **सिद्धा** - सिद्ध भगवान् **तत्थ** - वहाँ, **लोगग्गम्मि** - लोक के अग्रभाग पर, **पइट्ठिया** - प्रतिष्ठित-विराजमान हैं ॥

उस्सेहो जस्स जो होइ, भवम्मि चरिमम्मि उ ।
तिभागहीणा तत्तो य, सिद्धाणोगाहणा भवे ॥६५॥

- **जस्स** - जिन जीवों की, **चरिमम्मि** - चरम-अन्तिम, **भवम्मि** - भव में, **जो** - जितनी, **उस्सेहो** - उत्सेध-ऊँचाई, **होइ** - होती है, **तत्तो** - उससे, **तिभागहीणा** - तीन भाग कम, **सिद्धाणोगाहणा** - सिद्धों की अवगाहना, **भवे** - होती है ॥ ६५॥

विवेचन - पांच सौ धनुष्य से अधिक की अवगाहना वाले मनुष्य सिद्ध नहीं हो सकते हैं किन्तु उत्कृष्ट ५०० धनुष्य के अवगाहना वाले तथा जघन्य दो हाथ की अवगाहना वाले मनुष्य सिद्ध हो सकते हैं । तीर्थङ्कर भगवन्तों की जघन्य अवगाहना सात हाथ की होती है । इससे कम नहीं । जिस भव में जीव सिद्ध



होता है उसकी जितनी अवगाहना होती है उसके तीन विभाग करने पर सिद्ध की अवगाहना दो भाग रहती है एक भाग कम हो जाती है । इस हिसाब से सामान्द केवली (दो हाथ की अवगाहना वाले) की सिद्ध अवस्था में १ हाथ आठ अङ्गुल अवगाहना रह जाती है । यह सिद्ध की अवगाहना सामान्य केवली की अपेक्षा जघन्य है । तीर्थङ्कर भगवन्तों की अपेक्षा सिद्ध भगवन्तों की अवगाहना चार हाथ सोलह अङ्गुल रह जाती है । यह तीर्थङ्करों की अपेक्षा सिद्धों की जघन्य अवगाहना है । उत्कृष्ट पांच सौ धनुष्य वालों की अपेक्षा सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना तीन सौ तेतीस धनुष्य बत्तीस अङ्गुल (एक हाथ आठ अङ्गुल) रह जाती है। इस प्रकार सिद्धों की जघन्य अवगाहना दो प्रकार की उत्कृष्ट अवगाहना एक प्रकार की कहनी चाहिये । इसके बीच की जितनी अवगाहना है वे सब मध्यम अवगाहना है। इसलिये मध्यम अवगाहना एक प्रकार की नहीं कहनी चाहिये । जैसे कि - भगवान् पार्श्वनाथ की अवगाहना नौ हाथ की थी । सिद्ध अवस्था में छह हाथ की अवगाहना रह गई है । इस प्रकार एक हाथ आठ अङ्गुल से ऊपर की अवगाहना से लेकर तीन सौ तेतीस धनुष्य बत्तीस अङ्गुल से कुछ कम तक सब मध्यम अवगाहना है । ऐसा समझना चाहिये ।

एगत्तेण साइया, अपज्जवसिया वि य ।
पुहत्तेण अणाइया, अपज्जवसिया वि य ॥ ६६ ॥

- **एगत्तेण** - एक सिद्ध की अपेक्षा, **साइया** - सिद्ध सादि (आदि सहित) **य** - और, **अपज्जवसिया वि** - अपर्यवसित-अनन्त हैं, **पुहत्तेण** - पृथक्त्व-बहुत जीवों की अपेक्षा, **अणाइया** - अनादि, **य** - और, **अपज्जवसिया वि** - अपर्यवसित-अनन्त हैं ॥ ६६ ॥



अरूविणो जीवघणा, णाणदंसण-सण्णिया ।
अउलं सुहं संपत्ता, उवमा जस्स णत्थि उ ॥ ६७॥

– वे सिद्ध कैसे हैं :- सिद्ध जीव, **अरूविणो** – अरूपी, **जीवघणा** – जीव प्रदेशों से सघन, **णाणदंसणसण्णिया** - ज्ञान-दर्शन सहित हैं, **उ** – और, **अउलं** – ऐसे अतुल, **सुहं** – सुख को, **संपत्ता** – प्राप्त हुए हैं, **जस्स** – जिसकी, **उवमा** – उपमा, **णत्थि** - नहीं दी जा सकती अर्थात् सिद्ध भगवान् ऐसे अनन्त आत्मिक सुख युक्त हैं कि जिसकी उपमा संसार के किसी भी पदार्थ से नहीं दी जा सकती ॥ ६७ ॥

लोगेगदेसे ते सव्वे, णाणदंसण-सण्णिया ।
संसारपारणित्थिण्णा, सिद्धिं वरगइं गया ॥ ६८॥

– **ते** – वे, **सव्वे** – सभी सिद्ध, **लोगेगदेसे** – लोक के एक देश (लोक के अग्रभाग) में स्थित हैं, **णाणदंसणसण्णिया** - ज्ञान दर्शन सञ्ज्ञिता-ज्ञान-दर्शन सहित हैं, **संसारपारणित्थिण्णा** - संसार के पार पहुँचे हुए हैं और, **सिद्धिं** – सिद्धि रूप, **वरगइं** - वरगति-श्रेष्ठ गति को, **गया** – प्राप्त हुए हैं ॥ ६८ ॥

संसारत्था उ जे जीवा, दुविहा ते वियाहिया ।
तसा य थावरा चेव, थावरा तिविहा तहिं ॥ ६९॥

– **संसारत्था** – संसारस्थ-संसारी, **जे** – जो, **जीवा** – जीव हैं, **ते** – वे, **दुविहा** – दो प्रकार के, **वियाहिया** – कहे गये हैं, **तसा** - त्रस, **उ उ चेव** – और, **थावरा** – स्थावर, **तहिं** – उनमें, **थावरा** - स्थावर जीव, **तिविहा** – तीन प्रकार के हैं ॥ ६९ ॥

विवेचन – त्रस नाम कर्म के उदय से चलने फिरने वाले जीव को त्रस कहते हैं । बेइन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के



जीव त्रस कहलाते हैं । स्थावर नाम कर्म के उदय से तथा वे स्वयं हलन चलन नहीं कर सकते, उन्हें स्थावर कहते हैं । सभी एकेन्द्रिय जीव स्थावर हैं ।

पुढवी आउ-जीवा य, तहेव य वणस्सई ।
इच्चेए थावरा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥ ७० ॥

- **पुढवी** - पृथ्वीकाय, **आउजीवा** - अप्काय के जीवों, **य तहेव य** - और, **वणस्सई** - वनस्पति काय, **इच्चेए** - इस प्रकार ये, **तिविहा** - तीन प्रकार के, **थावरा** - स्थावर हैं । अब, **मे** - मुझ से, **तेसिं** - उनके, **भेए** - भेदों को, **सुणेह** - सुनो ॥ ७० ॥

विवेचन - यहाँ पर पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय को ही स्थावर बताया है। आगे १०८ वीं गाथा में अग्निकाय और वायु काय को त्रस बताया है । वह गति की अपेक्षा त्रस समझना चाहिये । वास्तव में वे त्रस नहीं हैं, स्थावर हैं । पांचों एकेन्द्रिय जीव स्थावर हैं ।

दुविहा पुढवी जीवा य, सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥ ७१ ॥

- **पुढवी जीवा** - पृथ्वीकाय के जीव, **दुविहा** - दो प्रकार के हैं, **सुहुमा** - सूक्ष्म, **य, तहा** - और, **बायरा** - बादर । **एवमेए**- इसी प्रकार ये, **पज्जत्तं** - पर्याप्त और **अपज्जत्ता** - अपर्याप्त के भेद से, **पुणो** - पुनः (फिर) **दुहा** - दो प्रकार के हैं ॥ ७१ ॥

विवेचन - **सूक्ष्म** - सूक्ष्म नामकर्म के उदय से जिन जीवों का शरीर अत्यन्त सूक्ष्म होता है वह छद्मस्थों के दृष्टिगोचर नहीं होता । उसका आयुष्य अन्तर्मुहूर्त का होता है । किसी के मारने से मरता नहीं है किन्तु आयुष्य समाप्त होने पर स्वयं मृत्यु को प्राप्त



होता है । पांचों स्थावर सूक्ष्म जीव भी होते हैं । सूक्ष्म जीव सारे लोक में भरे पड़े हैं ।

बादर - बादर नामकर्म के उदय से बादर अर्थात् स्थूल शरीर वाले जीव बादर कहलाते हैं । पांच स्थावर बादर भी होते हैं।

पर्याप्तक - आहारादि के लिये पुद्गलों को ग्रहण करने तथा उन्हें आहार, शरीर आदि रूप परिणमाने की आत्मा की शक्ति विशेष को पर्याप्ति कहते हैं । यह शक्ति पुद्गलों के उपचय से होती है । इसके छह भेद हैं - १. आहार पर्याप्ति २. शरीर पर्याप्ति ३. इन्द्रिय पर्याप्ति ४. श्वसोच्छ्वास पर्याप्ति ५. भाषा पर्याप्ति और ६. मनः पर्याप्ति ।

जिस जीव में जितनी पर्याप्तियाँ संभव हैं । जब वह जीव अपनी उतनी पर्याप्तियों को पूरा कर लेता है तब उसे पर्याप्तक कहते हैं । एकेन्द्रिय जीव स्वयोग्य चार पर्याप्तियाँ (आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोश्वास) पूरी करने पर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय उपर्युक्त चार और पांचवीं भाषा पर्याप्ति पूरी करने पर तथा संज्ञी पञ्चेन्द्रिय उपर्युक्त पांच और छठी मनः पर्याप्ति पूरी करने पर पर्याप्तक कहे जाते हैं ।

अपर्याप्तक - जिस जीव की पर्याप्तियाँ पूरी न हों वह अपर्याप्तक कहा जाता है ।

जीव तीन पर्याप्तियों को पूर्ण करके ही मरते हैं, पहले नहीं क्योंकि आगामी भव की आयु बांध कर ही मृत्यु प्राप्त करते हैं और आयु का बन्ध उन्हीं जीवों के होता है जिन्होंने आहार, शरीर और इन्द्रिय ये तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली हैं ।

(ठाणाङ्ग २ सूत्र ७९)



बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया ।
सण्हा खरा य बोधव्वा, सण्हा सत्तविहा तहिं ॥

- **जे** - जो **बायरा** - बादर, **पज्जत्ता** - पर्याप्त पृथ्वीकाय के जीव हैं **ते** - वे, **दुविहा** - दो प्रकार के, **वियाहिया** - कहे गये हैं, **सण्हा** - श्लक्ष्ण (कोमल) **उ, य** - और, **खरा** - खर-कठोर । **तहिं** - उन में, **सण्हा** - श्लक्ष्ण-कोमल पृथ्वीकाय के, **सत्तविहा** - सात भेद, **बोधव्वा** - जानने चाहिए ॥ ७२ ॥

किण्हा णीला य रुहिरा, हालिद्दा सुक्किला तहा ।
पंडुपणग-मट्टिया, खरा छत्तीसई विहा ॥ ७३ ॥

- **किण्हा** - कृष्ण-काली, **णीला** - नीली, **रुहिरा** - रुधिर-लाल, **हालिद्दा** - हरिद्रा-पीली, **सुक्किला** - शुक्ल-श्वेत, **य** - और, **पंडु** - पाण्डुर (चन्दन के समान श्वेत) **तहा** - तथा, **पणगमट्टिया** - पनकमृत्तिका (अत्यन्त सूक्ष्म रज रूपी मिट्टी) । **खरा** - खर पृथ्वी, **छत्तीसईविहा** - छत्तीस प्रकार की है ॥ ७३ ॥

पुढवी य सक्करा वालुया य, उवले सिला य लोणूसे ।
अयतंब तउय सीसग, रुप्पसुवण्णे य वइरे य ॥७४॥
हरियाले हिंगुलुए, मणोसिला सासगंजण-पवाले ।
अब्भपडलब्भ वालुय, बायरकाए मणिविहाणा ॥
गोमेज्जए य रुयगे, अंके फलिहे य लोहियक्खे य ।
मरगय-मसारगल्ले, भुयमोयग-इंदणीले य ॥७६॥
चंदणगेरुय-हंसगब्भे, पुलए सोगंधिए य बोधव्वे ।
चंदप्पहवेरुलिए, जलकंते सूरकंते य ॥ ७७ ॥

- खर पृथ्वी के ३६ भेद इस प्रकार हैं :- १ **पुढवी** - शुद्ध पृथ्वी (खान की मिट्टी) २ **सक्करा** - शर्करा (कंकरीली मिट्टी, मुरड़ आदि) ३ **वालुया** - बालुका (नदी आदि की रेत) ४ **उवले**- उपल (पाषाण) ५ **सिला** - शिला, ६ **लोण** - लवण ७ **ऊसे** - ऊस (खारी मिट्टी) ८ **अय** - लोहा, ९ **तंब** - ताम्बा १० **तउय** - त्रपुक-कथीर अथवा रांगा, ११ **सीसग** - सीसा, १२ **रुप्प** - रूपा (चांदी) १३ **सुवण्णे**- सुवर्ण-सोना, १४ **वइरे** - वज्र (हीरा) १५ **हरियाले** - हरताल, १६ **हिंगुलुए** - हिंगलू १७- **मणोसिला** - मन:शिला (मेनसिल) १८ **सासग** - सासग (जस्त) १९ **अंजण**- अंजन (सुरमा) २० **पवाले** - प्रवाल (मूंगा) २१ **अब्भपडल** - अभ्रपटल (भोडल) २२ **अब्भवालुय** - अभ्रवालुका (भोडल सहित बालुका) **बायरकाए** - ये भेद बादर पृथ्वी काया के हैं ।

अब **मणिविहाणे** - मणियों के भेद कहे जाते हैं, वे भी पृथ्वीकाया के अन्तर्गत हैं - २३ **गोमेज्जए** - गोमेदक, २४ **रुयगे**- रुचक, २५ **अंके** - अंक, २६ **फलिहे** - स्फटिक, २७ **लोहियक्खे**- लोहिताक्ष, २८ **मरगय** - मरकत मणि, २९ **मसारगल्ले** - मसारगल्ल मणि, ३० **भुयमोयग** - भुजमोचक, ३१ **इंदणीले** - इन्द्रनील, ३२ **चंदणगेरुयहंसगब्भे** - चन्दन रत्न, गेरु रत्न, हंसगर्भ रत्न, ३३ **पुलए सोगंधिए** - पुलक रत्न, सौगंधिक रत्न ३४ **चंदप्पह वेरुलिए** - चन्द्रप्रभ रत्न, वैडूर्य रत्न, ३५ **जलकंते** - जलकान्त मणि, **य** - और, ३६ **सूरकंते** - सूर्यकान्त मणि । ये खर पृथ्वीकाय के ३६ भेद, **बोधव्वे** - जानने चाहिए ॥ ७३-७७ ॥

विवेचन - यद्यपि यहाँ मणियों के १८ भेद बताये हैं, किन्तु उनका एक-दूसरे में अन्तर्भाव करके यहाँ १४ भेद ही गिनना चाहिए । ऐसा करने से ही ३६ भेदों की संख्या ठीक हो जाती है, अन्यथा ४० भेद हो जाते हैं ।

एए खरपुढवीए, भेया छत्तीसमाहिया ।
एगविहमणाणत्ता, सुहुमा तत्थ वियाहिया ॥ ७८ ॥

- **एए** - ये, **खरपुढवीए** - खर पृथ्वी के, **छत्तीसं** - छत्तीस, **भेया** - भेद, **आहिया** - कहे गये हैं, **तत्थ** - उनमें, **सुहुमा**- सूक्ष्म पृथ्वीकाय, **अणाणत्ता** - अनानात्व-भेद-रहित, **एगविहं** - एक प्रकार की, **वियाहिया** - कही गई है ॥ ७८ ॥

सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा ।
इत्तो कालविभागं तु, वुच्छं तेसिं चउव्विहं ॥ ७९ ॥

- **सुहुमा** - सूक्ष्म-पृथ्वीकाय के जीव, **सव्वलोगम्मि** - सर्व लोक में व्याप्त हैं, **य, तु** - और, **बायरा** - बादर पृथ्वीकाय के जीव **लोग देसे** - लोक के एक देश में व्याप्त हैं । **इत्तो** - यहाँ से आगे, **तेसिं** - उनका, **चउव्विहं** - चार प्रकार का, **कालविभागं** - कालविभाग, **वुच्छं** - कहूँगा ॥ ७९ ॥

संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य ॥ ८० ॥

- **संतइं** - सन्तति (प्रवाह) की, **पप्प** - अपेक्षा पृथ्वीकाय, **अणाइया** - अनादि, **य** - और, **अपज्जवसिया** - अपर्यवसित है । **ठिइं** - स्थिति की, **पडुच्च** - अपेक्षा से, **वि** - भी, **साइया** - सादि (आदि सहित), **य** - और, **सपज्जवसिया** - सपर्यवसित है ॥ ८० ॥

बावीससहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे ।
आउठिई पुढवीणं, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥ ८१ ॥

- **पुढवीणं** - पृथ्वीकाय के जीवों की, **आउठिई** - आयुस्थिति, **जहण्णिया** - जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त और,



उक्कोसिया - उत्कृष्ट, **वासाण बावीस सहस्साइं** - बाईस हजार वर्ष की, **भवे** - होती है ॥ ८१ ॥

विवेचन - तिर्यञ्चों की और मनुष्यों की दो प्रकार की स्थिति होती है । भवस्थिति और कायस्थिति । उस भव में जितना आयुष्य बन्धा है उतना भोग कर मृत्यु प्राप्त कर दूसरी गति एवं दूसरी काया में चले जाना भवस्थिति कहलाती है । एक भव की स्थिति पूरी करके फिर उसी गति और उसी काया में बार बार जाना काय स्थिति कहलाती है । देव गति और नरकगति में काय स्थिति नहीं बनती है क्योंकि नैरयिक मर कर दूसरे भव में नरक में नहीं जाता है इसी प्रकार देव मर कर दूसरे भव में देव नहीं बनता है । इसलिये नरक गति और देवगति में एक भवस्थिति ही पायी जाती है ।

असंखकाल मुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ।
कायठिई पुढवीणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥ ८२ ॥

- **तं कायं** - उस पृथ्वीकाय को, **अमुंचओ** - न छोड़ने (पृथ्वीकाय से मर कर फिर पृथ्वीकाय में ही उत्पन्न होने) वाले, **पुढवीणं** - पृथ्वीकाय के जीवों की, **कायठिई** - कायस्थिति **जहण्णिया** - जघन्य, **अंतोमुहुत्त** - अन्तर्मुहूर्त्त, **तु** - और, **उक्कोसा** - उत्कृष्ट, **असंखकालं** - असंख्यात काल की है ॥ ८२ ॥

विवेचन - लोकाकाश के जितने आकाश प्रदेश हैं उतनी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल बीते उतना असंख्यात काल यहाँ लेना चाहिए । यह पृथ्वीकाय का उत्कृष्ट कायस्थिति परिमाण है।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं ।
विजढम्मि सए काए, पुढवी जीवाण अंतरं ॥ ८३ ॥



– **सए काए** – अपनी काया को, **विजढम्मि** – छोड़ देने पर, **पुढवी जीवाण** – पृथ्वीकाय के जीवों का, **अंतरं** – अन्तर, **जहण्णयं** – जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** – अन्तर्मुहूर्त्त का और, **उक्कोसं** – उत्कृष्ट, **अणंतकालं** – अनन्त काल का है ॥ ८३ ॥

विवेचन – अपनी गति और अपनी काया को छोड़ कर जीव दूसरी गति और दूसरी काया में चला जाय फिर वहाँ से वापिस उसी गति और उसी काया में जीव आवे, इस में जितना व्यवधान पड़ता है उसे अन्तर कहते हैं । पृथ्वीकाय का अन्तर अनन्त पुद्गल परावर्तन बीते उतना अनन्त काल समझना चाहिये पृथ्वीकाय का जीव मर कर वनस्पति काय के अन्तर्गत निगोद में चला जाय तो इतना अन्तर पड़ सकता है ।

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ ८४ ॥

– **एएसिं** – इन पृथ्वीकाय के जीवों के, **वण्णओ** – वर्ण से, **गंधओ** – गन्ध से, **रसफासओ** – रस से, स्पर्श से, **चेव, वावि** – और, **संठाणादेसओ** – संस्थान की अपेक्षा, **सहस्ससो** – सहस्रश- हजारों, **विहाणाइं** – भेद होते हैं ॥ ८४ ॥

विवेचन – वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा पृथ्वीकाय के हजारों भेद होते हैं । गाथा में "सहस्सस" शब्द दिया इसका अर्थ हजारों ही नहीं किन्तु बहुत भेद होते हैं। संख्यात और असंख्यात तक भेद हो सकते हैं ।

दुविहा आउजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो ॥ ८५ ॥

– **आउजीवा** – अप्काय के जीव, **दुविहा** – दो प्रकार के

हैं - **सुहुमा** - सूक्ष्म, **उ, तहा** - और, **बायरा** - बादर, **एवमेव** - इसी प्रकार, ये अप्काय के जीव, **पज्जत्तं** - पर्याप्त और **अपज्जता** - अपर्याप्त के भेद से, **पुणो** - फिर, **दुहा** - दो प्रकार के हैं ॥

बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया ।
सुद्धोदए य उस्से य, हरतणू महिया हिमे ॥ ८६ ॥

- **जे** - जो, **बायरा** - बादर, **पज्जत्ता** - पर्याप्त हैं, **ते** - वे, **पंचहा** - पाँच प्रकार के, **पकित्तिया** - कहे गये हैं । यथा - १ **सुद्धोदए** - शुद्धोदक (मेघ का जल अर्थात् आकाश से गिरा हुआ पानी) २ **उस्से** - ओस, ३ **हरतणू** - हरतनु (प्रातःकाल तृण के ऊपर रही हुई जल की बूंद) ४ **महिया** - महिका-धूंअर, ५ **हिमे**- हिम-बर्फ का पानी ॥ ८६ ॥

एगविहमणाणत्ता, सुहुमा तत्थ वियाहिया ।
सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा ॥ ८७ ॥

- **तत्थ** - उनमें, **सुहुमा** - सूक्ष्म अप्काय के जीव, **अणाणत्ता** - अनानात्व-भेद-रहित, **एगविहं** - एक ही प्रकार के, **वियाहिया**- कहे गये हैं, **य** - और, **सुहुमा** - वे सूक्ष्म जीव, **सव्वलोगम्मि** - सर्वलोक में व्याप्त हैं, **बायरा** - बादर, **लोगदेसे** - लोक के एक देश में व्याप्त हैं ॥ ८७ ॥

संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य ॥ ८८ ॥

- **संतइं** - सन्तति की, **पप्प** - अपेक्षा अप्काय के जीव, **अणाइया** - अनादि जिसकी आदि (प्रारम्भ) नहीं, **य** - और, **अपज्जवसिया** - अपर्यवसित-जिसका अन्त नहीं हैं, **वि** - भी,



ठिइं - स्थिति की, **पडुच्च** - अपेक्षा, **साइया** - सादि, **य** - और, **सपज्जवसिया वि** - सपर्यवसित हैं-जिसका अन्त है ॥ ८८ ॥

सत्तेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे ।
आउठिई आऊणं, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥ ८९ ॥

- **आऊणं** - अप्काय के जीवों की, **आउठिई** - आयु स्थिति (भवस्थिति), **जहण्णिया** - जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त और, **उक्कोसिया**- उत्कृष्ट, **वासाण सत्तेव सहस्साइं** - सात हजार वर्ष की है ॥ ८९ ॥

असंखकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं ।
कायठिई आऊणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥ ९० ॥

- **तं** - उस, **कायं** - अप्काय को, **अमुंचओ** - न छोड़ने वाले, **आऊणं** - अप्काय के जीवों की, **कायठिई** - कायस्थिति, **जहण्णयं** - जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तमुर्हूत्त, **तु** - और, **उक्कोसं**- उत्कृष्ट, **असंखकालं** - असंख्यात काल की है ॥ ९० ॥

विवेचन - असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी जितना काल समझना चाहिये पृथ्वीकाय की तरह ।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं ।
विजढम्मि सए काए, आउजीवाण अंतरं ॥ ९१ ॥

- **सए** - अपनी, **काए** - काया, **विजढम्मि** - छोड़ कर अन्य काय में जाने और पुनः लौट कर, **आउजीवाण** - अप्काय के जीवों में आने का, **अंतरं** - अन्तर-व्यवधान, **जहण्णयं** - जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त का और, **उक्कोसं** - उत्कृष्ट, **अणंतकालं**- अनन्त काल का है ॥ ९१ ॥

☆☆

विवेचन - यहाँ असंख्यात पुद्गल परावर्तन जितने काल को अनन्त काल कहा है। अप्काय का जीव मर कर वनस्पति काय के अन्तर्गत निगोद में चला जाय तो इतना अन्तर पड सकता है।

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो॥ ९२॥

- **एएसिं** - इन अप्काय के जीवों के, **वण्णओ** - वर्ण से, **गंधओ** - गन्ध से, **रसफासओ** - रस से स्पर्श से, **चेव, वा** - और, **संठाणादेसओ** - संस्थान की अपेक्षा से, **वि**- भी, **सहस्ससो**- सहस्रश-हजारों, **विहाणाइं** - विधान-भेद हो सकते हैं ॥ ९२॥

दुविहा वणस्सई जीवा, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥ ९३ ॥

- **वणस्सई जीवा** - वनस्पति काय के जीव, **दुविहा** - दो प्रकार के हैं - **सुहुमा** - सूक्ष्म, **तहा** - और, **बायरा** - बादर, **एवमेए** - इसी प्रकार ये वनस्पति काय के जीव, **पज्जत्तं** - पर्याप्त और **अपज्जत्ता** - अपर्याप्त के भेद से, **पुणो** - फिर, **दुहा** - दो प्रकार के हैं ॥ ९३ ॥

बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया।
साहारण-सरीरा य, पत्तेगा य तहेव य ॥ ९४ ॥

- **जे** - जो, **बायरा** - बादर, **पज्जत्ता** - पर्याप्त हैं, **ते** - वे, **दुविहा** - दो प्रकार के, **वियाहिया** - कहे गये हैं - **साहारणसरीरा**- साधारण शरीर **उ, य, य, तहेव य** - और, **पत्तेगा** - प्रत्येक शरीर ॥ ९४ ॥

विवेचन - **प्रश्न** - साधारण किसे कहते हैं ?

उत्तर – साधारण नाम कर्म के उदय से एक ही शरीर को आश्रित करके जो अनन्त जीव रहते हैं वे निगोद कहलाते हैं। निगोद के जीव एक ही साथ आहार ग्रहण करते हैं, एक साथ श्वासोच्छ्वास लेते हैं और साथ ही आयु बांधते हैं और एक ही साथ शरीर छोड़ते हैं ।

प्रश्न – प्रत्येक किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिन जीवों का अपना अपना शरीर अलग अलग हो । एक शरीर का एक जीव स्वामी हो, उसे प्रत्येक कहते हैं ।

पत्तेग-सरीराओ, णेगहा ते पकित्तिया ।
रुक्खा गुच्छा य गुम्मा य, लया वल्ली तणा तहा ॥

– जो वनस्पति जीव, **पत्तेगसरीराओ** – प्रत्येक शरीरी हैं, **ते** – वे, **अणेगहा** – अनेकधा-अनेक प्रकार के, **पकित्तिया** – कहे गए हैं । यथाः – **रुक्खा** – वृक्ष, **गुच्छा** – गुच्छ, **गुम्मा** – गुल्म (नवमल्लिका आदि) **लया** – लता (चम्पक लता आदि) **वल्ली** – बेल (ककड़ी आदि की बेल) **य, य, तहा** – और, **तणा** – तृण (घास) ॥ ९५ ॥

वलया-पव्वगा कुहणा, जलरुहा ओसही तहा ।
हरियकाया उ बोधव्वा, पत्तेगाइ वियाहिया ॥

– **वलया** – वलय (नारियल केल आदि) **पव्वगा** – पर्वज-पर्वक (गांठ से उत्पन्न होने वाले ईख बांस आदि) **कुहणा** – कुहणा (पृथ्वी को फोड़ कर उत्पन्न होने वाली छत्राकार वनस्पति) **जलरुहा** – जलरुह (जल में उत्पन्न होने वाले कमल आदि) **ओसही** – औषधि (धान्य आदि) **तहा, उ** – और, **हरियकाया** – हरितकाय (हरे शाक आदि) **बोधव्वा** – जानने चाहिए । इस



प्रकार, **पत्तेगाइ**- प्रत्येक वनस्पति के भेद, **वियाहिया** - कहे गये हैं ॥ ९६ ॥

विवेचन - क्षुधा वेदनीय के उदय से भूख लगती है। इसलिये भूख भी एक प्रकार का रोग है। रोग की उपशान्ति के लिये दवा (औषधि) करनी पडती है, इसी प्रकार भूख रूपी रोग के लिये अनाज औषधि है। इसीलिये शास्त्रकार ने गेहूँ, जौ, मक्की, बाजरी आदि २४ प्रकार के अनाज (धान्य) को औषधि कहा है।

साहारणसरीराओ, णेगहा ते पकित्तिया ।
आलुए मूलए चेव, सिंगबेरे तहेव य ॥ ९७ ॥
हरिली सिरिली सिस्सरिली, जावई केयकंदली ।
पलंडु-लसण कंदे य, कंदली य कुहुव्वए ॥ ९८ ॥
लोहिणी हूयथी हूय, कुहगा य तहेव य ।
कण्हे य वज्जकंदे य, कंदे सूरणए तहा ॥ ९९ ॥
अस्सकण्णी य बोधव्वा, सीहकण्णी तहेव य ।
मुसुंढी य हलिद्दा य, णेगहा एवमायओ ॥ १०० ॥

- जो वनस्पति जीव, **साहारणसरीराओ** - साधारण शरीर वाले हैं, **ते** - वे, **अणेगहा** - अनेक प्रकार के, **पकित्तिया** - कहे गये हैं। यथाः- **आलुए** - आलू, **मूलए** - मूला, **सिंगबेरे** - शृंगबेर (अदरख) **हरिली** - हरिली, **सिरिली** - सिरिली **सिस्सरिली** - सिसरिली, **जावई** - जावंत्रीकन्द, **केयकन्दली** - केतकन्दली, **पलंडु** - प्याज (कांदा) **लसणकंदे** - लहसुन कन्द, **कंदली** - कन्दली, **कुहुव्वए** - कुहुव्रत, **लोहिणी** - लोहिणी, **हूयथी** - हुताक्षी, **हूय** - हूत, **कुहगा** - कुहक, **कण्हे** - कृष्णकन्द, **वज्जकंदे** - वज्रकन्द, **सूरणए कंदे** - सूरण कन्द, **अस्सकण्णी** -

अश्वकर्णी, **सीहकण्णी** - सिंहकर्णी, **मुसुंढी** - मुसुण्ढी, **चेव, तहेव, य, य, य, य, तहेव य, य, य, तहा, य, तहेव य** - और, **हलिद्दा** - हलदी, **एवमायओ** - इत्यादि, **अणेगहा** - अनेक प्रकार के भेद, **बोधव्वा** - जानने चाहिए ॥ ९७-१०० ॥

विवेचन - उपरोक्त वनस्पति के नामों में कुछ नाम प्रसिद्ध हैं बाकी नाम अप्रसिद्ध हैं । भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न नाम प्रचलित हो सकते हैं ।

एगविहमणाणत्ता, सुहुमा तत्थ वियाहिया ।
सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा ॥ १०१ ॥

- **तत्थ** - उनमें, **सुहुमा** - सूक्ष्म वनस्पति काय के जीव, **अणाणत्ता** - अनानात्व-भेद-रहित, **एगविहं** - एक ही प्रकार के, **वियाहिया**- कहे गये हैं । **सुहुमा** - सूक्ष्म वनस्पतिकाय के जीव, **सव्वलोगम्मि**- सर्व लोक में व्याप्त हैं, **य** - और, **बायरा** - बादर जीव, **लोगदेसे**- लोक के एक देश में व्याप्त हैं ॥ १०१ ॥

संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य ॥ १०२ ॥

- **संतइं** - सन्तति (प्रवाह) की, **पप्प** - अपेक्षा वनस्पतिकाय के जीव, **अणाइया** - अनादि, **य** - और, **अपज्जवसिया** - अपर्यवसित-अनन्त **वि** - भी हैं, **य** - और, **ठिइं** - स्थिति की, **पडुच्च** - अपेक्षा, **साइया** - सादि-आदि सहित और, **सपज्जवसिया**- सपर्यवसित-सान्त, **वि** - भी हैं ॥ १०२ ॥

दस चेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे ।
वणस्सईण आउं तु, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं ॥ १०३ ॥

- **वणस्सईण** - वनस्पतिकाय के जीवों की, **उक्कोसिया** -

उत्कृष्ट, **आउं** - आयु, **वासाण दस सहस्साइं** - दस हजार वर्ष, **चेव, तु** - और, **जहण्णयं** - जघन्य **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त की, **भवे** - भवस्थिति होती है ॥ १०३ ॥

अणंतकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ।
कायठिई पणगाणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥ १०४॥

- **तं कायं** - उस वनस्पतिकाय को, **अमुंचओ** - न छोड़ते हुए, **पणगाणं** - पनक, (लीलण-फूलण निगोद आदि) की, **उक्कोसा** - उत्कृष्ट, **कायठिई** - कायस्थिति, **अणंतकालं** - अनन्त काल की, **तु** - और, **जहण्णिया** - जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त की कायस्थिति है ॥ १०४ ॥

असंखकालमुक्कोसं, अंत्तोमुहुत्तं जहण्णयं ।
विजढम्मि सए काए, पणगजीवाण अंतरं ॥ १०५॥

- **सए** - अपनी, **काए** - काया को, **विजढम्मि** - छोड़ देने पर, **पणगजीवाण** - पनक (लीलण फूलण निगोद आदि) जीवों का, **उक्कोसं** - उत्कृष्ट, **अंतरं** - अन्तर, **असंखकालं** - असंख्यात काल, **जहण्णयं** - जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त है ॥ १०५ ॥

विवेचन - वनस्पतिकाय की कायस्थिति अनन्तकाल की है इसके सिवाय किसी भी दण्डक की स्थिति अनन्तकाल की नहीं है किन्तु असंख्यात काल की है। वनस्पतिकाय का जीव मरकर दूसरे किसी भी दण्डक में चला जाय तो वहाँ असंख्यात काल ही रहेगा। इसके बाद उस जीव को वापिस वनस्पतिकाय में आना ही पडेगा। इसलिये वनस्पति काय का अन्तर असंख्यात काल ही कहा है, अनन्तकाल नहीं ।



एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१०६॥

– **एएसिं** – इन वनस्पतिकाय के जीवों के, **वण्णओ** – वर्ण से, **गंधो** – गन्ध से, **रसफासओ** – रस से, स्पर्श से, **चेव, वा** – और, **संठाणादेसओ** – संस्थान की अपेक्षा से, **वि** – भी, **सहस्ससो** – सहस्रश-हजारों, **विहाणाइं** – भेद होते हैं ॥ १०६ ॥

इच्चेए थावरा तिविहा, समासेण वियाहिया ।
इत्तो उ तसे तिविहे, वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥१०७॥

– **इच्चेए** – इस प्रकार इन, **तिविहा** – तीन प्रकार के, **थावरा** – स्थावर जीवों का, **समासेण** – संक्षेप से, **वियाहिया** – वर्णन किया गया है **उ** – और अब, **इत्तो** – इसके आगे, **तिविहे** – तीन प्रकार के, **तसे** – त्रस जीवों का, **अणुपुव्वसो** – अनुक्रम से, **वुच्छामि** – वर्णन करूँगा ॥ १०७ ॥

तेऊ वाऊ य बोधव्वा, उराला य तसा तहा ।
इच्चेए तसा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥१०८॥

– **तेऊ** – तेउकाय (अग्निकाय) **वाऊ** – वायुकाय, **य, य, तहा** – और, **उराला** – प्रधान, **तसा** – त्रस, **इच्चेए** – इस प्रकार ये, **तिविहा** – तीन प्रकार के, **तसा** – त्रस जीव हैं । **तेसिं** – उनके, **भेए** – भेदों को, **मे** – मुझ से, **सुणेह** – सुनो ॥ १०८ ॥

विवेचन – इस गाथा में त्रस के तीन भेद कहे हैं – १. अग्नि रूप त्रस २. वायु रूप त्रस ३. उदार त्रस । अग्निकाय और वायुकाय के स्थावर नामकर्म का उदय होने से स्थावर हैं ।

प्रश्न – फिर इस गाथा में उनको त्रस क्यों कहा गया ?



उत्तर - त्रस के दो भेद हैं - १. गति त्रस और २. लब्धि त्रस। अग्नि लकडियों को जलाती हुए स्वतः आगे आगे बढती जाती है, इसलिये गति की अपेक्षा उसे गति त्रस माना है । वायु तो आड़ी, टेढी, तिरछी, ऊंची, नीची स्वतः गति करती रहती है इसलिये गति की अपेक्षा इसको गति त्रस माना है ।

प्रश्न-पानी भी गति करता है उसे गति त्रस क्यों नहीं माना गया?

उत्तर - पानी स्वतः गति नहीं करता किन्तु ढालू जमीन होने से नीचे की तरफ ढलक जाता है । इसलिये वह स्वतः गति नहीं करता । अग्नि तो ऊंचा, नीचा, तिरछा जिधर भी लकडी आदि मिल जाय उनको जलाती हुई आगे बढ जाती है । अतः स्वतः गति करने से यह गति त्रस है ।

जिन जीवों के त्रस नाम कर्म का उदय है ऐसे बेइन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक जीव गति एवं लब्धि की अपेक्षा त्रस हैं । इसलिये उन्हें उदार त्रस कहा है ।

दुविहा तेऊ जीवा उ, सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥ १०९ ॥

- **तेऊ जीवा** - अग्निकाय के जीव, **दुविहा** - दो प्रकार के, **सुहुमा** - सूक्ष्म, **उ, तहा** - और, **बायरा** - बादर **पुणो** - पुनः (फिर) **एवं** - इसी प्रकार, **पज्जत्तं** - पर्याप्त और **अपज्जत्ता** - अपर्याप्त, **एए** - ये, **दुहा** - दो प्रकार के कहे गये हैं ॥ १०९ ॥

बायरा जे उ पज्जत्ता, णेगहा ते वियाहिया ।
इंगाले मुम्मुरे अगणी, अच्चिजाला तहेव य ॥११०॥

- **जे** - जो, **बायरा** - बादर, **पज्जत्ता** - पर्याप्त अग्निकाय के जीव हैं, **ते** - वे **अणेगहा** - अनेक प्रकार के, **वियाहिया** -

✡✡

कहे गये हैं । यथा - **इंगाले** - अंगार (धूम-रहित अग्नि) **मुम्मुरे** - मुर्मुर (अग्निकण-भोभर) **अगणी** - अग्नि, **अच्चि** - अर्चि (अग्नि-शिखा) **उ, तहेव य,** - और **जाला** - ज्वाला ॥ ११० ॥

उक्का विज्जू य बोधव्वा, णेगहा एवमायओ ।

एगविहमणाणत्ता, सुहुमा ते वियाहिया ॥ १११ ॥

- **उक्का** - उल्कापात की अग्नि, **य** - और, **विज्जू** - विद्युत् की अग्नि अर्थात् बीजली, **एवमायओ** - इस प्रकार अग्नि के, **अणेगहा** - अनेक भेद, **बोधव्वा** - जानने चाहिए । **ते** - वे, **सुहुमा** - सूक्ष्म अग्निकाय के जीव । **अणाणत्ता** - अनानात्व-नाना भेद-रहित, **एगविहं** - एक ही प्रकार के, **वियाहिया** - कहे गये हैं ॥ १११ ॥

विवेचन - यहां बादर अग्निकाय के भेदों में बीजली (विज्जू) को भी गिनाया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि-बीजली की अग्नि भी सचित्त है। लाउडस्पीकर में बीजली का प्रयोग होता है इसलिये लाउडस्पीकर में बोलना मुनियों को नहीं कल्पता है। लाउडस्पीकर में बोलना मुनि मर्यादा को भङ्ग करना है। अपने व्रतों में दोष लगा कर जनता के उपकार के लिये लाउडस्पीकर में बोलना भगवान् की आज्ञा नहीं है। दशवैकालिक सूत्र के ४ थे अध्ययन में भी बीजली को सचित्त बताया है। पूज्य आचार्य श्री आत्मारामजी म. सा. ने भी अपने दशवैकालिक सूत्र में ऐसा ही लिखा है।

सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा ।

इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥११२॥

- **सुहुमा** - सूक्ष्म अग्निकाय के जीव, **सव्वलोगम्मि** - सर्व लोक में व्याप्त हैं, **तु, य** - और, **बायरा** - बादर जीव, **लोगदेसे** -

लोक के एक देश में व्याप्त हैं । **इत्तो** - अब आगे, **तेसिं** - उन जीवों का, **चउव्विहं** - चार प्रकार का **कालविभागं** - कालविभाग, **वुच्छं** - बताऊंगा ॥ ११२ ॥

संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य ॥ ११३ ॥

- अग्निकाय के जीव, **संतइं** - परम्परा की, **पप्प** - अपेक्षा, **अणाइया** - अनादि, **य** - और, **अपज्जवसिया** - अपर्यवसित-अनन्त, **वि** - भी हैं । **ठिइं** - स्थिति की, **पडुच्च** - अपेक्षा, **साइया** - सादि, **य** - और, **सपज्जवसिया** - सपर्यवसित-सान्त **वि** - भी हैं ॥ ११३ ॥

तिण्णेव अहोरत्ता, उक्कोसेण वियाहिया ।
आउठिई तेऊणं, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥ ११४ ॥

- **तेऊणं** - अग्निकाय के जीवों की, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट, **आउठिई** - आयु-स्थिति, **तिण्णेव** - तीन, **अहोरत्ता** - अहोरात्र (दिन-रात) और, **जहण्णिया** - जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त की, **वियाहिया** - कही गई हैं ॥ ११४ ॥

असंखकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ।
कायठिई तेऊणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥ ११५ ॥

- **तं कायं** - उस अग्निकाय को, **अमुंचओ** - न छोड़ते हुए, **तेऊणं** - अग्निकाय के जीवों की, **कायठिई** - कायस्थिति, **उक्कोसा** - उत्कृष्ट, **असंखकालं** - असंख्यात काल की, **तु** - और, **जहण्णिया** - जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥ ११५ ॥

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं ।
विजढम्मि सए काए, तेऊ जीवाण अंतरं ॥ ११६ ॥

☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆

- **सए** - अपनी, **काए** - काया को, **विजढम्मि** - छोड़ देने पर, **तेऊजीवाण** - अग्निकाय के जीवों का, **उक्कोसं** - उत्कृष्ट, **अंतरं** - अन्तर, **अणंतकालं** - अनन्त काल का और, **जहण्णयं** - जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त का है ॥ ११६ ॥

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ ११७ ॥

- **एएसिं** - इन अग्निकाय के जीवों के, **वण्णओ** - वर्ण से, **गंधओ** - गन्ध से, **रसफासओ** - रस से, स्पर्श से, **चेव, वा** - और, **संठाणादेसओ** - संस्थान की अपेक्षा से, **वि** - भी, **सहस्ससो** - हजारों, **विहाणाइं** - विधान-भेद होते हैं ॥ ११९ ॥

दुविहा वाउजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो ॥ ११८ ॥

- **वाउजीवा** - वायुकाय के जीव, **दुविहा** - दो प्रकार के हैं । **सुहुमा** - सूक्ष्म, **उ, तहा** - और, **बायरा** - बादर । **पुणो** - पुनः, **एवं** - इसी प्रकार, **पज्जत्तं** - पर्याप्त और **अपज्जत्ता** - अपर्याप्त के भेद से, **एए** - ये वायुकाय के जीव, **दुहा** - दो प्रकार के हैं ॥ ११८ ॥

बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया ।
उक्कलिया मंडलिया, घणगुंजा सुद्धवाया य ॥

- **जे** - जो, **बायरा** - बादर, **पज्जत्ता** - पर्याप्त वायुकाय के जीव हैं, **ते** - वे, **पंचहा** - पाँच प्रकार के **पकित्तिया** - कहे गये, हैं । यथाः- **उक्कलिया** - उत्कलिका (ऐसी वायु जो रुक-रुक कर चले), **घण** - घनवायु-ठोसवायु, **गुंजा** - गुंजा वायु (जो चलती हुई गुंजार शब्द करे) **उ, य** - और, **सुद्धवाया** - शुद्ध वायु ॥ ११९ ॥



संवट्टगवाया य, णेगहा एवमायओ ।

एगविहमणाणत्ता, सुहुमा तत्थ वियाहिया ॥१२०॥

- **संवट्टगवाया** - संवर्तक वायु (जो तृणादि को उड़ा कर विवक्षित क्षेत्र में डाल देती है) **एवं** - इस प्रकार वायुकाय के, **आयओ** - आदिक-और भी, **अणेगहा** - अनेक भेद हैं । **तत्थ** - उनमें, **सुहुमा** - सूक्ष्म वायुकाय, **अणाणत्ता** - अनानात्व-नाना भेद रहित, **एगविहं** - एक ही प्रकार की, **वियाहिया** - कही गई है ॥१२०॥

सुहुमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा ।

इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥१२१॥

- **सुहुमा** - सूक्ष्म वायुकाय के जीव, **सव्वलोगम्मि** - सर्वलोक में व्याप्त हैं, **य** - और, **बायरा** - बादर, **लोगदेसे** - लोक के एक देश में व्याप्त हैं । **इत्तो** - अब इसके आगे, **तेसिं** - उन वायुकाय के जीवों के, **चउव्विहं** - चार प्रकार के, **कालविभागं** - कालविभाग को, **वुच्छं** - बतलाऊँगा ॥ १२१ ॥

संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य ।

ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य ॥ १२२॥

- **संतइं** - संतति-परम्परा की, **पप्प** - अपेक्षा वायुकाय के जीव, **अणाइया** - अनादि, **य** - और, **अपज्जवसिया** - अपर्यवसित-अनन्त हैं और, **ठिइं** - स्थिति की, **पडुच्च** - अपेक्षा, **साइया** - सादि, **य** - और, **सपज्जवसिया** - सान्त, **वि** - भी हैं ॥ १२२॥

तिण्णेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे ।

आउठिई वाऊणं, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥ १२३॥

- **वाऊणं** - वायुकाय के जीवों की, **उक्कोसिया** - ...ट, **आउठिई** - आयुस्थिति (भवस्थिति), **वासाण तिण्णेव**



सहस्साइं - तीन हजार वर्ष और, **जहण्णिया** - जघन्य, **अंतोमुहुत्तं**- अन्तर्मुहूर्त्त की, **भवे** - होती है ॥ १२३ ॥

असंखकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ।
कायठिई वाऊणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥ १२४॥

- **तं कायं** - उस वायुकाय को, **अमुंचओ** - न छोड़ने वाले, **वाऊणं** - वायुकाय के जीवों की, **उक्कोसा** - उत्कृष्ट, **कायठिई**- कायस्थिति, **असंखकालं** - असंख्यात काल की और, **जहण्णिया** - जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥ १२४ ॥

विवेचन - असंख्यात अवसर्पिणी उत्सर्पिणी बीते, उतना असंख्यात काल लेना चाहिये ।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं ।
विजढम्मि सए काए, वाऊजीवाण अंतरं ॥ १२५॥

- **सए** - अपनी, **काए** - काया, **विजढम्मि** - छोड़ने पर **वाऊजीवाण** - वायुकाय के जीवों का, **उक्कोसं** - उत्कृष्ट, **अंतरं**- अन्तर, **अणंतकालं** - अनन्त काल का है और, **जहण्णयं** - जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त का है ॥ १२५ ॥

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १२६ ॥

- **एएसिं** - इन वायुकाय के, **वण्णओ** - वर्ण से, **गंधओ** - गन्ध से, **रसफासओ** - रस से, स्पर्श से, **चेव, वा** - और, **संठाणादेसओ** - संस्थान की अपेक्षा से, **वि** - भी, **सहस्ससो** - सहस्रश-हजारों, **विहाणाइं** - विधान-भेद हो जाते हैं ॥ १२६ ॥

उराला य तसा जे उ, चउहा ते पकित्तिया ।
बेइंदिया तेइंदिया, चउरो पंचिंदिया चेव ॥ १२७॥



- जे - जो, **उराला** - उदार-प्रधान, **तसा** - त्रस हैं, **ते** - वे, **चउहा** - चार प्रकार के, **पकित्तिया** - कहे गये हैं । यथा - **बेइंदिया**- बेइन्द्रिय, **तेइंदिया** - त्रीन्द्रिय, **चउरो** - चतुरिन्द्रिय, **उ, चेव** - और, **पंचिंदिया** - पञ्चेन्द्रिय ॥ १२७ ॥

बेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥ १२८ ॥

- जे - जो, **बेइंदिया** - बेइन्द्रिय, **जीवा** - जीव हैं, **ते** - वे, **दुविहा** - दो प्रकार के, **पकित्तिया** - कहे गये हैं । यथा - **पज्जत्तं** - पर्याप्त और **अपज्जत्ता** - अपर्याप्त । **उ** - अब, **तेसिं** - उनके, **भेए** - भेद, **मे** - मुझसे, **सुणेह** - सुनो ॥ १२८ ॥

किमिणो सोमंगला चेव, अलसा माइवाहया ।
वासीमुहा य सिप्पीया, संखा संखणगा तहा ॥१२९॥
पल्लोयाणुल्लया चेव, तहेव य वराडगा ।
जलूगा जालगा चेव, चंदणा य तहेव य ॥ १३० ॥
इह बेइंदिया एए, णेगहा एवमायओ ।
लोगेगदेसे ते सव्वे, ण सव्वत्थ वियाहिया ॥१३१॥

- किमिणो - कृमि (विष्ठादि में उत्पन्न होने वाले कीड़े) **सोमंगला** - सुमंगल, **अलसा** - अलसिया (वर्षा के समय उत्पन्न होने वाला जीव) **माइवाहया** - मातृवाहक (काष्ठादि में लगने वाला घुन) **वासीमुहा** - वासीमुख, **सिप्पिया** - सीप, **संखा** - शंख, **संखणगा** - शंखानक (शंख के आकार के छोटे जीव) **पल्लोया** - पल्लक, **अणुल्लया** - अनुल्लक, **वराडगा** - वराटक (कौड़ी) **जलूगा** - जोंक, **जालगा** - जालक, **चेव, य, तहा, चेव, व य, तहेव य** - और, **चंदणा** - चंदनिया । **इइ** - इस प्रकार,

☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆

एए - ये, **एवमायओ** - इत्यादि, **बेइंदिया** - द्वीन्द्रिय जीव, **अणेगहा** - अनेक प्रकार के हैं, **ते** - वे **सव्वे** - सभी, **लोगेगदेसे**- लोक के एक देश में, **वियाहिया** - कहे गये हैं, किन्तु, **ण सव्वत्थ**- सर्वत्र व्याप्त नहीं है ॥ १२९-१३१ ॥

विवेचन - उपरोक्त बेइन्द्रिय जीवों में जो नाम बताये हैं उनमें कितनेक प्रसिद्ध हैं और कितनेक अप्रसिद्ध हैं ।

संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य ॥ १३२॥

- द्वीन्द्रिय जीव, **संतइं** - संतति की, **पप्प** - अपेक्षा, **अणाइया** - अनादि **य** - और, **अपज्जवसिया वि** - अपर्यवसित- अनन्त हैं, **य** - और, **ठिइं** - स्थिति की, **पडुच्च** - अपेक्षा, **साइया**- सादि और **सपज्जवसिया वि** - सपर्यवसित-सान्त हैं ॥ १३२ ॥

वासाइं बारसा चेव, उक्कोसेण वियाहिया ।
बेइंदिय-आउठिई, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥ १३३॥

- **बेइंदिय** - द्वीन्द्रिय जीवों की, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट, **आउठिई** - आयुस्थिति (भवस्थिति), **बारसा** - बारह, **वासाइं** - वर्ष है, **चेव** - और, **जहण्णिया** - जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त है ॥ १३३ ॥

संखिज्जकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ।
बेइंदिय कायठिई, तं कायं तु अमुंचओ ॥ १३४॥

- **तं कायं** - उस काय को, **अमुंचओ** - न छोड़ने वाले अर्थात् द्वीन्द्रिय जीव यदि द्वीन्द्रिय जाति में ही जन्म-मरण करते रहें तो, **बेइंदिय** - उन द्वीन्द्रिय जीवों की, **कायठिई** - काय स्थिति,

उत्कृष्ट, **संखिज्जकालं** - संख्यात काल है ॥ १३४ ॥

जहण्णिया - जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त और, **उक्कोसा** -

विवेचन - बेइन्द्रिय जीवों की यह कायस्थिति है । मूल में '**संखिज्जकालं**' दिया है, जिसका अर्थ संख्याता हजारों वर्ष समझना चाहिये । इसी प्रकार आगे की गाथाओं में तेइन्द्रिय और चउरिन्द्रिय जीवों की कायस्थिति संख्याता हजारों वर्ष की समझनी चाहिये ।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं ।
बेइंदिय-जीवाणं, अंतरं च वियाहियं ॥ १३५ ॥

बेइंदिय जीवाणं - द्वीन्द्रिय जीवों का, **जहण्णयं** - जघन्य, **अंतरं** - अन्तर, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त, **च** - और, **उक्कोसं** - उत्कृष्ट, **अणंतकालं** - अनन्त काल का, **वियाहियं** - कहा गया है ॥ १३५ ॥

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१३६॥

एएसिं- इन द्वीन्द्रिय जीवों के, **वण्णओ** - वर्ण की, **गंधओ** - गन्ध की, **रसफासओ** - रस की, स्पर्श की, **चेव, वावि**- और, **संठाणादेसओ**- संस्थान की अपेक्षा, **सहस्ससो** - सहस्रश- हजारों, **विहाणाइं** - विधान-भेद होते हैं ॥ १३६ ॥

तेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥ १३७ ॥

तेइंदिया - तेइन्द्रिय **जे** - जो, **जीवा** - जीव हैं, **ते** - वे, **पज्जत्तं** - पर्याप्त और **अपज्जत्ता** - अपर्याप्त के भेद से, **दुविहा** - दो प्रकार के, **पकित्तिया** - कहे गये हैं । **उ** - अब, **मे** - मुझसे, **तेसिं**- उनके, **भेए** - भेदों को, **सुणेह** - सुनो ॥ १३७ ॥



कुंथुपिवीलिउड्डंसा, उक्कलुद्देहिया तहा ।
तणहारा कट्ठहारा य, मालूगा पत्तहारगा ॥ १३८ ॥
कप्पासट्ठिम्मिजाया, तिंदुगा तउसमिंजगा ।
सदावरी य गुम्मी य, बोधव्वा इंदगाइया ॥ १३९ ॥
इंदगोवगमाइया, णेगहा एवमायओ ।
लोगेगदेसे ते सव्वे, ण सव्वत्थ वियाहिया ॥ १४० ॥

- **कुंथु** - कुन्थवा, **पिवीलि** - पिपीलिका (कीड़ी) **उड्डंसा**- उद्दंस (चांचड़) **उक्कल** - उत्कलिक, **उद्देहिया** - उदई, **तणहारा**- तृणहारक, **कट्ठहारा** - काष्ठहारक, **मालूगा** - मालूक, **पत्तहारगा**- पत्रहारक, **कप्पासट्ठिम्मि-जाया** - कपास के बीज में उत्पन्न होने वाले जीव, **तिंदुगा** - तिन्दुक, **तउसमिंजगा** - त्रपूष मिंजक, **सदावरी** - सदावरी, **गुम्मी** - गुल्मी (कानखजूरा) **इंदगाइया** - इन्द्रकायिक, **तहा य, य, य** - और, **इंदगोवगं** - इन्द्रगोप, **आइया**- आदि, **एवमायओ** - इस प्रकार और भी, **अणेगहा** - अनेक प्रकार के तेइन्द्रिय जीव, **बोधव्वा** - जानने चाहिए । **ते** - वे, **सव्वे** - सब, **लोगेगदेसे** - लोक के एक देश में, **वियाहिया** - कहे गये हैं किन्तु, **ण सव्वत्थ**- सर्वत्र नहीं हैं ॥ १४० ॥

विवेचन - उपरोक्त नामों में से कुछ नाम प्रसिद्ध हैं, कुछ नाम अप्रसिद्ध हैं ।

संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य ॥ १४१ ॥

- ये सभी तेइन्द्रिय जीव, **संतइं** - सन्तति की, **पप्प** - अपेक्षा, **अणाइया** - अनादि-जिनकी आदि नहीं, **य** - और,

☆☆

अपज्जवसिया वि - अपर्यवसित-अनन्त हैं, **य** - और, **ठिइं** - स्थिति की, **पडुच्च** - अपेक्षा, **साइया**- सादि-आदि सहित और, **सपज्जवसिया वि** - सान्त-अन्त सहित हैं ॥ १४१ ॥

एगूणपण्णहोरत्ता, उक्कोसेण वियाहिया ।
तेइंदिय-आउठिई, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१४२॥

- **तेइंदिय** - तेइन्द्रिय जीवों की, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट, **आउठिई** - आयु-स्थिति, **एगूणपण्णहोरत्ता** - उनपचास अहोरात्र (रात्रि-दिन) है और, **जहण्णिया** - जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त की, **वियाहिया** - कही गई है ॥ १४२ ॥

संखिज्जकालमुक्कोसा, अंतोमहुत्तं जहण्णिया ।
तेइंदिय-कायठिई, तं कायं तु अमुंचओ ॥ १४३ ॥

- **तं** - उस, **कायं** - काया को, **अमुंचओ** - न छोड़ने वाले, **तेइंदिय** - तेइन्द्रिय जीवों की, **उक्कोसा** - उत्कृष्ट, **कायठिई** - कायस्थिति **संखिज्जकालं** - संख्यात काल (संख्याता हजारों वर्षों) की है, **तु** - और **जहण्णिया** - जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥ १४३ ॥

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं ।
तेइंदिय-जीवाणं, अंतरं तु वियाहियं ॥ १४४ ॥

- **तेइंदिय जीवाणं** - तेइन्द्रिय जीवों का, **उक्कोसं** - उत्कृष्ट, **अंतरं** - अन्तरकाल, **अणंतकालं** - अनन्त काल का है और **जहण्णयं** - जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त का है ॥ १४४॥

विवेचन - यह अनन्तकाल वनस्पति के अन्तर्गत निगोद की अपेक्षा समझना चाहिये ।



एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १४५ ॥

- **एएसिं** - इन तेइन्द्रिय जीवों के, **वण्णओ** - वर्ण से, **गंधओ** - गन्ध से, **रसफासओ** - रस से, स्पर्श से, **चेव, वा** - और, **संठाणादेसओ** - संस्थान की अपेक्षा से, **वि** - भी, **सहस्ससो** - सहस्रश-हज़ारों, **विहाणाइं** - भेद होते हैं ॥ १४५ ॥

चउरिंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥ १४६ ॥

- **जे** - जो, **जीवा** - जीव, **चउरिंदिया** - चौरिन्द्रिय (शरीर, रसना, घ्राण और चक्षु इन चार इन्द्रियों वाले) हैं, **ते** - वे, **दुविहा** - दो प्रकार के, **पकित्तिया** - कहे गये हैं । यथा - **पज्जत्तं** - पर्याप्त और **अपज्जत्ता** - अपर्याप्त, **उ** - अब, **मे** - मुझसे, **तेसिं** - उनके, **भेए**- भेद, **सुणेह** - सुनो ॥ १४६ ॥

अंधिया पोत्तिया चेव, मच्छिया मसगा तहा ।
भमरे कीडपयंगे य, ढिंकुणे कुंकणे तहा ॥ १४७ ॥
कुक्कुडे सिंगिरीडी य, णंदावत्ते य विच्छुए ।
डोले भिंगिरीडी य, विरिली अच्छिवेहए ॥ १४८ ॥
अच्छिले माहले अच्छि, रोडए विचित्ते चित्तपत्तए ।
ओहिंजलिया जलकारी य, णियया तंबगाइया ॥
इय चउरिंदिया एए, णेगहा एवमायओ ।
लोगेगदेसे ते सव्वे, ण सव्वत्थ वियाहिया ॥१५० ॥

- चतुरिन्द्रिय जीवों के भेद - **अंधिया** - अन्धिक, **पोत्तिया**- पोतिक, **मच्छिया** - मक्षिका (मक्खी) **मसगा** - मशक-मच्छर,

भमरे - भ्रमर, **कीड** - कीड़ा, **पयंगे** - पतंगिया, **ढिंकुणे** - ढिंकुण, **कुंकणे** - कुंकण, **कुक्कुडे** - कुक्कुट, **सिंगिरीडी** - सिंगरीटी, **णंदावत्ते** - नन्दावर्त्त, **विच्छुए** - बिच्छू, **डोले** - डोला, **भिंगिरीडी** - भृंगरिटी (झिंगुर) **विरिली** - विरली, **अच्छिवेहए** - अक्षिवेधक (आंख फोड़ा) **अच्छिले** - अक्षिल, **माहले** - माहल, **अच्छिरोडए** - अक्षिरोड़क, **विचित्ते** - विचित्र, **चित्तपत्तए** - चित्रपत्रक, (रंग बिरंगी तितलियाँ) **ओहिंजलिया** - उपधिजलक, **जलकारी** - जलकारी, **णियया** - नीनिक-नीचक, **चेव, तहा, य**- और, **तंबग** - तंबक-ताम्रक, **आइया** - आदि **इय एवमायओ** - इस प्रकार और भी **एए** - ये, **चउरिंदिया** - चतुरिन्द्रिय जीव **अणेगहा** - अनेक प्रकार के हैं **ते** - वे, **सव्वे** - सब, **लोगेगदेसे** - लोक के एक देश में व्याप्त हैं किन्तु, **सव्वत्थ** - सर्वत्र, **ण** - नहीं, **वियाहिया** - कहे गये हैं ॥ १४७-१५० ॥

विवेचन - इन नामों में से कितनेक प्रसिद्ध नाम हैं, कितनेक अप्रसिद्ध नाम हैं ।

संतइं पप्प णाइया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य ॥ १५१ ॥

- **संतइं** - प्रवाह की, **पप्प** - अपेक्षा चतुरिन्द्रिय जीव, **अणाइया** - अनादि, **य** - और, **अपज्जवसिया** - अपर्यवसित-अनन्त **वि** - भी हैं, **य**- और, **ठिइं** - स्थिति की, **पडुच्च** - अपेक्षा, **साइया** - सादि और, **सपज्जवसिया** - सपर्यवसित-सान्त **वि** - भी हैं ॥ १५१ ॥

छच्चेव य मासा उ, उक्कोसेण वियाहिया ।
चउरिंदिय आउठिई, अंतोमुहुत्तं जहण्णया ॥ १५२ ॥



- चउरिंदिय - चतुरिन्द्रिय जीवों की, उक्कोसेण - उत्कृष्ट, आउठिई - आयु-स्थिति, छच्चेव - छह, मासा - महीने की, य - और, जहण्णिया - जघन्य, अंतोमुहुत्तं - अन्तर्मुहूर्त्त की, वियाहिया - कही गई है ॥ १५२ ॥

संखिज्जकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णियं ।
चउरिंदिय कायठिई, तं कायं तु अमुंचओ ॥ १५३ ॥

- तं - उस, कायं - काया को, अमुंचओ - न छोड़ने वाले चउरिंदिय - चतुरिन्द्रिय जीवों की, उक्कोसा - उत्कृष्ट, कायठिई- कायस्थिति, संखिज्जकालं - संख्यात काल (संख्यात हजारों वर्ष) और, जहण्णिया - जघन्य, अंतोमुहुत्तं - अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥१५३ ॥

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं ।
विजढम्मि सए काए, अंतरं च वियाहियं ॥ १५४ ॥

- सए - अपनी, काए - काया को, विजढम्मि - छोड़ने पर चतुरिन्द्रिय जीवों का, उक्कोसं - उत्कृष्ट, अंतरं - अन्तर, अणंतकालं - अनन्त काल का है, च - और, जहण्णयं - जघन्य, अंतोमुहुत्तं - अन्तर्मुहूर्त्त का है ॥ १५४ ॥

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १५५ ॥

- एएसिं - इन चतुरिन्द्रिय जीवों के, वण्णओ - वर्ण से, गंधओ - गन्ध से, रसफासओ - रस से, स्पर्श से, चेव, वा - और, संठाणादेसओ - संस्थान की अपेक्षा से, वि - भी, सहस्ससो - सहस्रश-हजारों, विहाणाइं - भेद होते हैं ॥ १५५ ॥

पंचिंदिया उ जे जीवा; चउव्विहा ते वियाहिया ।
णेरइया तिरिक्खा य, मणुया देवा य आहिया ॥

– **जे** – जो, **जीवा** – जीव, **पंचिंदिया** – पञ्चेन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कान, इन पाँच इन्द्रियों वाले हैं) **ते** – वे, **चउव्विहा** – चार प्रकार के, **वियाहिया** – कहे गये हैं । **णेरइया** – नैरयिक, **तिरिक्खा** – तिर्यञ्च, **मणुया** – मनुज-मनुष्य, **य** – और, **देवा** – देव ॥ १५६ ॥

णेरइया सत्तविहा, पुढवीसु सत्तसु भवे ।
रयणाभा सक्कराभा, वालुयाभा य आहिया ॥१५७॥
पंकाभा धूमाभा, तमा तमतमा तहा ।
इइ णेरइया एए, सत्तहा परिकित्तिया ॥ १५८ ॥

– **णेरइया** – नैरयिक जीव, **सत्तविहा** – सात प्रकार के, **आहिया** – कहे गये हैं जो, **सत्तसु** – सात, **पुढवीसु** – पृथ्वियों में, **भवे** – होते हैं । उन सात पृथ्वियों के गोत्र इस प्रकार हैं :-

रयणाभा – रत्नप्रभा, **सक्कराभा** – शर्कराप्रभा, **वालुयाभा** – बालुकाप्रभा, **पंकाभा** – पंकप्रभा, **धूमाभा** – धूमप्रभा, **तमा** – तमः प्रभा, **य, तहा** – और, **तमतमा** – तमस्तमा प्रभा, **इइ** – इस प्रकार, **एए** – ये, **सत्तहा** – सात प्रकार के, **णेरइया** – नैरयिक, **परिकित्तिया** – कहे गये हैं ॥ १५८ ॥

घम्मा वंसगा सिला, तहा अंजणरिट्ठगा ।
मघा माघवई चेव, णारया य वियाहिया ॥ १५९ ॥
रयणाइगोत्तओ चेव, तहा घम्माइ णामओ ।
इइ णेरइया एए, सत्तहा परिकित्तिया ॥ १६० ॥

विवेचन – ये दो गाथायें किन्हीं किन्हीं प्रतियों में हैं इसलिये उपयोगी समझ कर यहां रख दी गई हैं ।

– **घम्मा** – घम्मा, **वंसगा** – वंशा, **सिला** – शिला, **अंजणा**-

✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡✡

अंजणा, **रिट्ठगा** - रिष्ठा, **मघा** - मघा, **तहा चेव, य** - और, **माघवई**- माघवती ये सात, **णारया** - नरकों के नाम, **वियाहिया** - कहे गये हैं। **रयणाइ** - रत्नप्रभा आदि तो नरकों के, **गोत्तओ** - गोत्र हैं, **चेव, तहा** - और, **घम्माइ** - घम्मा आदि नरकों के, **णामओ** - नाम हैं। **इइ** - इस प्रकार, **एए** - ये, **सत्तहा**- सात प्रकार के, **णेरइया** - नैरयिक, **परिकित्तिया** - कहे गये हैं ॥ १५९-१६० ॥

लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे उ वियाहिया ।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥ १६१ ॥

- **ते** - वे, **सव्वे** - सब, **लोगस्स** - लोक के, **एगदेसम्मि** - एक देश में, **वियाहिया** - कहे गये हैं, **तु** - अब, **इत्तो** - इसके आगे, **तेसिं** - उनका, **चउव्विहं** - चार प्रकार का, **कालविभागं** - कालविभाग, **वुच्छं** - कहूँगा ॥ १६१ ॥

संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया य ॥ १६२ ॥

- **संतइं** - प्रवाह की, **पप्प** - अपेक्षा नैरयिक जीव, **अणाइया** - अनादि, **य** - और, **अपज्जवसिया वि** - अपर्यवसित- अनन्त हैं, **य**- और, **ठिइं** - स्थिति की, **पडुच्च** - अपेक्षा, **साइया**- सादि और, **सपज्जवसिया वि** - सपर्यवसित-सान्त हैं ॥ १६२ ॥

सागरोवममेगं तु, उक्कोसेण वियाहिया ।
पढमाए जहण्णेणं, दसवाससहस्सिया ॥ १६३ ॥

- **पढमाए** - पहली नरक में, **जहण्णेणं** - जघन्य स्थिति, **दसवाससहस्सिया** - दस हजार वर्ष की है और, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट, **एगं** - एक, **सागरोवमं** - सागरोपम की है ॥ १६३ ॥



तिण्णेव सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
दोच्चाए जहण्णेणं, एगं तु सागरोवमं ॥ १६४ ॥

– **दोच्चाए** – दूसरी नरक में, **जहण्णेणं** – जघन्य-स्थिति, **एगं** – एक, **सागरोवमं** – सागरोपम की और **उक्कोसेण** – उत्कृष्ट, **तिण्णेव** – तीन **सागराऊ** – सागरोपम की, **वियाहिया** – कही गई है ॥ १६४ ॥

सत्तेव सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
तइयाए जहण्णेणं, तिण्णेव सागरोवमा ॥ १६५ ॥

– **तइयाए** – तीसरी नरक में, **जहण्णेणं** – जघन्य स्थिति, **तिण्णेव** – तीन, **सागरोवमा** – सागरोपम की है और, **उक्कोसेण**– उत्कृष्ट, **सत्तेव** – सात, **सागराऊ** – सागरोपम की, **वियाहिया** – कही गई है ॥ १६५ ॥

दस सागरोवमाऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
चउत्थीए जहण्णेणं, सत्तेव सागरोवमा ॥ १६६ ॥

– **चउत्थीए** – चौथी नरक में, **जहण्णेणं** – जघन्य-स्थिति, **सत्तेव** – सात, **सागरोवमाऊ** – सागरोपम की, **वियाहिया** – कही गई है ॥ १६६ ॥

सत्तरस सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
पंचमाए जहण्णेणं, दस चेव सागरोवमा ॥ १६७ ॥

– **पंचमाए** – पाँचवीं नरक में, **जहण्णेणं** – जघन्य स्थिति, **दस** – दस, **सागरोवमा** – सागरोपम की है, **चेव** – और, **उक्कोसेण** – उत्कृष्ट, **सत्तरस** – सतरह, **सागराऊ** – सागरोपम की, **वियाहिया** – कही गई है ॥ १६७ ॥



बावीस सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
छट्ठीए जहण्णेणं, सत्तरस सागरोवमा ॥ १६८ ॥

- **छट्ठीए** - छठी नरक में, **जहण्णेणं** - जघन्य-स्थिति, **सत्तरस** - सतरह, **सागरोवमा** - सागरोपम की है और, **उक्कोसेण**- उत्कृष्ट, **बावीस** - बाईस, **सागराऊ** - सागरोपम की, **वियाहिया**- कही गई है ॥ १६८ ॥

तेत्तीसं सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।
सत्तमाए जहण्णेणं, बावीसं सागरोवमा ॥ १६९ ॥

- **सत्तमाए** - सातवीं नरक में, **जहण्णेणं** - जघन्य-स्थिति, **बावीस** - बाईस, **सागरोवमा** - सागरोपम की है और, **उक्कोसेण**- उत्कृष्ट, **तेत्तीसं** - तेतीस, **सागराऊ** - सागरोपम की, **वियाहिया** - कही गई ॥ १६९ ॥

जा चेव य आउठिई, णेरइयाणं वियाहिया ।
सा तेसिं कायठिई, जहण्णुक्कोसिया भवे ॥१७०॥

- **णेरइयाणं** - नैरयिक जीवों की, **जा** - जो, **जहण्णुक्कोसिया** - जघन्य और उत्कृष्ट, **आउठिई** - आयुस्थिति, **वियाहिया** - कही गई है, **सा** - वही, **तेसिं** - उन जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट, **कायठिई** - कायस्थिति, **भवे** - होती है ॥ १७० ॥

विवेचन - नैरयिक की जो भवस्थिति है उसी को कायस्थिति बताया है । क्यों कि उनकी कायस्थिति बन नहीं सकती है । नैरयिक जीव मर कर फिर दूसरे भव में नैरयिक नहीं बन सकता है । इसलिये कायस्थिति नहीं बनती ।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं ।
विजढम्मि सए काए, णेरइयाणं तु अंतरं ॥ १७१ ॥

☆☆

- **सए** - अपनी, **काए** - काया को, **विजढम्मि** - छोड़ देने पर, **णेरइयाणं** - नैरयिक जीवों का, **उक्कोसं** - उत्कृष्ट, **अंतरं** - अन्तर, **अणंतकालं** - अनन्त काल का है और, **जहण्णयं** - जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त का है ॥ १७१ ॥

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १७२ ॥

- **एएसिं** - इन नरक जीवों के, **वण्णओ** - वर्ण से, **गंधओ**- गन्ध से, **रसफासओ** - रस से, स्पर्श से, **चेव, वा** - और, **संठाणादेसओ**- संस्थान की अपेक्षा से, **वि** - भी, **सहस्ससो** - सहस्रश-हजारों, **विहाणाइं** - भेद हो जाते हैं ॥ १७२ ॥

पंचिंदियतिरिक्खाओ, दुविहा ते वियाहिया ।
सम्मुच्छिम-तिरिक्खाओ, गब्भवक्कंतिया तहा ॥

- जो, **पंचिंदियतिरिक्खाओ** - पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च हैं, **ते** - वे, **दुविहा** - दो प्रकार के, **वियाहिया** - कहे गये हैं । **सम्मुच्छिमतिरिक्खाओ** - सम्मूर्च्छिम तिर्यञ्च, **तहा** - और, **गब्भवक्कंतिया** - गर्भव्युत्क्रान्तिक (गर्भज) तिर्यञ्च ॥ १७३ ॥

दुविहा ते भवे तिविहा, जलयरा थलयरा तहा ।
णहयरा य बोधव्वा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥ १७४ ॥

- **दुविहा** - दो प्रकार के **ते** - उन तिर्यञ्चों के भी प्रत्येक के, **तिविहा** - तीन-तीन भेद, **बोधव्वा** - जानने चाहिये । यथा - **जलयरा** - जलचर, **थलयरा** - स्थलचर, **य, तहा** - और, **णहयरा** - नभचर (खेचर) अब, **तेसिं** - उनके, **भेए** - भेदों को, **मे** - मुझसे, **सुणेह** - सुनो ॥ १७४ ॥



मच्छा य कच्छभा य, गाहा य मगरा तहा ।
सुंसुमारा य बोधव्वा, पंचहा जलयराहिया ॥१७५॥

- **जलयरा** - जलचर जीव, **पंचहा** - पञ्चधा-पाँच प्रकार के, **आहिया** - कहे गये हैं, वे इस प्रकार, **बोधव्वा** - जानने चाहिए। यथा - **मच्छा** - मच्छ, **कच्छभा** - कच्छप (कच्छुआ) **गाहा** - ग्राह, **मगरा** - मकर, **य, य, य, तहा, य** - और, **सुंसुमारा** - सुंसुमार ॥ १७५ ॥

लोएगदेसे ते सव्वे, ण सव्वत्थ वियाहिया ।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥ १७६ ॥

- **ते** - वे, **सव्वे** - सभी जलचर जीव, **लोएगदेसे** - लोक के एक देश में, **वियाहिया** - कहे गये हैं, **ण सव्वत्थ** - वे सर्वत्र नहीं हैं । **तु** - अब, **इत्तो** - आगे, **तेसिं** - उन जीवों के, **चउव्विहं** - चार प्रकार के, **कालविभागं** - कालविभाग को, **वुच्छं**- कहूँगा ॥ १७६ ॥

संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य ॥ १७७ ॥

- **संतइं** - संतति-प्रवाह की, **पप्प** - अपेक्षा वे जलचर जीव, **अणाइया** - अनादि, **य** - और, **अपज्जवसिया** - अपर्यवसित-अनन्त, **वि** - भी हैं । **य** - और, **ठिइं** - स्थिति की, **पडुच्च** - अपेक्षा, **साईया** - सादि और, **सपज्जवसिया** - सपर्यवसित-सान्त, **वि** - भी हैं ॥ १७७ ॥

एगा य पुव्वकोडी उ, उक्कोसेण वियाहिया ।
आउठिई जलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१७८॥

- **जलयराणं** - जलचर जीवों की, **जहण्णिया** - जघन्य,



आउठिई - आयु-स्थिति **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त की, **य, उ** - और, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट, **एगा** - एक, **पुव्वकोडी** - पूर्व-करोड़ वर्ष की, **वियाहिया** - कही गई है ॥ १७८ ॥

पुव्वकोडिपुहत्तं तु, उक्कोसेण वियाहिया ।
कायठिई जलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥

- **जलयराणं** - जलचर जीवों की, **जहण्णिया** - जघन्य, **कायठिई** - काय-स्थिति, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त और, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट, **पुव्वकोडिपुहत्तं** - पृथक्त्व पूर्व-करोड़ वर्ष की, **वियाहिया** - कही गई है ॥ १७९ ॥

विवेचन - पुहत्त- 'पृथक्त्व' यह पारिभाषिक शब्द है । 'पुहत्तं' शब्द की संस्कृत छाया 'पृथक्त्व' होती है। उसका हिन्दी में अर्थ अनेक होता है अर्थात् 'पृथक्त्व' बहुवाची होता है। इसका प्रत्येक अर्थ नहीं करना। पुहत्तं अनेक अर्थ करने में आगम से कहीं बाधा नहीं आती है। सामान्यतया परंपरा से 'पुहुत्तं' का अर्थ २ से ९ करते हैं वह प्रायिक है। आगम के अनेक सूत्र पाठों के द्वारा 'पुहुत्त' शब्द का अर्थ दो से अनन्त तक हो सकता है। कम से कम दो समझना अधिक में प्रसंगानुसार ९ एवं उनसे कम ज्यादा का भी ग्रहण हो सकता है। अतः 'पुहुत्तं' शब्द का अर्थ 'अनेक' या 'बहुत' करना उचित एवं संगत लगता है। 'अनेक' अर्थ में शास्त्रकारों की इष्ट संख्या का ग्रहण हो जाता है। उत्कृष्ट संख्या ९ आदि निश्चित करने पर अनेक बाधाएं आती है। 'अनेक' अर्थ करने पर 'अपसिद्धान्त दोष परिहरण' हो जाता है।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं ।
विजढम्मि सए काए, जलयराणं अंतरं ॥ १८० ॥

- **सए** - अपनी, **काए** - काया को, **विजढम्मि** - छोड़ कर



पुनः प्राप्त करने का, **जलयराणं** - जलचर जीवों का, **जहण्णयं** - जघन्य, **अंतरं** - अन्तर, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त का और, **उक्कोसं**- उत्कृष्ट, **अणंतकालं** - अनन्तकाल का है ॥ १८० ॥

विवेचन - यहाँ असंख्यात पुद्गल परावर्तन को अनन्त काल कहा है ।

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१८१॥

- **एएहिं** - इन जलचर जीवों के, **वण्णओ** - वर्ण से, **गंधओ** - गन्ध से, **रसफासओ** - रस से, स्पर्श से, **चेव, वा** - और, **संठाणादेसओ** - संस्थान की अपेक्षा से, **वि**-भी, **सहस्ससो**- सहस्रश-हजारों, **विहाणाइं** - विधान-भेद हो जाते हैं ॥ १८१ ॥

चउप्पया य परिसप्पा, दुविहा थलयरा भवे ।
चउप्पया चउव्विहा, ते मे कित्तयओ सुण ॥१८२॥

- **थलयरा** - स्थलचर जीव, **दुविहा** - दो प्रकार के, **भवे** - होते हैं । यथा - **चउप्पया** - चतुष्पद, **य** - और, **परिसप्पा**- परिसर्प, **चउप्पया** - इनमें चतुष्पद जीव, **चउव्विहा** - चार प्रकार के हैं। अब, **मे** - मैं, **ते** - उनका, **कित्तयओ** - कीर्तन-वर्णन करता हूँ, **सुणेह** - तुम ध्यानपूर्वक सुनो ॥ १८२ ॥

एगखुरा दुखुरा चेव, गंडीपया सणप्पया ।
हयमाइ गोणमाइ, गयमाइ सीहमाइणो ॥१८३॥

- **एगखुरा** - एक खुर वाले जैसे, **हयमाइ** - हय आदि घोड़ा गदहा आदि, **दुखुरा** - दो खुर वाले, जैसे, **गोणमाइ** - गो आदि- गाय, बैल आदि, **गंडीपया** - गंडीपद (सुनार की एरण अथवा कमल की कर्णिका के समान गोल पाँव वाले जीव) जैसे, **गयमाइ** - गज आदि-हाथी आदि, **चेव**- और, **सणप्पया**-

☆☆☆

सणहप्पया - सनखपदा (जिनके पाँवों में नख हों) जैसे, **सीहमाइणो** - सिंह, कुत्ता, बिल्ली आदि ॥ १८३ ॥

भुओरगपरिसप्पा य, परिसप्पा दुविहा भवे ।
गोहाइ अहिमाइ य, एक्केक्का णेगहा भवे ।१८४।

- **परिसप्पा** - परिसर्प, **दुविहा** - दो प्रकार के, **भवे** - होते हैं **भुअ** - भुजपरिसर्प, जैसे, **गोहाइ** - गोह, नकुल, चूहे आदि, **य** - और, **उरगपरिसप्पा** - उरःपरिसर्प, जैसे, **अहिमाइ** - अहि आदि-साँप आदि। **य** - और, **एक्केक्का** - इन प्रत्येक के, **अणेगहा** - अनेकधा-अनेक भेद, **भवे** - होते हैं ॥ १८४ ॥

लोएगदेसे ते सव्वे, ण सव्वत्थ वियाहिया ।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥१८५ ॥

- **ते** - वे, **सव्वे** - सब स्थलचर जीव, **लोएगदेसे** - लोक के एक देश में व्याप्त हैं, **ण सव्वत्थ** - सर्वत्र नहीं है, ऐसा, **वियाहिया**-कहा गया है। **तु** - अब, **इत्तो** - इसके आगे, **तेसिं** - उन जीवों के, **चउव्विहं** - चार प्रकार के, **कालविभागं** - काल विभाग को, **वुच्छं** - कहूँगा ॥ १८५ ॥

संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य ॥१८६ ॥

- **संतइं** - प्रवाह की, **पप्प** - अपेक्षा स्थलचर जीव, **अणाइया** - अनादि, **य** - और, **अपज्जवसिया** - अपर्यवसित-अनन्त, **वि** - भी हैं । **य** - और, **ठिइं** - स्थिति की, **पडुच्च** - अपेक्षा, **साईया** - सादि और, **सपज्जवसिया** - सपर्यवसित-सान्त, **वि** - भी है ॥ १८६ ॥

◊◊

पलिओवमाइं तिण्णि उ, उक्कोसेण वियाहिया ।
आउठिई थलयराणं,अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१८७॥

थलयराणं - स्थलचर जीवों की, **जहण्णिया** - जघन्य, **आउठिई** - आयुस्थिति, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त की, **उ** - और, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट, **तिण्णि** - तीन, **पलिओवमाइं** - पल्योपम की, **वियाहिया** - कही गई है ॥१८७॥

विवेचन - तीन पल्योपम की स्थिति युगलिक की अपेक्षा समझनी चाहिये ।

पलिओवमाइं तिण्णि उ, उक्कोसेण वियाहिया ।
पुव्वकोडीपुहत्तेणं, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ।
कायठिई थलयराणं, अंतरं तेसिमं भवे ॥१८८॥

थलयराणं - स्थलचर जीवों की, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट, **कायठिई** - कायस्थिति, **तिण्णि** - तीन, **पलिओवमाइं** - पल्योपम सहित, **पुव्वकोडीपुहत्तेणं** - पृथक्त्व कोटि-पूर्व की, **उ**- और, **जहण्णिया** - जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त की, **वियाहिया** - कही गई है **तेसिमं** - उनका, **अंतरं** - अन्तरकाल निम्नलिखित **भवे** - है ॥१८८॥

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं ।
विजढम्मि सए काए, थलयराणं तु अंतरं ॥१८९॥

सए - अपनी, **काए** - काया को, **विजढम्मि** - छोड़ने पर **थलयराणं** - स्थलचर जीवों का, **उक्कोसं** - उत्कृष्ट **अंतरं** - अन्तर, **अणंतकालं**- अनन्तकाल का **तु** - और, **जहण्णयं** - जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त का है ॥१८९॥

विवेचन - भगवती सूत्र के २४ वें शतक में तथा उत्तराध्ययन



सूत्र के १० वें अध्ययन की तेरहवीं गाथा में बताया गया है कि - तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय जीव तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय के लगातार भव करे तो उत्कृष्ट ८ भव कर सकता है । यहाँ उत्कृष्ट स्थिति की अपेक्षा एक करोड़ पूर्व एक करोड़ पूर्व के ७ भव और आठवाँ भव युगलिक का तीन पल्योपम की स्थिति वाला करे तो सात करोड़ पूर्व सहित तीन पल्योपम की स्थिति उत्कृष्ट कायस्थिति बन सकती है ।

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ।।१९०॥

- **वण्णओ** - वर्ण से, **गंधओ** - गन्ध से, **रसफासओ** - रस से, स्पर्श से, **चेव, वा** - और, **वि** - भी, **संठाणादेसओ** - संस्थान की अपेक्षा, **एएसिं** - इन स्थलचर जीवों के, **सहस्ससो** - सहस्त्रश-हजारों, **विहाणाइं** - भेद हो जाते हैं ।। १९० ॥

चम्मे य लोमपक्खी य, तइया समुग्गपक्खिया ।
विययपक्खी य बोधव्वा, पक्खिणो य चउव्विहा ।

- **चम्मे** - चर्मपक्षी (जिनके पंख चमड़े के हों, जैसे चमगादड़ आदि) **लोमपक्खी** - रोमपक्षी (रोम के पंख वाले, जैसे राजहंस आदि) **तइया** - तीसरे, **समुग्गपक्खिया** - समुद्गकपक्षी (जिनके पंख सदैव बन्द रहते हैं) **य** - और, **विययपक्खी** - विततपक्षी (जिनके पंख सदैव खुले रहते हैं) इस प्रकार, **चउव्विहा** - चार प्रकार के, **पक्खिणो** - पक्षी, **बोधव्वा** - जानने चाहिए ।। १९१ ॥

विवेचन - समुद्गकपक्षी और विततपक्षी ये दोनों प्रकार के पक्षी मनुष्यक्षेत्र के बाहर के द्वीपसमुद्रों में होते हैं, यहाँ नहीं होते। अर्थात् ढाई द्वीप में चर्म पक्षी और रोमपक्षी ये दो तरह के ही पक्षी होते हैं । बाहर के द्वीप समुद्रों में चारों प्रकार के पक्षी होते हैं ।



लोएगदेसे ते सव्वे, ण सव्वत्थ वियाहिया ।

इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥१९२॥

- **ते** - वे, **सव्वे** - सभी पक्षी, **लोएगदेसे** - लोक के एक देश में, **वियाहिया** - कहे गये हैं, **ण सव्वत्थ** - वे सर्वत्र नहीं है। **तु** - अब, **इत्तो** - अब इसके आगे, **तेसिं** - उनका, **चउव्विहं** - चार प्रकार का, **कालविभागं** - कालविभाग, **वुच्छं** - कहूँगा ॥ १९२॥

संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य ।

ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य ॥१९३॥

- **संतइं** - संतति-प्रवाह की, **पप्प** - अपेक्षा से सभी पक्षी, **अणाइया** - अनादि, **य** - और, **अपज्जवसिया** - अपर्यवसित-अनन्त, **वि** - भी हैं, **य** - और, **ठिइं** - स्थिति की, **पडुच्च** - अपेक्षा, **साइया** - सादि और, **सपज्जवसिया** - सपर्यवसित-सान्त, **वि** - भी हैं ॥ १९३॥

पलिओवमस्स भागो, असंखेज्जइमो भवे ।

आउठिई खहयराणं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं ॥१९४॥

- **खहयराणं** - खहचर-खेचर जीवों की, **आउठिई** - उत्कृष्ट आयुस्थिति, **पलिओवमस्स** - पल्योपम का, **असंखेज्जइमो** - असंख्यातवां, **भागो** - भाग है और, **जहण्णयं** - जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त है ॥ १९४॥

असंखभागो पलियस्स, उक्कोसेण उ साहिया ।

पुव्वकोडि पुहत्तेणं, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१९५॥

कायठिई खहयराणं, अंतरं तेसिमं भवे ।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं ॥१९६॥



– **खहयराणं** – खहचर-खेचर जीवों की, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट, **कायठिई** – कायस्थिति, **पलियस्स** – पल्योपम का, **असंखभागो** – असंख्यातवां भाग, **साहिया** – अधिक, **पुव्वकोडीपुहत्तेणं** – पृथक्त्व पूर्व कोटि है, **जहण्णिया** – जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** – अन्तर्मुहूर्त्त है, **तेसिमं** – उनका, **उक्कोसं** – उत्कृष्ट, **अंतरं** – अन्तर, **अणंतकालं**– अनन्त काल का है और, **जहण्णयं** - जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** – अन्तर्मुहूर्त्त का है ।। १९५-१९६ ॥

विवेचन – तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रियों के पांच भेदों में से सिर्फ दो भेद वाले युगलिक भी होते हैं – स्थलचर और खेचर । खेचर की यह स्थिति युगलिक की अपेक्षा समझनी चाहिये ।

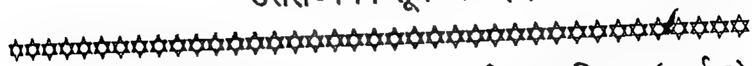
एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ।।१९७॥

– **वण्णओ** – वर्ण से, **गंधओ** – गन्ध से, **रसफासओ** - रस, स्पर्श, **चेव वा** – और, **संठाणादेसओ** – संस्थान की अपेक्षा से, **वि** – भी, **एएसिं** – इन पक्षियों के, **सहस्ससो** – सहस्त्रश-हजारों, **विहाणाइं** – विधान-भेद हो जाते हैं ।। १९७॥

मणुया दुविह भेया उ, ते मे कित्तयओ सुण ।
सम्मुच्छिमा य मणुया, गब्भवक्कंतिया तहा ।।

– **मणुया** – मनुज-मनुष्य, **दुविह** – दो, **भेया** – प्रकार के हैं, यथा – **सम्मुच्छिमा** – सम्मूर्च्छिम, **मणुया** – मनुष्य, **उ, य, तहा** – और, **गब्भवक्कंतिया** – गर्भव्युत्क्रान्तिक (गर्भज) **मे** - मैं, **ते** – उनका, **कित्तयओ** – कीर्तन-कथन करता हूँ अतः सावधान होकर, **सुण** – सुनो ।। १९८॥

गब्भवक्कंतिया जे उ, तिविहा ते वियाहिया ।
कम्मअकम्मभूमा य, अंतरदीवया तहा ।। १९९॥



- **जे** - जो, **गब्भवक्कंतिया** - गर्भव्युत्क्रान्तिक (गर्भज) मनुष्य हैं, **ते** - वे, **तिविहा** - तीन प्रकार के, **वियाहिया** - कहे गये हैं, **कम्मअकम्मभूमा** - कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज, **उ, य, तहा** - और, **अंतरदीवया** - अन्तरद्वीपिक ॥ १९९ ॥

पण्णरस-तीसइविहा, भेया दुअट्ठवीसइं ।
संखा उ कमसो तेसिं, इइ एसा वियाहिया ॥२००॥

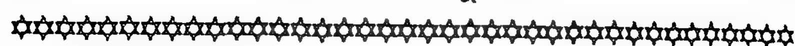
- **पण्णरस** - कर्मभूमि के पन्द्रह, **तीसइविहा** - अकर्मभूमि के तीस, **उ** - और, **दुअट्ठ-वीसइं भेया** - अन्तरद्वीप के छप्पन भेद, **इइ** - इस प्रकार, **तेसिं** - उनकी, **कमसो** - क्रमशः, **एसा** - यह, **संखा** - संख्या, **वियाहिया** - कही गई है ॥ २०० ॥

विवेचन - चुल्लहिमवान् पर्वत के पूर्व और पश्चिम विदिशा में २८ अन्तरद्वीप हैं, इसी प्रकार शिखरी पर्वत के पूर्व और पश्चिम विदिशा में भी अट्ठाईस अन्तर द्वीप हैं । सब मिला कर छप्पन अन्तरद्वीप हैं इसलिए गाथा में "**दुअट्ठवीसइं**" शब्द दिया है । अर्थात् अट्ठाईस को दो वक्त गिनना चाहिये । इससे ५६ की संख्या पूरी होती है । दूसरी प्रायः सब प्रतियों '**अट्ठवीसइं**' शब्द दिया है । इससे ज्ञात होता है कि वहाँ दूसरी तरफ के अन्तर द्वीपों को गौण कर दिया है ।

सम्मुच्छिमाण एसेव, भेओ होइ वियाहिओ ।
लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे वि वियाहिया ।२०१।

- **एसेव** - ये ही, **भेओ** - भेद, **सम्मुच्छिमाण** - सम्मूर्च्छिम मनुष्यों के, **होइ** - होते हैं ऐसा, **वियाहिओ** - कहा गया है, **ते** - वे, **सव्वे वि** - सभी मनुष्य, **लोगस्स** - लोक के, **एगदेसम्मि** - एक देश में, **वियाहिया** - कहे गये हैं ॥ २०१ ॥

विवेचन - **प्रश्न** - सम्मूर्च्छिम मनुष्य किसे कहते हैं ?



उसके कितने भेद हैं और उनका उत्पत्ति स्थान कहाँ है ?

उत्तर - बिना माता-पिता के उत्पन्न होने वाला अर्थात् स्त्री पुरुष के समागम के बिना ही उत्पन्न होने वाला जीव सम्मूर्च्छिम मनुष्य कहलाता है । ४५ लाख योजन परिमाण मनुष्य क्षेत्र में अढाई द्वीप और दो समुद्रों में, पन्द्रह कर्म भूमि, तीस अकर्मभूमि और छप्पन अन्तरद्वीपों में गर्भज मनुष्य रहते हैं । उनके मल मूत्र आदि में सम्मूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं । उनके उत्पत्ति के स्थान १४ हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं -

१. **उच्चारेसु** - विष्ठा में २. **पासवणेसु** - मूत्र में ३. **खेलेसु**- कफ में ४. **सिंघाणेसु** - नाक के मैल में ५. **वंतेसु** - वमन में ६. **पित्तेसु** - पित्त में ७. **पूएसु** - पीप, राध और दुर्गन्ध युक्त बिगड़े घाव से निकले हुए खून में ८. **सोणिएसु** - शोणित - खून में ९. **सुक्केसु** - शुक्र-वीर्य में १०. **सुक्कपुग्गल परिसाडेसु** - वीर्य आदि के सूखे हुए पुद्गलों के गीले होने में ११. **विगय-(ववगय) जीव कलेवरेसु** - जीवरहित शरीर में अर्थात् मरे हुए शरीर में १२. **थीपुरिस संजोएसु** - स्त्री पुरुष के संयोग में अर्थात् मैथुन सेवन करने में १३. **णगरणिद्धमणेसु** - नगर की मोरियां (गटरों) में १४. **सव्वेसु असुइट्ठाणेसु** - उपरोक्त तेरह बोल अथवा उससे कम बोल एक जगह इकट्ठे होने पर । जैसा कि अस्पतालों में खून, रस्सी, टट्टी, पेशाब आदि इकट्ठे हो जाते हैं उनमें सम्मूर्च्छिम मनुष्य पैदा होते हैं ।

मुँह में जो थूक है उसमें सम्मूर्च्छिम मनुष्य पैदा नहीं होते । थूक को तो अमी (अमृत) कहते हैं । इससे तो कई बीमारियाँ ठीक होती हैं इसलिये 'मुंहपत्ति बांधने में थूक लगता है और उसमें सम्मूर्च्छिम मनुष्य पैदा होते हैं' यह कहना आगम विरुद्ध है।



सम्मूर्च्छिम मनुष्य की अवगाहना अङ्गुल के असंख्यातवें भाग परिमाण होती है ये असंज्ञी, एकान्त मिथ्यादृष्टि और अज्ञानी होते हैं । इनका आयुष्य अन्तर्मुहूर्त का होता है । ये अपर्याप्त अवस्था में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं । (पण्णवणा पद १, अनुयोगद्वार)

संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य ।।२०२॥

– **संतइं** – संतति–प्रवाह की, **पप्प** – अपेक्षा सभी मनुष्य, **अणाइया**– अनादि, **य** – और, **अपज्जवसिया** – अपर्यवसित–अनन्त, **वि** – भी हैं, **ठिइं** – स्थिति की, **पडुच्च** – अपेक्षा, **साइया** – सादि, **य** – और, **सपज्जवसिया** – सपर्यवसित–सान्त, **वि** – भी हैं ।। २०२॥

पलिओवमाइं तिण्णि उ, उक्कोसेण वियाहिया ।
आउठिई मणुयाणं, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ।।२०३॥

– **मणुयाणं** – मनुज–मनुष्यों की, **उक्कोसेण** – उत्कृष्ट, **आउठिई**– आयुस्थिति, **तिण्णि** – तीन, **पलिओवमाइं** – पल्योपम की है और, **जहण्णिया** – जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** – अन्तर्मुहूर्त्त की, **वियाहिया** – कही गई है ।। २०३॥

विवेचन – मनुष्य का तीन पल्योपम का आयुष्य युगलिक मनुष्य की अपेक्षा समझना चाहिये ।

पलिओवमाइं तिण्णि उ, उक्कोसेण वियाहिया ।
पुव्वकोडिपुहत्तेणं, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ।।२०४॥
कायठिई मणुयाणं, अंतरं तेसिमं भवे ।
अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं ।।२०५॥



- **मणुयाणं** - मनुज-मनुष्यों की, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट, **कायठिई**- कायस्थिति, **तिण्णि** - तीन, **पलिओवमाइं** - पल्योपम सहित, **पुव्वकोडिपुहत्तेणं** - पृथक्त्व पूर्व-कोटि की है और, **जहण्णिया**- जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त की, **वियाहिया** - कही गई है । **तेसिमं** - उनका, **उक्कोसं** - उत्कृष्ट, **अंतरं** - अन्तर, **अणंतकालं**- अनन्त काल का है और, **जहण्णयं** - जघन्य, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त का है ।। २०४-२०५ ॥

विवेचन - भगवती सूत्र के चौबीसवें शतक में बतलाया गया है कि - कर्मभूमिज मनुष्य, मनुष्य के लगातार आठ भव कर सकता है । यहां मनुष्य की उत्कृष्ट कायस्थिति चल रही है इसलिये करोड़ पूर्व - करोड़ पूर्व स्थिति के सात भव कर्मभूमिज मनुष्य के तथा तीन पल्योपम की स्थिति वाला युगलिक मनुष्य का भव करे तो सात करोड़ पूर्व सहित तीन पल्योपम की उत्कृष्ट मनुष्य की कायस्थिति बन सकती है ।

पुहत्त- 'पृथक्त्व' यह पारिभाषिक शब्द है । 'पुहत्तं' शब्द की संस्कृत छाया 'पृथक्त्व' होती है। उसका हिन्दी में अर्थ अनेक होता है अर्थात् 'पृथक्त्व' बहुवाची होता है। इसका प्रत्येक अर्थ नहीं करना। पुहत्त का अनेक अर्थ करने में आगम से कहीं बाधा नहीं आती है। सामान्यतया परंपरा से 'पुहुत्तं' का अर्थ २ से ९ करते हैं वह प्रायिक है। आगम के अनेक सूत्र पाठों के द्वारा 'पुहुत्त' शब्द का अर्थ दो से अनन्त तक हो सकता है। कम से कम दो समझना अधिक में प्रसंगानुसार ९ एवं उनसे कम ज्यादा का भी ग्रहण हो सकता है। अतः 'पुहुत्तं' शब्द का अर्थ 'अनेक' या 'बहुत' करना उचित एवं संगत लगता है। 'अनेक' अर्थ में शास्त्रकारों की इष्ट संख्या का ग्रहण हो जाता है। उत्कृष्ट

संख्या ९ आदि निश्चित करने पर अनेक बाधाएं आती है। 'अनेक' अर्थ करने पर 'अपसिद्धान्त दोष परिहरण' हो जाता है।

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ।।२०६ ।।

- **वण्णओ** - वर्ण से, **गंधओ** - गन्ध से, **रसफासओ** - रस से, स्पर्श से, **चेव वा** - और, **संठाणादेसओ** - संस्थान की अपेक्षा से, **वि** - भी, **एएसिं** - इनके, **सहस्ससो** - सहस्रश-हजारों, **विहाणाइं** - विधान-भेद होते हैं ।

देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण ।
भोमिज्ज वाणमंतर, जोइस वेमाणिया तहा ।२०७।

- **देवा** - देव, **चउव्विहा** - चार प्रकार के, **वुत्ता** - कहे गये हैं, यथा - **भोमिज्ज** - भौमेयक-भवनपति, **वाणमंतर** - वाणव्यन्तर, **जोइस**- ज्योतिषी, **तहा** - और, **वेमाणिया** - वैमानिक, **मे** - अब मैं, **ते** - उन देवों के भेदों का, **कित्तयओ** - वर्णन करता हूँ सो सावधान होकर, **सुण** - सुनो ।। २०७ ।।

दसहा उ भवणवासी, अट्ठहा वणचारिणो ।
पंचविहा जोइसिया, दुविहा वेमाणिया तहा ।२०८।

- **भवणवासी** - भवनवासी (भवनपति) **दसहा** - दशधा-दस प्रकार के, **वणचारिणो** - वनचारी-वाणव्यन्तर, **अट्ठहा** - अष्टधा-आठ प्रकार के, **जोइसिया** - ज्योतिषी, **पंचविहा** - पञ्चविधा-पाँच प्रकार के, **उ**, **तहा** - और, **वेमाणिया** - वैमानिक, **दुविहा** - दो प्रकार के कहे गये हैं ।

असुरा णाग-सुवण्णा, विज्जू अग्गी य आहिया ।
दीवोदहि-दिसा वाया, थणिया भवणवासिणो ।।



- **असुरा** - असुरकुमार, **णाग** - नागकुमार, **सुवण्णा** - सुवर्णकुमार, **विज्जू** - विद्युतकुमार, **अग्गी** - अग्निकुमार, **दीव** - द्वीपकुमार, **उदहि** - उदधिकुमार, **दिसा** - दिशाकुमार, **वाया** - वायुकुमार, **य** - और, **थणिया** - स्तनितकुमार ये दस प्रकार के, **भवणवासिणो** - भवनवासी देव, **आहिया** - कहे गये हैं ॥ २०९॥

विवेचन - ये देव प्रायः भवनों में रहते हैं । इसलिये इनको भवनवासी या भवनपति कहते हैं । इस प्रकार की व्युत्पत्ति असुर कुमारों की अपेक्षा समझनी चाहिये क्योंकि विशेष कर ये ही भवनों में रहते हैं । नागकुमार आदि देव तो आवासों में रहते हैं । भवन तो बाहर से गोल और अन्दर से चतुष्कोण होते हैं । उनके नीचे का भाग कमल की कर्णिका के आकार का होता है ।

शरीर परिमाण बड़े और मणि अथवा रत्नों के दीपकों से चारों दिशाओं को प्रकाशित करने वाले मण्डप 'आवास' कहलाते हैं । भवनवासी देव भवनों में तथा आवासों में दोनों में रहते हैं ।

प्रश्न - भवनवासी देवों के भवन और आवास कहाँ आये हुए हैं ?

उत्तर - भगवती सूत्र के दूसरे शतक के ८ वें उद्देशक में तथा तेरहवें शतक के छठे उद्देशक में बतलाया गया है कि - सम धरती से चालीस हजार योजन नीचे जाने पर चमरेन्द्रजी की चमरचंचा राजधानी आती है। रत्नप्रभा नरक में तेरह प्रस्तट पाथडे और बारह अंतर (आंतरा) हैं। इनमें से ऊपर के दो आंतरे तो खाली पड़े हैं तीसरे आंतरे में असुरकुमार जाति के भवनवासी देव रहते हैं। इस प्रकार क्रमशः चौथे आंतरे में नागकुमार पांचवें में सुवर्णकुमार यावत् बारहवें आंतरे में स्तनित कुमार भवनवासी देव रहते हैं।

पुराने थोकड़े वाले इस प्रकार बोलते हैं कि - बारह आंतरों

☆☆

में से ऊपर का पहला और बारहवाँ अन्तिम आंतरा खाली हैं। बीच के दस आंतरों में दस भवनपति देव रहते हैं। यह कहना उपरोक्त मूल पाठ से मेल नहीं खाता है । अतः आगम सम्मत्त नहीं है।

पिसाय-भूया जक्खा य, रक्खसा किण्णरा किंपुरिसा
महोरगा य गंधव्वा, अट्ठविहा वाणमंतरा ।। २१० ॥

- **पिसाय** - पिशाच, **भूया** - भूत, **जक्खा** - यक्ष, **रक्खसा**- राक्षस, **किण्णरा** - किन्नर, **किंपुरिसा** - किंपुरुष, **महोरगा** - महोरग, **य** - और, **गंधव्वा** - गन्धर्व, **अट्ठविहा** - अष्टविधा-ये आठ प्रकार के, **वाणमंतरा** - वाणव्यन्तर देव कहे गये हैं ।। २१० ॥

विवेचन - पण्णवणा सूत्र और उववाइय सूत्र में वाणव्यन्तरों के और भी आठ भेद दिये हैं । यथा - १. आणपण्णे २. पाणपण्णे ३. इसिवाई (ऋषिवादी) ४. भूयवाई (भूतवादी) ५. कन्दे ६. महाकन्दे ७. कुह्माण्ड (कूष्माण्ड) ८. पयदेव (प्रेतदेव) अथवा पयंगदेव (पतंगदेव) । ये अल्प ऋद्धि वाले हैं । इसलिये इनकी यहाँ पर अलग विवक्षा नहीं की गई है । इन्हीं में इनका अन्तर्भाव समझ लेना चाहिये ।

प्रश्न - व्यन्तर किसे कहते हैं ?

उत्तर - वि - आकाश । जिनका अन्तर अर्थात् अवकाश (आश्रय) है उन्हें व्यन्तर कहते हैं अथवा विविध प्रकार के भवन, नगर तथा आवास रूप जिनका आश्रय है अथवा '**विगतमन्तरं मनुष्येभ्यो येषां तै व्यन्तराः**' अर्थात् जिन देवों का मनुष्यों से अन्तर व्यवधान नहीं हैं उन्हें व्यन्तर कहते हैं । क्योंकि बहुत से व्यन्तर देव चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि की नौकर की तरह सेवा करते हैं । इसलिये मनुष्यों से उनका भेद नहीं है अथवा '**विविधमन्तरमाश्रय रूपं येषां ते व्यन्तराः**' अर्थात् पर्वत



वनखण्ड आदि जिनके विविध प्रकार के अन्तर अर्थात् आश्रय हैं वे व्यन्तर कहलाते हैं । सूत्रों में वाणमन्तर या वाणव्यन्तर पाठ भी आता है । **'वनानामन्तरेषु भवाः वानमन्तराः'** अर्थात् वनों के अन्तर में (मध्य में) रहने वाले देव । इनके आठ भेद पिशाच आदि गाथा में बतला दिये हैं ।

गन्धर्व जाति के व्यन्तर संगीत से बहुत प्रीति करते हैं । वे भी आठ प्रकार के हैं । जो कि आणपन्निक आदि ऊपर बता दिये गये हैं । ये देव बहुत चपल, चञ्चल चित्त वाले तथा हास्य और क्रीड़ा को पसन्द करने वाले होते हैं । सदा विविध प्रकार के आभूषणों से अपने शरीर को सिंगारने में अथवा विविध क्रीडाओं में लगे रहते हैं ।

प्रश्न - वाणव्यन्तर कहाँ रहते हैं ?

उत्तर - इस रत्नप्रभा पृथ्वी का पहला रत्नकाण्ड है । जो हजार योजन का है । उसमें से एक सौ योजन ऊपर और एक सौ योजन नीचे छोड़ कर बीच के ८०० योजन तिरछा लोक में वाणव्यन्तर देवों के असंख्यात नगर और आवास हैं ।

चंदा सूरा य णक्खत्ता, गहा तारागणा तहा ।
ठिया विचारिणो चेव, पंचहा जोइसालया ।।२११॥

- **चंदा** - चन्द्र, **सूरा** - सूर्य, **णक्खत्ता** - नक्षत्र, **गहा** - ग्रह, **य, तहा** - और, **तारागणा** - तारागण । **पंचहा** - ये पाँच प्रकार के, **जोइसालया** - ज्योतिषालय-ज्योतिषी देव हैं । **ठिया** - ये स्थिर, **चेव** - और, **विचारिणो** - विचारी-चर दो प्रकार के हैं (ढाई द्वीप के बाहर के ज्योतिषी देव स्थिर हैं और ढाई द्वीप के अन्दर के ज्योतिषी देव चर हैं। वे सदैव मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए करते रहते हैं ।।२११॥



विवेचन - प्रश्न - ज्योतिषी देव किसे कहते हैं ?

उत्तर - ज्योति का अर्थ है प्रकाश, चमक । जिन देवों के विमान प्रकाश युक्त हैं, उन विमानों में रहने वाले देवों को ज्योतिषी देव कहते हैं । इनके दो भेद हैं - चर (चलने वाले) और अचर (स्थिर) ।

दो समुद्र और अढाई द्वीप के ज्योतिषी चर हैं । अढाई द्वीप के बाहर असंख्य ज्योतिषी देव हैं, वे सब अचर हैं ।

प्रश्न - ज्योतिषी देवों के कितने भेद हैं ?

उत्तर - ज्योतिषी देवों के पांच भेद हैं - चन्द्र, सूर्य, ग्रह नक्षत्र एवं तारा ।

जम्बूद्वीप में दो चन्द्र, दो सूर्य, छप्पन नक्षत्र, एक सौ छहत्तर ग्रह और एक लाख तेतीस हजार नौ सौ पचास कोडाकोडी तारे हैं । लवण समुद्र में चार, धातकी खण्ड द्वीप में बारह, कालोदधि में ४२ और अर्द्ध पुष्करद्वीप में ७२ चन्द्र हैं । इन क्षेत्रों में सूर्य की संख्या भी चन्द्र के समान है । इस प्रकार अढाई द्वीप में १३२ चन्द्र और १३२ सूर्य हैं । एक चन्द्र का परिवार २८ नक्षत्र ८८ ग्रह और ६६९७५ कोडाकोडी तारे हैं । इस प्रकार अढाई द्वीप में इनसे १३२ गुणा ग्रह नक्षत्र और तारा हैं । ये सब ज्योतिषी मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए चलते रहते हैं । इनको 'गतिरतिक' कहते हैं अर्थात् चलते रहने में आनन्द मानने वाले । चन्द्र से सूर्य, सूर्य से ग्रह, ग्रह से नक्षत्र और नक्षत्र से तारा शीघ्र गति वाले हैं । ऋद्धि की अपेक्षा अल्पऋद्धि वाले हैं ।

प्रश्न - ज्योतिषी देवों का स्थान कहाँ है ?

उत्तर - मध्यलोक में मेरुपर्वत के समभूमि भाग से ऊपर ७९० योजन से लेकर ९०० योजन तक अर्थात् ११० योजन

ज्योतिषी देवों के विमान हैं । समभूमि से ८०० योजन ऊपर सूर्य का विमान है । ८८० योजन ऊपर चन्द्र का विमान है । उनसे ऊपर २० योजन में ग्रह, नक्षत्र और तारा हैं । वैसे तारा तो ७९० से लेकर ९०० योजन तक सर्वत्र फैले हुए हैं ।

वेमाणिया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया ।
कप्पोवगा य बोधव्वा, कप्पाईया तहेव य ॥२१२॥

- **जे** - जो, **वेमाणिया** - वैमानिक, **देवा** - देव हैं, **ते** - वे, **दुविहा** - दो प्रकार के, **वियाहिया** - कहे गये हैं । वे इस प्रकार, **बोधव्वा** - जानने चाहिए, **कप्पोवगा** - कल्पोपपन्नक-कल्पोपपन्न, **उ, य, तहेव य** - और, **कप्पाईया** - कल्पातीत ॥२१२॥

विवेचन - प्रश्न - वैमानिक देव किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो देव विमानों में रहते हैं उन्हें वैमानिक देव कहते हैं । सभी विमान रत्नों के बने हुए हैं, स्वच्छ, कोमल, स्निग्ध, घिसकर चिकने किये हुए, साफ किये हुए, रज रहित, निर्मल, निष्पंक, बिना आवरण की दीप्ति वाले प्रभा सहित, शोभा सहित, उद्योत सहित, चित्त को प्रसन्न करने वाले, दर्शनीय (देखने योग्य), अभिरूप (जिनको देखते हुए आंखें थके नहीं) और प्रतिरूप अर्थात् जितनी वक्त देखे उतनी ही वक्त नये नये दिखाई देने वाले ।

(शास्त्रों में "**अच्छा, सण्हा** से लेकर **प्रतिरूप**" तक १६ विशेषण शाश्वत वस्तुओं के दिये जाते हैं । अशाश्वत वस्तु के लिये "**पासाईया, दरिसणिज्जा, अभिरूवा, पडिरूवा**" ये चार विशेषण दिये जाते हैं । जैसे कि - द्वारिका राजगृह के लिये दिये गये हैं ।)



प्रश्न - वैमानिक देवों के कितने भेद हैं ?

उत्तर - संक्षेप में वैमानिक देवों के दो भेद हैं - कल्पोपपन्न और कल्पातीत ।

प्रश्न - कल्पोपपन्न किसे कहते हैं ?

उत्तर - यहां कल्प का अर्थ है - मर्यादा अर्थात् जिन देवों में स्वामी सेवक छोटा, बडा, इन्द्र, सामानिक आदि की मर्यादा बन्धी हुई हो, उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं ।

प्रश्न - कल्पातीत किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिन देवों में स्वामी, सेवक, छोटा, बडा, इन्द्र, सामानिक आदि की मर्यादा नहीं हैं किन्तु सभी देव अपने आपको अहमिन्द्र मानते हैं, उनको कल्पातीत कहते हैं ।

प्रश्न - इन्द्र सामानिक आदि कितने भेद हैं ?

उत्तर - तत्त्वार्थ सूत्र के चौथे अध्याय में देवों के दस प्रकार बतलाये हैं । यथा -

"इन्द्र सामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्यात्मरक्षलोक-पालानीक- प्रकीर्णकाभियोग्य किल्विषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥"

१. इन्द्र - स्वामी, अधिपति, ऐश्वर्यवान् आदि इन्द्र पदवी से अभिषेक किया हुआ यह देव अपने समूह के देवों का स्वामी होता है । इनका ऐश्वर्य सर्वाधिक होता है । इनकी आज्ञा सब देवों पर चलती है ।

२. सामानिक - आयु आदि में जो इन्द्र के बराबर होते हैं । केवल इनमें इन्द्रपणा नहीं होता और देवों पर आज्ञा नहीं चलती है।

३. त्रायस्त्रिंश - ये देव इन्द्र के पुरोहित अथवा मंत्री तुल्य होते हैं । माता-पिता एवं गुरु के समान पूज्य होते हैं । इनका दूसरा नाम दोगुन्दक देव हैं । ये प्रत्येक इन्द्र के तेतीस होते हैं । इसलिये इनको त्रायस्त्रिंश कहते हैं ।



४. पारिषद्य-इन्द्र के मित्र के समान तथा इन्द्र के सभाके सदस्य।

५. आत्मरक्षक - जो देव हाथ में शस्त्र लेकर इन्द्र के पीछे खड़े रहते हैं। यद्यपि इन्द्र को किसी प्रकार की तकलीफ या अनिष्ट होने की संभावना नहीं है तथापि आत्मरक्षक देव अपना कर्तव्य पालन करने के लिये हर समय हाथ में शस्त्र लेकर खड़े रहते हैं।

६. लोकपाल - सीमा (सरहद्द) की रक्षा करने वाले देव ।

७. अनीक - 'अनीक' का अर्थ है सेना । यहाँ पर इस शब्द से सैनिक और सेनापति दोनों प्रकार के देव समझना चाहिये।

८. प्रकीर्णक - नगर निवासी, सामान्य प्रजाजन ।

९. आभियोगिक - सेवा करने वाले सेवक, दास की श्रेणि के देव ।

१०. किल्विषिक - अंत्यज (चाण्डाल के समान) इनका निवास विमान के बाह्य भागों में होता है ।

प्रश्न - क्या चारों जाति देवों में ये दस दस भेद होते हैं ?

उत्तर - **"त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः"**

अर्थ - भवनपति और वैमानिकों में दस ही भेद होते हैं किन्तु वाणव्यन्तर एवं ज्योतिषियों में त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल, ये दो भेद नहीं होते है । शेष आठ भेद होते हैं ।

तात्पर्य यह है कि - भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी देवों में भी कल्पोपपन्नकता है । इनमें कल्पातीत नहीं होते हैं । इसीलिये इनमें दो भेद नहीं किये । सिर्फ वैमानिक देवों में कल्पोपपन्न और कल्पातीत ऐसे दो भेद होते हैं ।

कप्पोवगा य बारसहा, सोहम्मीसाणगा तहा ।
सणंकुमारमाहिंदा, बंभलोगा य लंतगा ।२१३।



महासुक्का सहस्सारा, आणया पाणया तहा ।

आरणा अच्चुया चेव, इइ कप्पोवगा सुरा ।२१४।

- **कप्पोवगा** - कल्पोपपन्न देव, **बारसहा** - द्वादशधा-बारह कार के हैं, यथा - **सोहम्म** - सौधर्म, **ईसाणगा** - ईशान, णंकुमारा - सनत्कुमार, **माहिंदा** - माहेन्द्र, **बंभलोगा** - ब्रह्मलोक, ंतगा - लान्तक, **महासुक्का** - महाशुक्र, **सहस्सारा** - सहस्रार, ाणया- आणत, **पाणया** - प्राणत, **आरणा** - आरण, **तहा**, **य**, हा, **चेव**- और, **अच्चुया** - अच्युत । **इइ** - ये, **कप्पोवगा** - ल्पोपपन्न, **सुरा**- देव हैं ।। २१३-२१४ ॥

कप्पाईया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया ।

गेविज्जाणुत्तरा चेव, गेविज्जा णवविहा तहिं ।।

- **जे** - जो, **कप्पाईया** - कल्पातीत, **देवा** - देव हैं, **ते** - , **दुविहा** - दो प्रकार के, **वियाहिया** - कहे गये हैं । **गेविज्जा** - वेयक, **उ**, **चेव** - और, **अणुत्तरा** - अनुत्तर, **तहिं** - इनमें, विज्जा - ग्रैवेयक देव, **णवविहा** - नौ प्रकार के हैं ।। २१५ ॥

हेट्ठिमा हेट्ठिमा चेव, हेट्ठिमा मज्झिमा तहा ।

हेट्ठिमा उवरिमा चेव, मज्झिमा हेट्ठिमा तहा ।२१६।

मज्झिमा मज्झिमा चेव, मज्झिमा उवरिमा तहा ।

उवरिमा हेट्ठिमा चेव, उवरिमा मज्झिमा तहा ।२१७।

उवरिमा उवरिमा चेव, इय गेविज्जगा सुरा ।

विजया वेजयंता य, जयंता अपराजिया ।२१८।

सव्वट्ठसिद्धगा चेव, पंचहाणुत्तरा सुरा ।

इय वेमाणिया एए, णेगहा एवमायओ ।२१९।



– नौ ग्रैवेयक देवों की तीन त्रिक (श्रेणियाँ) हैं – १. ऊपर की, २. मध्य की, ३. नीचे की । प्रत्येक त्रिक में पुनः ऊपर मध्य और नीचे, इस प्रकार तीन-तीन भेद हैं । उनके नाम इस प्रकार है – **हेट्ठिमा हेट्ठिमा** – १-अधस्तनाधस्तन (नीचे की त्रिक का नीचे वाला) **हेट्ठिमा मज्झिमा** – २-अधस्तनमध्य (नीचे की त्रिक का मध्यम) **हेट्ठिमा उवरिमा** – ३-अधस्तनउपरितन (नीचे की त्रिक का ऊपर वाला) **मज्झिमा हेट्ठिमा** – ४-मध्यम अधस्तन (बीच की त्रिक का नीचे वाला) **मज्झिमा मज्झिमा** – ५-मध्यममध्यम (बीच की त्रिक का मध्यम) **मज्झिमा उवरिमा** – ६-मध्यम उपरितन (बीच की त्रिक का ऊपर वाला) **उवरिमा हेट्ठिमा** – ७-उपरितन अधस्तन(ऊपर की त्रिक का नीचे वाला) **उवरिमा मज्झिमा** – ८-उपरितन मध्यम (ऊपर की त्रिक का मध्यम) **चेव, तहा, चेव, तहा, चेव, तहा, चेव, तहा, चेव** – और, **उवरिमा उवरिमा** – उपरितनउपरितन (ऊपर की त्रिक का ऊपर वाला) **इय** – इस प्रकार ये, **गेविज्जगा** – ग्रैवेयक, **सुरा** – देव हैं । इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं – भद्र, सुभद्र, सुजात, सुमानस, सुदर्शन, प्रियदर्शन, अमोघ, प्रतिभद्र और यशोधर । लोक का आकार नाचते हुए भोपे (मनुष्य) की आकृति का है । इसमें गर्दन को ग्रीवा कहते हैं । ये नौ विमान घड़े की आकृति में स्थित हैं अथवा एक के ऊपर एक है । मनुष्य की ग्रीवा-गर्दन के स्थान पर आये हुए हैं । इसलिये इनको ग्रैवेयक कहते हैं ।

अनुत्तर वैमानिक देवों के नाम – **विजया** – विजय, **वेजयंता**-वैजयंत, **जयंता** – जयंत, **अपराजिया** – अपराजित, **चेव** – और, **सव्वट्ठसिद्धगा** – सर्वार्थसिद्ध, **पंचहा** – ये पाँच प्रकार के, – अनुत्तर, **सुरा** – देव हैं, **इय** – इस प्रकार, **एए** – ये



सब **वेमाणिया** - वैमानिक देव हैं । **एवमायओ** - इस प्रकार वैमानिक देवों के, **अणेगहा** - अनेक भेद हैं ।। २१६-२१९ ॥

विवेचन - यहाँ उत्तर शब्द का अर्थ है प्रधान । जिनसे बढ कर दूसरा कोई श्रेष्ठ या प्रधान न हों, उसे अनुत्तर कहते हैं । विजय आदि इन पांच विमानों से बढ कर किसी देवलोक के विमान नहीं है । देवलोकों में ये पांच सर्व श्रेष्ठ और प्रधान होने से इनको अनुत्तर विमान कहते हैं ।

लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे वि वियाहिया ।
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं । २२० ।

- **ते** - वे, **सव्वे वि** - सभी देव, **लोगस्स** - लोक के, **एगदेसम्मि** - एक देश में, **वियाहिया** - कहे गये हैं । **तु** - अब, **इत्तो** - इसके आगे, **तेसिं** - उनका, **चउव्विहं** - चार प्रकार का, **कालविभागं** - काल-विभाग, **वुच्छं** - कहूँगा ।। २२० ॥

संतइं पप्पणाइया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साइया, सपज्जवसिया वि य । २२१ ।

- **संतइं** - संतति-प्रवाह की, **पप्प** - अपेक्षा ये सब, **अणाइया**- अनादि, **य** - और, **अपज्जवसिया** - अपर्यवसित-अनन्त, **वि** - भी हैं, **य** - और, **ठिइं** - स्थिति की, **पडुच्च** - अपेक्षा, **साइया** - सादि और, **सपज्जवसिया** - सपर्यवसित-सान्त, **वि** - भी हैं ।। २२१ ॥

साहियं सागरं इक्कं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
भोमेज्जाणं जहण्णेणं, दसवाससहस्सिया । २२२ ।

- **भोमेज्जाणं** - भौमेयक-भवनपति देवों की, **जहण्णेणं** - जघन्य, **ठिई** - स्थिति, **दसवाससहस्सिया** - दस हजार वर्ष और, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट, **एक्कं** - एक, **सागरं** - सागरोपम से **साहियं**- साधिक-कुछ अधिक, **भवे** - होती है ।। २२२ ॥

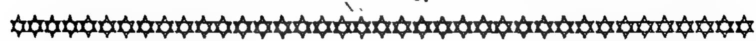


विवेचन - इस गाथा में सामान्य रूप से स्थिति कह दी गई है किन्तु दक्षिणार्द्ध के अधिपति चमर नामक असुरेन्द्र की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की तथा उत्तरार्द्ध के अधिपति बलि नामक असुरेन्द्र की स्थिति एक सागरोपम से कुछ अधिक है यहां जो जघन्य स्थिति १०००० वर्ष की कही है वह भवनपति जाति के किल्विषी देवों की समझनी चाहिये । किल्विषी देव चारों जाति के देवों में हैं । देवों में ये सबसे हल्की जाति के देव हैं ।

पलिओवम दो ऊणा, उक्कोसेण वियाहिया ।
असुरिंदवज्जेत्ताणं, जहण्णा दस सहस्सगा ।२२३।

- **असुरिंदवज्जेत्ताणं** - असुरकुमारों के इन्द्रों को छोड़ कर शेष भवनपति देवों की, **जहण्णा** - जघन्य आयु, **दससहस्सगा** - दस हजार वर्ष है और, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट, **पलिओवम दो ऊणा** - देश ऊणा दो पल्योपम की, **वियाहिया** - कही गई है ।। २२३॥

विवेचन - यह गाथा बहुत सी प्रतियों में नहीं है, किसी प्रति में है । इसलिये यहाँ दे दी गई है । गाथा नं. २२३ में '**असुरिंदवज्जेत्ताणं**' शब्द दिया है जिसकी टीका करते हुए शान्त्याचार्य ने लिखा है कि - "यहाँ जो उत्कृष्ट स्थिति बताई है वह एक सागरोपम की केवल चमरेन्द्र की ही है और एक सागरोपम से अधिक की स्थिति यह केवल बलीन्द्र की ही समझना चाहिये। क्योंकि उत्कृष्ट स्थिति इन्द्रों की होती है।" ऐसा ही अभिप्राय तत्त्वार्थ सूत्र में बताया गया है किन्तु पण्णवणा सूत्र के चौथे स्थिति पद को देखते हुए स्पष्ट होता है कि - इन्द्र की तरह सामानिक आदि देवों में भी उत्कृष्ट स्थिति इन्द्र के बराबर हो सकती है। निष्कर्ष यह है कि - सभी इन्द्रों की स्थिति उत्कृष्ट ही होती है। जघन्य या मध्यम स्थिति में इन्द्र उत्पन्न नहीं होते हैं।



'उत्कृष्ट स्थिति इन्द्रों की ही होती, दूसरों की नहीं' यह बात नहीं है। दूसरे देवों की भी इन्द्र के समान उत्कृष्ट स्थिति हो सकती है।

पलिओवममेगं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।
वंतराणं जहण्णेणं, दस वाससहस्सिया ।२२४।

- **वंतराणं** - व्यन्तर देवों की, **जहण्णेणं** - जघन्य, **ठिई**- स्थिति, **दस वाससहस्सिया** - दस हजार वर्ष और, **उक्कोसेणं**- उत्कृष्ट, **एगं** - एक, **पलिओवमं** - पल्योपम की, **भवे** - होती है।। २२४॥

पलिओवममेगं तु, वासलक्खेण साहियं ।
पलिओवमट्ठभागो, जोइसेसु जहण्णिया ।२२५।

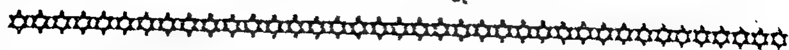
- **जोइसेसु** - ज्योतिषी देवों की, **जहण्णिया** - जघन्य स्थिति, **पलिओवमट्ठभागो** - पल्योपम के आठवें भाग की और उत्कृष्ट स्थिति, **वासलक्खेण साहियं** - वर्षलक्ष साधिक-लाख वर्ष अधिक, **एगं** - एक, **पलिओवमं** - पल्योपम की है ।। २२५॥

दो चेव सागराइं, उक्कोसेण वियाहिया ।
सोहम्मम्मि जहण्णेणं, एगं च पलिओवमं ।२२६।

- **सोहम्मम्मि** - सौधर्म नामक पहले देवलोक में देवों की, **जहण्णेणं** - जघन्य स्थिति, **एगं** - एक, **पलिओवमं** - पल्योपम है, **चेव, च** - और, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट स्थिति, **दो** - दो, **सागराइं**- सागरोपम की, **वियाहिया** - कही गई है ।। २२६॥

सागरा साहिया दुण्णि, उक्कोसेण वियाहिया ।
ईसाणम्मि जहण्णेणं, साहियं पलिओवमं ।२२७।

- **ईसाणम्मि** - ईशान नामक दूसरे देवलोक में देवों की, **जहण्णेणं** - जघन्य-स्थिति, **साहियं पलिओवमं** - कुछ अ



एक पल्योपम और, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट-स्थिति, **साहिया दुण्णि सागरा** - कुछ अधिक दो सागरोपम की, **वियाहिया** - कही गई है ॥ २२७॥

सागराणि य सत्तेव, उक्कोसेण ठिई भवे ।
सणंकुमारे जहण्णेणं, दुण्णि उ सागरोवमा ।२२८।

- **सणंकुमारे** - सनत्कुमार नामक तीसरे देवलोक में देवों की, **जहण्णेणं** - जघन्य, **ठिई** - स्थिति, **दुण्णि** - दो, **सागरोवमा**- सागरोपम की है, **य** - और, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट, **सत्तेव** - सात, **सागराणि** - सागरोपम की, **भवे** - होती है ॥ २२८॥

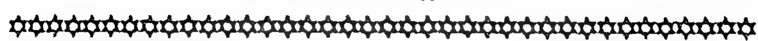
साहिया सागरा सत्त, उक्कोसेण ठिई भवे ।
माहिंदम्मि जहण्णेणं, साहिया दुण्णि सागरा ॥

- **माहिंदम्मि** - माहेन्द्र नामक चौथे देवलोक में देवों की, **जहण्णेणं** - जघन्य, **ठिई** - स्थिति, **साहिया दुण्णि सागरा** - कुछ अधिक दो सागरोपम की है और, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट स्थिति, **साहिया सत्त सागरा** - कुछ अधिक सात सागरोपम की **भवे** - होती है ॥ २२९॥

दस चेव सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
बंभलोए जहण्णेणं, सत्त उ सागरोवमा ।२३०।

- **बंभलोए** - ब्रह्मलोक नामक पांचवें देवलोक में देवों की, **जहण्णेणं** - जघन्य, **ठिई** - स्थिति, **सत्त** - सात, **सागरोवमा** - सागरोपम की है, **चेव, उ** - और, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट स्थिति, **दस** - दस, **सागराइं** - सागरोपम की, **भवे** - होती है ॥ २३०॥

चउद्दस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
लंतगम्मि जहण्णेणं, दस उ सागरोवमा ।२३१।



- **लंतगम्मि** - लान्तक नामक छठे देवलोक में देवों की, **जहण्णेणं** - जघन्य, **ठिई** - स्थिति, **दस** - दस, **सागरोवमा** - सागरोपम है और, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट स्थिति, **चउद्दस** - चौदह, **सागराइं** - सागरोपम की, **भवे** - होती है ।। २३१ ॥

सत्तरस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।

महासुक्के जहण्णेणं, चउद्दस सागरोवमा । २३२ ।

- **महासुक्के** - महाशुक्र नामक सातवें देवलोक में देवों की, **जहण्णेणं** - जघन्य, **ठिई** - स्थिति, **चउद्दस** - चौदह, **सागरोवमा**- सागरोपम की है और, **उक्कोसेणं** - उत्कृष्ट स्थिति, **सत्तरस** - सतरह, **सागराइं** - सागरोपम की, **भवे** - होती है ।। २३२ ॥

अट्ठारस सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।

सहस्सारम्मि जहण्णेणं, सत्तरस सागरोवमा । २३३ ।

- **सहस्सारम्मि** - सहस्रार नामक आठवें देवलोक में देवों की, **जहण्णेणं**- जघन्य, **ठिई** - स्थिति, **सत्तरस** - सतरह, **सागरोवमा**- सागरोपम की है और, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट, **अट्ठारस** - अठारह, **सागराइं** - सागरोपम की, **भवे** - होती है ।। २३३ ॥

सागरा अउणवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।

आणयम्मि जहण्णेणं, अट्ठारस सागरोवमा । २३४ ।

- **आणयम्मि** - आणत नामक नववें देवलोक में देवों की, **जहण्णेणं** - जघन्य, **ठिई** - स्थिति, **अट्ठारस** - अठारह, **सागरोवमा** - सागरोपम की है और, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट, **अउणवीसं**- उन्नीस, **सागरा**- सागरोपम की, **भवे** - होती है ।। २३४ ॥

वीसं तु सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।

पाणयम्मि जहण्णेणं, सागरा अउणवीसई । २३५ ।



- **पाणयम्मि** - प्राणत नामक दसवें देवलोक में देवों की, **जहण्णेणं** - जघन्य, **ठिई** - स्थिति, **अउणवीसई** - उन्नीस, **सागरा**- सागरोपम की और, **उक्कोसेणं** - उत्कृष्ट, **वीसं** - बीस, **सागराइं**- सागरोपम की, **भवे** - होती है ॥ २३५ ॥

सागरा इक्कवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।
आरणम्मि जहण्णेणं, वीसई सागरोवमा ।२३६।

- **आरणम्मि** - आरण नामक ग्यारहवें देवलोक में देवों की, **जहण्णेणं** - जघन्य, **ठिई** - स्थिति, **वीसई** - बीस, **सागरोवमा** - सागरोपम की होती है और, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट, **इक्कवीसं** - इक्कीस, **सागरा**- सागरोपम की, **भवे** - होती है ॥ २३६ ॥

बावीसं सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
अच्चुयम्मि जहण्णेणं, सागरा इक्कवीसई ।२३७।

- **अच्चुयम्मि** - अच्युत नामक बारहवें देवलोक में देवों की, **जहण्णेणं** - जघन्य, **ठिई** - स्थिति, **इक्कवीसई** - इक्कीस, **सागरा**- सागरोपम की होती है और, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट, **बावीसं**- बाईस, **सागराइं**- सागरोपम की, **भवे** - होती है ॥ २३७ ॥

तेवीसं सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
पढमम्मि जहण्णेणं, बावीसं सागरोवमा ।२३८।

- ग्रैवेयक देवों की आयु का वर्णन किया जाता है - **पढमम्मि** - प्रथम ग्रैवेयक में देवों की, **जहण्णेणं** - जघन्य, **ठिई** - स्थिति, **बावीसं** - बाईस, **सागरोवमा** - सागरोपम की है और, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट, **तेवीसं** - तेईस, **सागराइं** - सागरोपम की, **भवे** - होती है ॥ २३८ ॥

विवेचन - पुरुषाकार लोक की ग्रीवा (गर्दन) के स्थान पर

☆☆☆

आये हुए होने के कारण इनको 'ग्रैवेयक' कहते हैं । इनकी संख्या नौ हैं । एक घडे पर दूसरे घडे की तरह ये ऊपरा ऊपरी आये हुए हैं ।

चउवीसं सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
बिइयम्मि जहण्णेणं, तेवीसं सागरोवमा ।२३९।

– **बिइयम्मि** – दूसरे ग्रैवेयक में देवों की, **जहण्णेणं** – जघन्य, **ठिई** – स्थिति, **तेवीसं** – तेईस, **सागरोवमा** – सागरोपम की होती है और, **उक्कोसेण** – उत्कृष्ट स्थिति, **चउवीसं** – चौबीस, **सागराइं** – सागरोपम की, **भवे** – होती है ॥ २३९ ॥

पणवीसं सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
तइयम्मि जहण्णेणं, चउवीसं सागरोवमा ।२४०।

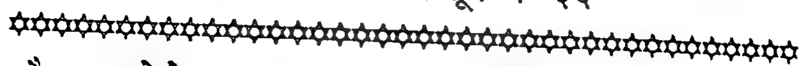
– **तइयम्मि** – तीसरे ग्रैवेयक में देवों की, **जहण्णेणं** – जघन्य, **ठिई** – स्थिति, **चउवीसं** – चौबीस, **सागरोवमा** – सागरोपम की है और, **उक्कोसेण** – उत्कृष्ट, **पणवीसं** – पच्चीस, **सागराइं** – सागरोपम की, **भवे** – होती है ॥ २४० ॥

छव्वीसं सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
चउत्थम्मि जहण्णेणं, सागरा पणवीसई ।२४१।

– **चउत्थम्मि** – चौथे ग्रैवेयक में देवों की, **जहण्णेणं** – जघन्य, **ठिई** – स्थिति, **पणवीसई** – पच्चीस, **सागरा** – सागरोपम की और, **उक्कोसेण** – उत्कृष्ट, **छव्वीसं** – छब्बीस, **सागराइं** – सागरोपम की, **भवे** – होती है ॥ २४१ ॥

सागरा सत्तवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।
पंचमम्मि जहण्णेणं, सागरा उ छवीसई ।२४२।

– **पंचमम्मि** – पाँचवें ग्रैवेयक में देवों की, **जहण्णेणं** – जघन्य, **ठिई** – स्थिति, **छवीसई** – छब्बीस, **सागरा** – सागरोपम



और, **उक्कोसेण** – उत्कृष्ट स्थिति, **सत्तवीसं** – सत्ताईस, **सागरा** – सागरोपम की, **भवे** – होती है ॥ २४२॥

सागरा अट्ठवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।
छट्ठम्मि जहण्णेणं, सागरा सत्तवीसई । २४३।

– **छट्ठम्मि** – छठे ग्रैवेयक में देवों की, **जहण्णेणं** – जघन्य, **ठिई** – स्थिति, **सत्तवीसई** – सत्ताईस, **सागरा** – सागरोपम की और, **उक्कोसेण** – उत्कृष्ट स्थिति, **अट्ठवीसं** – अट्ठाईस, **सागरा** – सागरोपम की, **भवे** – होती है ॥ २४३ ॥

सागरा अउणतीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।
सत्तमम्मि जहण्णेणं, सागरा अट्ठवीसई । २४४।

– **सत्तमम्मि** – सातवें ग्रैवेयक में देवों की, **जहण्णेणं** – जघन्य, **ठिई** – स्थिति, **अट्ठवीसई** – अट्ठाईस, **सागरा** – सागरोपम की और, **उक्कोसेण** – उत्कृष्ट **अउणतीसं** – उनतीस, **सागरा** – सागरोपम की, **भवे** – होती है ॥ २४४॥

तीसं तु सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।
अट्ठमम्मि जहण्णेणं, सागरा अउणतीसई । २४५।

– **अट्ठमम्मि** – आठवें ग्रैवेयक में देवों की, **जहण्णेणं** – जघन्य, **ठिई** – स्थिति, **अउणतीसई** – उनतीस, **सागरा** – सागरोपम की और, **उक्कोसेण** – उत्कृष्ट स्थिति, **तीसं** – तीस, **सागराइं** – सागरोपम की, **भवे** – होती है ॥ २४५॥

सागरा इक्कतीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे ।
णवमम्मि जहण्णेणं, तीसई सागरोवमा । २४६।

– **णवमम्मि** – नौवें ग्रैवेयक में देवों की, **जहण्णेणं** – जघन्य, **ठिई** – स्थिति, **तीसई** – तीस, **सागरोवमा** – सागरोपम की

☆☆

और, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट स्थिति, **इक्कतीसं** - इकत्तीस, **सागरा**- सागरोपम की, **भवे** - होती है ॥ २४६ ॥

तेत्तीसं सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे ।

चउसुं पि विजयाईसु, जहण्णेणेक्कतीसई ।२४७।

- **विजयाईसु** - विजय, वैजयन्त जयन्त और अपराजित, **चउसुं पि** - इन चारों अनुत्तर विमानवासी देवों की, **जहण्णेण** - जघन्य, **ठिई**- स्थिति, **इक्कतीसई** - इकत्तीस सागरोपम की, **उक्कोसेण** - उत्कृष्ट स्थिति, **तेत्तीसं** - तेत्तीस, **सागराइं** - सागरोपम की, **भवे** - होती है ॥ २४७ ॥

अजहण्णमणुक्कोसा, तेत्तीसं सागरोवमा ।

महाविमाणे सव्वट्ठे, ठिई एसा वियाहिया ।२४८।

- **सव्वट्ठे** - सर्वार्थसिद्ध, **महाविमाणे** - महाविमान में देवों की, **अजहण्ण मणुक्कोसा** - अजघन्य-अनुत्कृष्ट, **ठिई** - स्थिति, **तेत्तीसं** - तेत्तीस, **सागरोवमा** - सागरोपम की होती है, **एसा** - ऐसा, **वियाहिया** - कहा गया है ॥ २४८ ॥

विवेचन - सर्वार्थ सिद्ध विमान के सब देवों की स्थिति तेतीस सागरोपम की ही होती है । इसलिये वहाँ जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति नहीं बतलाई गई है । इसीलिये गाथा में '**अजहण्णमणुक्कोसा**' यह शब्द दिया है इसका अर्थ होता है 'अजघन्य अनुत्कृष्ट' । एक ही स्थिति होने से जघन्य भी नहीं है और उत्कृष्ट भी नहीं है ।

जा चेव उ आउठिई, देवाणं तु वियाहिया ।

सा तेसिं कायठिई, जहण्णुक्कोसिया भवे ।२४९।

- **देवाणं** - देवों की, **जो** - जो,

जघन्य और उत्कृष्ट, **आउठिई** - आयु-स्थिति, **वियाहिया** - कही गई है, **सा** - वही, **तेसिं** - उनकी जघन्य और उत्कृष्ट, **कायठिई** - कायस्थिति, **भवे** - होती है ।। २४९ ॥

विवेचन - एक जीव जिस गति और जिस काया में है उसमें मर कर उसी में वापिस उत्पन्न होता रहे उसे 'काय-स्थिति' कहते हैं । देव मर कर दूसरे भव में देव नहीं होता है । इसलिये देवों की कायस्थिति नहीं बनती है । इसी प्रकार नैरयिक जीवों में भी समझनी चाहिये । इसलिये शास्त्रकार ने नैरयिक और देवों की भवस्थिति को ही कायस्थिति कह दिया है।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहण्णयं ।
विजढम्मि सए काए, देवाणं हुज्ज अंतरं । २५०।

- **सए** - अपनी, **काए** - काया को, **विजढम्मि** - छोड़ देने पर, **देवाणं** - देवों का पुनः उन्हीं में आगमन का, **जहण्णयं** - जघन्य, **अंतरं** - अन्तर, **अंतोमुहुत्तं** - अन्तर्मुहूर्त्त और, **उक्कोसं** - उत्कृष्ट, **अणंतकालं** - अनन्त काल का, **हुज्ज** - होता है ।। २५० ॥

अणंतकालमुक्कोसं, वासपुहत्तं जहण्णयं ।
आणयाईणं देवाणं, गेविज्जाणं तु अंतरं । २५१।

- **आणयाईणं** - आणत आदि, (आणत, प्राणत, आरण और अच्युत) देवलोकों के, **देवाणं** - देवों का और, **गेविज्जाणं** - नव-ग्रैवेयक देवों का, **जहण्णयं** - जघन्य, **अंतरं** - अन्तर, **वासपुहत्तं** - पृथक्त्व वर्ष का है और, **उक्कोसं** - उत्कृष्ट, **अणंतकालं** - अनन्तकाल का है ।। २५१ ॥

संखेज्जसागरुक्कोसं, वासपुहत्तं जहण्णयं ।
अणुत्तराणं देवाणं, अंतरेयं वियाहियं । २५२।



- **अणुत्तराणं** - विजय, वैयजंत जयन्त और अपराजित इन चार अनुत्तर-विमानों में उत्पन्न होने वाले, **देवाणं** - देवों का, **जहण्णयं** - जघन्य, **अंतरेयं** - अन्तर, **वासपुहत्तं** - पृथक्त्व वर्ष और, **उक्कोसं** - उत्कृष्ट, **संखेज्जसागर** - संख्यात सागरोपमों का, **वियाहियं** - कहा गया है ।। २५२ ॥

विवेचन - सर्वार्थसिद्ध विमानवासी देव एक भवावतारी होते हैं, अतः उनका अन्तर नहीं होता । सर्वार्थ सिद्ध के देव लवसप्तम कहलाते हैं । सात लव जितना आयुष्य यदि उनका मनुष्य भव में अधिक होता तो वे उसी भव में मोक्ष चले जाते किन्तु इतना आयुष्य कम होने के कारण वे सर्वार्थ सिद्ध में जाते हैं। वहाँ का आयुष्य पूरा करके मनुष्य भव में आते हैं और यहाँ से संयम लेकर मोक्ष चले जाते हैं । इसलिये वे एक भवावतारी हैं ।

एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रस-फासओ ।
संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो । २५३ ।

- **वण्णओ** - वर्ण से, **गंधओ** - गन्ध से, **रसफासओ** - रस से, स्पर्श से, **चेव, वा** - और, **संठाणादेसओ** - संस्थान की अपेक्षा, **वि** - भी, **एएसिं** - इनके, **सहस्ससो** - सहस्सशः-हजारों, **विहाणाइं** - भेद हो जाते हैं ।। २५३ ॥

संसारत्था य सिद्धा य, इय जीवा वियाहिया ।
रूविणो चेवारूवी य, अजीवा दुविहा वि य ।।

- **संसारत्था** - संसारस्थ-संसारी, **य** - और, **सिद्धा** - सिद्ध, **इय** - इस प्रकार, **जीवा** - जीवों के दो भेद, **य** - तथा, **अजीवा** - अजीवों के, **रूविणो** - रूपी, **चेव, य, य** - और, **अरूवी** - अरूपी, **दुविहा वि** - ये दो भेद, **वियाहिया** - कहे गये हैं ।। २५४ ॥



इय जीवमजीवे य, सोच्चा सद्दहिऊण य ।

सव्वणयाणमणुमए, रमेज्ज संजमे मुणी ।२५५।

- **इय** - इस प्रकार, **जीवं** - जीव, **य** - और अजीवे - अजीव के स्वरूप को, **सोच्चा** - सुन कर, **य** - और, **सद्दहिऊण**- उन पर दृढ़ श्रद्धा करके, **मुणी** - मुनि, **सव्वणयाणं** - सर्व नयों से, **अणुमए**- अनुमत (सम्यग्ज्ञान दर्शन युक्त) **संजमे** - संयम में, **रमेज्ज** - रमण करे ।। २५५ ॥

तओ बहूणि वासाणि, सामण्णमणुपालिया ।

इमेण कम्मजोगेण, अप्पाणं संलिहे मुणी ।२५६।

- **तो** - इसके बाद, **बहूणि** - बहुत, **वासाणि** - वर्षों तक, **सामण्णं** - श्रमण-पर्याय का, (साधुता का) **अणुपालिया** - पालन करके, **मुणी** - मुनि, **इमेण** - इस आगे कहे जाने वाले, **कम्मजोगेण** - क्रमयोग से-तप से, **अप्पाणं** - अपनी आत्मा को, **संलिहे** - संलिखित करे (द्रव्य से शरीर को और भाव से क्रोधादि कषाय को पतला करे) ।। २५६ ॥

बारसेव उ वासाइं, संलेहुक्कोसिया भवे ।

संवच्छरं मज्झिमिया, छम्मासा य जहण्णिया ।।

- **उक्कोसिया** - उत्कृष्ट, **संलेहा** - संलेखना, **बारसेव** - बारह, **वासाइं** - वर्षों की, **मज्झिमिया** - मध्यम, **संवच्छरं** - संवत्सर-एक वर्ष की, **उ, य** - और, **जहण्णिया** - जघन्य, **छम्मासा**- छह महीने की, **भवे** - होती है ।। २५७ ॥

पढमे वासचउक्कम्मि, विगइ णिज्जूहणं करे ।

बिइए वासचउक्कम्मि, विचित्तं तु तवं चरे ।२५८।

- **पढमे** - पहले के, **वासचउक्कम्मि** - चार वर्षों में,

विगइणिज्जूहणं - घी दूध आदि विगयों का त्याग, **करे** - करे और, **बिइए** - दूसरे, **वासचउक्कम्मि** - चार वर्षों में, **विचित्तं** - विचित्र, **तवं** - तप का, **चरे** - आचरण करे ॥ २५८॥

एगंतरमायामं, कट्टु संवच्छरे दुवे ।
तओ संवच्छरद्धं तु, णाइविगिट्ठं तवं चरे । २५९।

- इसके बाद, **दुवे** - दो, **संवच्छरे** - संवत्सर-वर्ष तक, **एगंतर**- एकान्तर उपवास और पारणे के दिन, **आयामं** - आचाम्ल-आयम्बिल, **कट्टु** - करके पुनः, **संवच्छरद्धं** - अर्द्ध संवत्सर-छह महीने तक, **अइविगिट्ठं** - अतिविकृष्ट-अति उत्कृष्ट, **तवं** - तप, **ण चरे** - न करे (तेला पचोला आदि न करे) ॥ २५९॥

विवेचन - बेले से आगे की तपस्याओं को लगातार करे, उसे शास्त्रकार विकृष्ट तप कहते हैं । जैसे कि तेले तेले पारणा करना इस प्रकार चोले चोले, पंचोले पंचोले आदि विशेष तप करना विकृष्ट तप कहलाता है ।

तओ संवच्छरद्धं तु, विगिट्ठं तु तवं चरे ।
परिमियं चेव आयामं, तम्मि संवच्छरे करे । २६०।

- **तओ** - इसके बाद, **संवच्छरद्धं** - अर्द्ध संवत्सर-छह महीने तक, **विगिट्ठं** - विकृष्ट-उत्कृष्ट, **तवं** - तप, **चरे** - (तेला चोला आदि) करे, **चेव** - और फिर, **तम्मि** - उस ग्यारहवें, **संवच्छरे** - वर्ष में, **परिमियं** - परिमित, **आयामं** - आचाम्ल-आयम्बिल तप, **करे** - करे ॥ २६०॥

कोडीसहियमायामं, कट्टु संवच्छरे मुणी ।
मासद्धमासिएणं तु, आहारेणं तवं चरे । २६१।

- **संवच्छरे** - संवत्सर-बारहवें वर्ष में, **मुणी** - मुनि,

कोडीसहियं - कोटीसहित, **आयामं** - आयम्बिल तप, **कट्टु** - करके फिर, **मासद्धमासिएणं** - एक मास या आधा मास तक, **आहारेणं** - आहार का त्याग करके, **तवं** - अनशन तप, **चरे** - करे ॥ २६१ ॥

विवेचन - प्रश्न - इस गाथा में कोटी सहित शब्द दिया है इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर - पहले प्रत्याख्यान का अन्त और दूसरे प्रत्याख्यान का प्रारम्भ इस प्रकार दोनों तपों की दोनों कोटी (आदि और अन्त के कोण) मिले उस तप को कोटी सहित तप कहते हैं । जैसे कि- निरन्तर आयम्बिल तप करते रहना । क्योंकि पहले दिन प्रत्याख्यान किया हुआ आयंबिल दूसरे दिन प्रातः काल पूर्ण हो जाता है । दूसरे दिन दूसरे आयंबिल का पच्चक्खाण कर लिया जाय तो यह कोटी सहित तप कहलाता है । क्योंकि पहले आयंबिल का अन्तिम कोण और दूसरे आयम्बल का प्रारम्भ कोण (कोटी) मिल जाते हैं इसलिये यह तप कोटी सहित तप कहलाता है ।

कोटी सहित तप की दूसरी तरह से भी व्याख्या मिलती है - जैसे कि-पहले दिन आयम्बिल करके दूसरे दिन कोई दूसरा तप करे फिर तीसरे दिन फिर आयम्बिल करे। यह कोटी सहित तप कहलाता है। उपरोक्त दोनों अर्थों को बतलाने वाली गाथा इस प्रकार है-

"पट्ठवणओ य दिवसो पच्चक्खाणस्स णिट्ठवणओ य ।
जहियं समिंति दुण्णि उ तं भण्णइ कोडिसहियं तु ॥ १ ॥

(प्रस्थापको दिवसः प्रत्याख्यानस्थ निष्ठापकश्च ।
यत्र समितः द्वौ तु तद्भण्यते कोटीसहित मेव ॥ १ ॥)

कंदप्पमाभिओगं, किव्विसियं मोहमासुरत्तं च ।
एयाओ दुग्गईओ, मरणम्मि विराहिया होंति ।२६२।

☆☆

- **कंदप्पं** - कन्दर्पभावना, **आभिओगं** - आभियोगिकी भावना, **किव्विसियं** - किल्विषी भावना, **मोहं** - मोहभावना, **च** - और, **आसुरत्तं** - आसुरी भावना, **एयाओ** - ये भावनाएँ, **दुग्गईओ** - दुर्गति की हेतुभूत और, **मरणम्मि** - मरण के समय इन भावनाओं से जीव, **विराहिया** - विराधक, **होंति** - हो जाते हैं ॥ २६२ ॥

मिच्छादंसणरत्ता, सणियाणा हु हिंसगा ।

इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही ।२६३।

- **जे** - जो, **जीवा** - जीव, **मिच्छादंसणरत्ता** - मिथ्यादर्शन में अनुरक्त हैं, **सणियाणा** - निदान सहित क्रियानुष्ठान करते हैं और जो **हिंसगा** - हिंसा में प्रवृत्त हैं, **इय** - इस प्रकार, **जे** - जो, **जीवा** - जीव, **मरंति** - मरते हैं, **तेसिं** - उनको, **पुण** - पुनः फिर, **बोही** - बोधि (सम्यक्त्व) की प्राप्ति होना, **दुल्लहा** - अत्यन्त दुर्लभ है ॥ २६३ ॥

सम्मद्दंसणरत्ता, अणियाणा सुक्कलेसमोगाढा ।

इय जे मरंति जीवा, तेसिं सुलहा भवे बोही ।२६४।

- **सम्मद्दंसणरत्ता** - सम्यग्दर्शन में अनुरक्त, **अणियाणा** - निदान-रहित क्रियानुष्ठान करने वाले, **सुक्कलेसमोगाढा** - शुक्ललेश्या को प्राप्त, **इय** - इस प्रकार, **जे** - जो, **जीवा** - जीव, **मरंति** - मरते हैं, **तेसिं** - उनको परलोक में, **बोही** - बोधि (सम्यक्त्व) की प्राप्ति, **सुलहा** - सुलभ, **भवे** - होती है ॥ २६४ ॥

मिच्छादंसणरत्ता, सणियाणा कण्हलेसमोगाढा ।

इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही ।२६५।

- **मिच्छादंसणरत्ता** - मिथ्यादर्शन में अनुरक्त, **सणियाणा** - निदान-सहित क्रियानुष्ठान करने वाले, **कण्हलेसमोगाढा** - लेश्या को प्राप्त हुए, **इय** - इस प्रकार, **जे** - जो, **जीवा** -

मरंति - मरते हैं, **तेसिं** - उनको, **पुण** - पुनः फिर परलोक में, **बोही** - बोधि (सम्यक्त्व) की प्राप्ति होना, **दुल्लहा** - अत्यन्त दुर्लभ हो जाती है ॥ २६५ ॥

जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेंति भावेण।
अमला असंकिलिट्ठा, ते होंति परित्त-संसारी ॥

- **जे** - जो जीव, **जिणवयणे** - जिनेन्द्र भगवान् के वचनों में, **अणुरत्ता** - अनुरक्त हैं जो, **जिणवयणं** - जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कथित क्रियानुष्ठानों को, **भावेण** - भावपूर्वक (श्रद्धापूर्वक), **करेंति** - करते हैं, **अमला** - जो मिथ्यात्वादि भावमल से रहित हैं और, **असंकिलिट्ठा** - रागद्वेषादि संक्लेश से रहित हैं, **ते** - वे, **परित्तसंसारी** - परित्तसंसारी, **होंति** - होते हैं ॥ २६६ ॥

विवेचन - संसार को परिमित (मर्यादित) करने वाले जीव परित्त संसारी कहलाते हैं । वे थोड़े ही भव करके मोक्ष में चले जाते हैं ।

बालमरणाणि बहुसो,
अकाममरणाणि चेव य बहूणि।
मरिहंति ते वराया,
जिणवयणं जे ण जाणंति ॥ २६७ ॥

- **जे** - जो, **जिणवयणं** - जिन वचनों को, **ण जाणंति** - नहीं जानते हैं, **ते** - वे, **वराया** - बिचारे, **बहुसो** - बहुत-अनेक बार, **बालमरणाणि** - बालमरण, **चेव**, **य** - और, **बहूणि** - बहुत बार, **अकाममरणाणि** - अकाम मरण से, **मरिहंति** - मृत्यु को प्राप्त होते रहेंगे ॥ २६७ ॥

विवेचन - गाथा में 'वराया' शब्द दिया है जिसका अर्थ है

'बिचारे' (गरीब)। जिनवचन से अनभिज्ञ जीव मिथ्यात्वी होते हैं वे 'बिचारे' हैं। अनुकम्पा दया करने के योग्य हैं। जब तक उनका मिथ्यात्व नहीं छूटता तब तक वे संसार में परिभ्रमण करते रहेंगे।

बहुआगम-विण्णाणा, समाहिउप्पायगा य गुणगाही।
एएणं कारणेणं, अरिहा आलोयणं सोउं ।२६८।

- अपने दोषों की आलोचना कैसे ज्ञानी पुरुषों के पास करनी चाहिए, उनके गुण बतलाये जाते हैं - **बहुआगमविण्णाणा**- जो बहुत से शास्त्रों के एवं उनके रहस्यों के जानकार हों, **समाहिउप्पायगा** - जो देश-कालादि की अपेक्षा मधुर वचनों से समाधि उत्पन्न करने वाले हों, **य** - और, **गुणगाही** - जो गुणग्राही हों, **एएणं** - इन, **कारणेणं** - कारणों से उपरोक्त गुणों को धारण करने वाले आचार्य आदि ही, **आलोयणं** - आलोचना, **सोउं** - सुनने के, **अरिहा** - योग्य हैं ॥ २६८॥

कंदप्पकुक्कुयाइं, तह सीलसहावहासविगहाहिं।
विम्हावेंतो य परं, कंदप्पं भावणं कुणइ ॥ २६९॥

- **कंदप्पं** - कन्दर्प-हास्य और विषय-विकार उत्पन्न करने वाली बातें कहना, **कुक्कुयाइं** - कौकुच्य (कौत्कुच्य)-भांड के समान दूसरों को हँसाने वाले वचन बोलना एवं मुख-नेत्रादि द्वारा विकार भाव प्रकट करने की चेष्टा करना, **तह** - और, **सीलसहावहासविगहाहिं** - शील-स्वभाव, हास्य विकथा आदि करना, इत्यादि चेष्टाओं से, **परं** - दूसरों को, **विम्हावेंतो य** - विस्मित करता हुआ जीव, **कंदप्प** - कन्दर्प भावना (कन्दर्प जाति के देवों में उत्पन्न होने की भावना) **कुणइ** - करता है ॥ २६९॥

विवेचन - गाथा में आये हुए 'सीलसहावहासवि'



शब्दों का यहाँ पर इस प्रकार अर्थ है – शील (फल-रहित प्रवृत्ति अर्थात् हास्य को उत्पन्न करने वाली चेष्टा करने की आदत) स्वभाव-दूसरों को विस्मय उत्पन्न करने के अभिप्राय से मुखविकारादि करना । हास्य-खिलखिला कर जोर से हँसना या अट्टहास करना। विकथा- दूसरों को विस्मय उत्पन्न करने वाले विविध प्रकार के वचन बोलना एवं ऐसी कथा कहना ।

मंता जोगं काउं, भूइकम्मं च जे पउंजंति ।
सायरसइड्ढिहेउं, अभिओगं भावणं कुणइ ।। २७० ॥

– **जे** – जो जीव, **सायरसइड्ढिहेउं** – सात रस ऋद्धि हेतु-साता, रस और समृद्धि के लिए, **मंताजोगं** – मंत्र और योग, **काउं**- कर के, **भूइकम्मं** – भूतिकर्म का, **पउंजंति** – प्रयोग करते हैं वे, **अभिओगं** – आभियोगिकी भावना, **कुणइ** – करते हैं (आभियोगी भावना का सम्पादन करने वाला पुरुष आभियोगी देवों-सेवक जाति के देवों में उत्पन्न होता है) ।। २७० ॥

णाणस्स केवलीणं, धम्मायरियस्स संघसाहूणं ।
माई अवण्णवाई, किव्विसियं भावणं कुणइ ।।

– **णाणस्स** – ज्ञान का, **केवलीणं** – केवली भगवान् का, **धम्मायरियस्स** – धर्माचार्य का, **संघसाहूणं** – साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ का, **अवण्णवाई** – अवर्णवाद करने वाला, **माई** – मायावी (माया कपट करने वाला) पुरुष, **किव्विसियं** – किल्विषी, **भावणं** – भावना, **कुणइ** – करता है । उपरोक्त किल्विषी भावना का सम्पादन करने वाला पुरुष किल्विषी जाति के देवों में उत्पन्न होता है ।। २७१ ॥

अणुबद्धरोसपसरो,
तह य णिमित्तम्मि होइ पडिसेवी ।



एएहिं कारणेहिं,

आसुरियं भावणं कुणइ ॥ २७२॥

- जो, **अणुबद्धरोसपसरो** - अनुबद्धरोष प्रसर-निरन्तर क्रोध का विस्तार करता है, **तह य** - और जो, **णिमित्तम्मि** - निमित्त में, **पडिसेवी** - प्रतिसेवी-प्रवृत्ति करने वाला, **होइ** - होता है (जो सदा क्रोधयुक्त रहता है और ज्योतिषशास्त्र द्वारा अथवा भूकम्पादि निमित्तों के द्वारा शुभाशुभ फल का कथन करता है) वह जीव, **एएहिं** - इन उपरोक्त, **कारणेहिं** - कारणों से, **आसुरियं** - आसुरी, **भावणं** - भावना, **कुणइ** - करता है । इस भावना से भावित पुरुष असुरकुमारों में उत्पन्न होता है । ये देव वैमानिक देवों की अपेक्षा बहुत कम सुख और समृद्धि वाले होते हैं तथा परमाधार्मिक देव भी इन्हीं की जाति में से होते हैं ॥ २७२ ॥

विवेचन - कन्दर्प आदि पांच भावनाओं के प्रत्येक के पांच पांच भेद होते हैं । इन सबका विस्तृत वर्णन प्रवचन सारोद्धार ग्रन्थ में से लेकर हिन्दी अनुवाद श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह प्रथम भाग में है । जिज्ञासु वहाँ देख सकते हैं ।

सत्थगहणं विसभक्खणं च,

जलणं च जलपवेसो य ।

अणायारभंडसेवी,

जम्मणमरणाणि बंधंति ॥ २७३ ॥

- **सत्थगहणं** - शस्त्रग्रहण करना (शस्त्र द्वारा आत्मघात करना), **विसभक्खणं** - विषभक्षण करना, **जलणं** - ज्वलन प्रवेश-अग्नि में प्रवेश करना, **जलपवेसो** - जल प्रवेश-जल में डूब कर मरना, **च, च, य** - और, **अणायारभंडसेवी** - अनाचार का

करने वाला (ग्रहण न करने योग्य भण्डोपकरणों का सेवन करने वाले पुरुष), **जम्मणमरणाणि** - अनेक जन्म-मरण के निमित्तभूत कर्मों को, **बंधंति** - बांधते हैं (बालमरण से मरने वाले पुरुष अनेक जन्ममरण की वृद्धि करते हैं और चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं) ।। २७३ ॥

इइ पाउकरे बुद्धे, णायए परिणिव्वुए ।
छत्तीसं उत्तरज्झाए , भवसिद्धिय संमए ।। २७४॥

।। त्तिबेमि ॥

- **इइ** - इस प्रकार, **भवसिद्धिय संमए** - भवसिद्धिक संमत-भव्य जीवों के सम्मत (मान्य है) ऐसे, **उत्तरज्झाए** - उत्तराध्ययन सूत्र के, **छत्तीसं** - छत्तीस अध्ययनों को, **पाउकरे** - प्रकट कर के, **बुद्धे** - बुद्ध-तत्त्वज्ञ केवलज्ञानी, **णायए** - ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर स्वामी, **परिणिव्वुए** - परिनिर्वृत-निर्वाण को प्राप्त हो गये। किसी किसी प्रति में, **भवसिद्धिय संमए** - के स्थान पर, **भवसिद्धिय संवुडे** - ऐसा पाठ है । जिसका अर्थ इस प्रकार है **भवसिद्धिय** - भवसिद्धिक-उसी भव में मोक्ष जाने वाले, **संवुडे** - संवृत्त-संवर वाले भगवान् महावीर स्वामी इस उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीस अध्ययनों को प्रकट करके निर्वाण को प्राप्त हो गये ।। २७४ ॥ **त्तिबेमि (इति ब्रवीमि)** - श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् जम्बू ! मैंने जैसा श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से सुना है वैसा ही मैंने तुमसे कहा है ।।

।। छत्तीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

उत्तराध्ययन सूत्र भाग तीन समाप्त

॥ श्री उत्तराध्ययन सूत्र समाप्त ॥